समर्पण

अपनी मुक्तिके लिये विकल, आज की
रक्त-स्नात मानवताको, अंजना
और पवनंजयकी यह
वार्ता सप्रणाम
निवेदित
है

"पुराणकी कथाओंका भी मुझपर कुछ ऐसा ही असर पड़ा। अगर लोग इन कहानियोंको घटनाके रूपमें सही मानते हैं तो यह बिल्कुल बेतुकी और हँसीकी बात है। लेकिन इस तरह उनमें विश्वास करना छोड़ दिया जाए तो वह एक नई ही रोशनीमें दिखाई पड़ने लगती हैं, उनमें एक नया सौन्दर्य जान पड़ता है——ऐसा जान पड़ता है कि एक ऊँची कल्पनाने अचरज भरे फूल खिलाये हैं। इनमें आदमीके शिक्षा लेनेकी बहुतसी बातें हैं।"

(यूनानके देवीदेवताओंकी कहानियोंकी अपेक्षा) "हिन्दुस्तानकी पुराण-गाथायें कहीं ज्यादा और भरीपूरी हैं, और बड़ी ही सुन्दर और अर्थ भरी हैं। मैंने कभी-कभी इस बातपर अचरज किया है कि वे आदमी और औरतें, जिन्होंने कि ऐसे सजीव सपनों और सुन्दर कल्पनाओंको रूप दिया है, कैसे रहे होंगे, और विचार और कल्पनाकी किस सोनेकी खानमेंसे उन्होंने खोदकर ऐसी चीजें निकाली होंगी।"

××× "मैंने यह अनुभव किया कि पुरानी दन्त-कथाओं और परंपराका औरोंके दिमाग़पर, ख़ास तौरपर हमारी अनपढ़ जनताके दिमाग़पर कितना ज्यादा असर पड़ा होगा। यह असर संस्कृति और नीति दोनों ही के लिहाजसे अच्छा असर रहा है। इन कहानियों या रूपकोंकी सुन्दरता और ख़्याली संकेतको बरबाद करना या फेंक देना मैं हरगिज पसन्द न करूंगा।"

(Discovery of India के **अनुवाद——"हिन्दुस्तानकी कहानी" के पृष्ठ ८४ और ११२से)**

पंडित जवाहरलाल नेहरू

दृष्टि-कोण

जैन, बौद्ध वैदिक--भारतीय संस्कृतिकी इन प्रमुख धाराओंका अवगाहन किये बिना भारतीय आर्य-परम्पराका ऐतिहासिक विकाश-क्रम हम जान ही नहीं सकते। अपनी सभ्यताकी इन्हीं तीन सरिताओंकी त्रिवेणीका संगम हमारा वास्तविक 'तीर्थराज' होगा। और, ज्ञान-पीठके साधनोंका अनवरत यही प्रयत्न रहेगा कि हमारी मुक्तिका महा-मन्दिर त्रिवेणीके उसी संगमपर बने; उसी संगमपर महामानवकी प्राण-प्रतिष्ठा हो।

लुप्तग्रन्थोंका उद्धार; अलभ्य और आवश्यक ग्रन्थोंका सुलभीकरण; प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत, कन्नड और तामिलके वाङ्मयका मूल और यथासम्भव अनुवाद रूपमें प्रकाशन; त्रिपिटक (पालि) की पुस्तकोंका नागरी लिपिमें प्रकाशन; लुप्त और नष्ट समझे जानेवाले कतिपय ग्रन्थों-का अपने मौलिक रूपमें पुनरुद्धार--ज्ञानपीठ इन प्रयत्नोंमें लगा हुआ है और बराबर लगा रहेगा।

इन कार्योंके अतिरिक्त, सर्वसाधारणके लाभके लिए ज्ञानपीठने 'लोकोदय ग्रन्थमाला' का आरम्भ किया है। इस ग्रन्थमालाके अन्तरगत हिन्दीमें सरल सुलभ सुरुचिपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित की जाएँगी। जीवनके स्तरको ऊँचाईपर ले जानेवाली कृतिके प्रत्येक रचयिताको ज्ञानपीठ प्रोत्सा-हित करेगा; वह केवल नामगत प्रसिद्धिके पीछे नहीं दौड़ेगा। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, इतिहास--पुस्तक चाहे किसी भी परिधिकी हो परन्तु हो लोकोदयकारिणी।

प्रस्तुत उपन्यास 'मुक्तिदूत' हमारी इस घोषणाको किस हद तक सही साबित करता है, यह निर्णय हम पाठकोंपर ही छोड़ते हैं। परन्तु

इतना हमें अवश्य कहना है कि श्री वीरेन्द्रकुमारका यह उपन्यास हिन्दी पाठकोंके लिए नई वस्तु है—यह हमारी दम्भोक्ति नहीं स्वभावोक्ति समझी जाय।

भारतीय ज्ञानपीठ
१०—५—४७

प्रकाशक

प्रस्तावना

अंजना और पवनंजयकी प्रेम-कथा एक प्रसिद्ध पौराणिक आख्यान है। 'मुक्तिदूत'की रचना उसी आख्यानकी भूमिकापर हुई है---आधुनिक उपन्यासके रूपमें। पर लेखकने इसका उप-शीर्षक दिया है---'एक पौराणिक रोमांस'। लगता है न कुछ विचित्र-सा? बात यह है कि अंग्रेज़ी शब्द 'रोमांस' में आख्यानका जो एक विशेष प्रकार, कथा-नायककी महत्त्वकांक्षा, नायिकाकी प्रेमाकुलता और घटनाओंके चमत्कारका सहज आभास मिलता है, वह 'आख्यान', 'कथा' या 'उपन्यास' शब्दमें नहीं। फिर भी, 'मुक्तिदूत' पश्चिमी ढंगका रोमांस नहीं है। इसमें 'रोमांस' (अथवा रोमांचकता) की अपेक्षा पौराणिकता ही प्रधान है---वह जो शाश्वत, उन्नत और चिर-नवीन है।

लेखकने कथाकी पौराणिकताकी भी एक सीमा बाँध ली है। उसके बाद उसने वातावरणकी अक्षुण्णतामें कल्पनाको मुक्त रखा है। ऐतिहासिक शोध-खोज और भूगोलकी सीमाओंका उल्लंघन यदि कथा कहीं करती है, तो किया करे। उड़ानकी रोक लेखकको इष्ट नहीं। उसके लिए तो पुराणका कल्पनामूलक इतिहास और भूगोल अपने आपमें ही पर्याप्त है। कल्पनाकी गहराइयोंमें आकर जिस चीज़को लेखकने खोजा है, वह बेशक 'तथ्य' न हो, पर वह 'सत्यकी प्रतीति' अवश्य है। और यहीं श्री वीरेन्द्रकुमारका साहित्यिक, लोक-जीवनके नव-निर्माणका देवदूत बनकर प्रकट हुआ है। आजकी विकल मानवताके लिए 'मुक्तिदूत' स्वयं मुक्तिदूत है, इस रूपमें पुस्तकका समर्पण सर्वथा सार्थक है।

उपन्यास आपके हाथमें है; आप पढ़ेंगे ही घटनाओंका विरल तार-तम्य---पवनंजयका अंजनाके सौन्दर्यके प्रति प्रबल किंतु अचिर आकर्षण,

अंजनाके सम्बन्धमें अपने निरादरको लेकर पवनंजयकी गलत धारणा, परिणय, विफल सुहाग-रात्रि, त्याग, आकुल स्मृति, मिलन, विच्छेद, युद्ध, खोज, हनुमान-जन्म, पुर्नमिलन---आदि। इस सर्वाङ्गीण प्रणय-कथाके चिर-परिचित रूपमें पाठकोंके मनोविनोदकी पर्याप्त सामग्री है। पर, 'मुक्तिदूत'की मोहक कथा, सरस रचना, अनुपम शब्द सौंदर्य और कवित्वसे परे पाने लायक कुछ और ही है--वह जो पुस्तककी इस प्रत्येक विशेषतामें व्याप्त होकर भी मालाके अन्तिम तीन मनकोंकी तरह सर्वोपरि हृदयसे, आँखोंसे और माथेसे लगाने लायक है। पुस्तकका वह सन्देश पाठकोंसे स्वयं बोलेगा---रचनाकी सफलताकी कसौटी यही है।

'मुक्तिदूत' पवनंजयके आत्म-विकास और आत्म-सिद्धिकी कथा है। पुरुषको 'अहं'की अन्ध कारासे नारीने त्याग, बलिदान और आत्म-समपर्णके प्रकाश द्वारा मुक्त किया है। कथाके प्रारम्भका पवनंजय अपनी आकांक्षाके सपनोंसे खेलनेवाला, उद्धत और अभिमानी राजकुमार है। वह निर्वाणकी खोजमें है--और निर्वाणका यह दावेदार, बनना चाहता है अखिल सृष्टिका विजेता, भूगोल-खगोलका अधिकारी और एक ही समयमें समग्र भोग, अनन्त सौंदर्य और अक्षय प्रेमका परम भोक्ता! निर्वाणकी खोजमें वह ऋषभदेवकी निर्वाणभूमि कैलाश पर्वतपर हो आया है; पर उसे वहाँ निर्वाण नहीं मिला। उदयाचलसे अस्ताचल पर्यंतकी परिक्रमा देनेपर भी उसे मुक्ति नहीं मिली। मुक्तिका आकर्षण तीव्रतर अवश्य है---"देखो, प्रहस्त, दिशाओंमें मुक्ति स्वयं बाहें पसारकर बुला रही है!"

पर देखिये, इस अहंकारी विजेताकी वीरता कि यह स्त्रीके सौंदर्यसे डरकर भागा हुआ है! सागरके बीच, महलोंकी अटारीपरसे आये हुए आकुल बाहोंके निमन्त्रणको, रूपके आह्वानको अनसुना-अनदेखा करके भाग निकला है उल्टे पाँव, अपनी नावमें यह प्रतापी राजकुमार! गाँठ यहीं आकर पड़ गई; यहीं 'अहं' उलझ गया। इसी गाँठको कस दिया

मिश्रकेशीके व्यंग्यने, अंजनाकी 'उपेक्षा' ने। चोट खाये हुए, बौखलाये हुए सिंहकी तरह घूम रहा है पवनंजय वनोंमें, पर्वतोंपर, समुद्रकी तरंगोंपर। अंजनासे बदला ले चुका है——उसकी सुहागरात्रिकी आकुल प्रतीक्षाको व्यर्थ करके, उसके त्यागकी तुमुल घोषणा महलोंमें गुँजवाकर! नारी वेदनायें सहन कर-करके जितना ही ऊँचे उठ रही है, पुरुष-पवनंजय अपने ही अहंकारके बोझसे उतना ही नीचे धँसता जा रहा है। पर, अब वह दार्शनिक हो गया है। अपने-परायेके भेद, मोह-मिथ्यात्वकी परिभाषा, आत्माकी निज-परिणति, एकाकी मुक्त विहार——कितनी ही तर्कणाओं द्वारा वह अपने आदरणीय चिर-सखा प्रहस्तको चुप कर देना चाहता है। प्रहस्त अपने ही दिये हुए सजीव और सकवित्व दर्शनकी ये निर्जीव व्यख्यायें सुनता है, तो निर्बलके इस छद्मदर्शनपर मन ही मन हँसता है, दुखी होता है। प्रहस्त कह चुका है——

> "तुम स्त्रीसे भागकर जा रहे हो। तुम अपने ही आपसे पराभूत होकर आत्म-प्रतारण कर रहे हो। पागलके प्रलापसे अधिक तुम्हारे इस दर्शनका कुछ मूल्य नहीं। यह दुर्बलकी आत्मवंचना है, विजेताका मुक्तिमार्ग नहीं। स्त्रीके सम्मोहन-पाशमें ही मुक्तिकी ठीक ठीक प्रतीति हो सकती है। मुक्तिकी माँग वहीं तीव्रतम है × × × मुक्ति स्वयं स्त्री है, नारीको छोड़कर और कहीं शरण नहीं है, पवन! मुक्ति चरम-प्राप्ति है, वह त्याग-विराग नहीं है पवन!"

पवनके त्रस्त अभिमानने मन ही मन सोचा——'स्त्रीका सौंदर्य, उसकी महत्ता मेरे 'अहं'से भी बड़ी? और उसने निश्चय किया——

> "अच्छा अंजन, आओ, पवनंजयके अँगूठेके नीचे....
> और फिर मुस्कराओ अपने रूपकी चाँदनीपर!"

अंजनाके त्यागका संकल्प करके, उसने कहा था——

"यदि तुम्हारी यही इच्छा है, प्रहस्त, तो चलो, मान-सरोवरके तटपर अपनी विजय-यात्राका पहला शिला-चिह्न गाड़ चलूँ।"

उसी मानसरोवरके तटपर गाड़ आया था पवनंजय अपने सहज, प्रकृत व्यक्तित्वका समाधि पाषाण ! "देखो प्रहस्त ! एक बात तुम और जान लो, जिस अपने सखा पवनंजयको तुम चिर-दिनसे जानते थे, उसकी मौत मान-सरोवरके तटपर तुम अपनी आँखोंके आगे देख चुके हो।"

सुन्दर व्यक्तित्वके प्राणोंको खोकर, पवनंजयका कंकाल घूमता फिरा दिशाओं-दिशाओंमें तीव्र कषायके उद्वेग और दैहिक-स्फूर्तिकी दुर्द्धर्ष प्रचंडताके साथ ! तभी आया युद्धका निमंत्रण। यही तो इलाज है इस प्राणहीन प्रचंडताका, भौतिक आकांक्षाका, 'अहं'के संघर्षका, कि ये सब उसकी सानपर चढ़कर तेज हो सकें और आपसकी टक्करोंसे अपने ही स्फुलिंगोंमें बुझ सकें !

युद्धमें बुझनेके लिए पवनंजय जा रहा है, कि नारीका वरद हस्त, मंगलके दीप-संजोये, सामने आता है कुशल-कामना लेकर। पुरुषका अहंकार अपनी ही कटुतामें कुंठित हो गया—पर, ज्वाला भभकी—

"ओह, 'अशुभमुखी' !..खड्ग-यष्टिसे खिंचकर तलवार उनके हाथोंमें लपलपा आई। तीव्र किंतु स्फुट स्वर निकला—दुरीक्षणे..छि:' !"

उसपर अंजनाने क्या कहा ? मन ही मन उसने कहा—

'आज आया है प्रथम बार वह क्षण, जब तुमने मेरी ओर देखा.... .तुम मुझसे बोल गए। हतभागिनी कृतार्थ हो गई, जाओ अब चिंता नहीं; अमरत्वका लाभ करो।

उत्कट अपमान....अनुपम आत्मसमर्पण ! दानव अट्टहास कर उठें, देव फूल बरसा दें, मानव पानी-पानी होकर वह जायें !!

मानवके विषका चढ़ाव चरम सीमापर पहुँच गया है। तो क्या अब मौत ? नहीं, ऊपर देखा तो है, कि अमृतका अक्षय भंडार जीवनमें प्राप्य है। पुरुष सादर, सपरिताप उन्मुख भर हो।

कंकाल-पुरुष प्राणोंके लिए आकुल हुआ। वनमें देखा कि एकाकिनी चकवी अपने प्रियके लिए व्याकुल है। पवनंजयका वाल्मीकि अपने ही घुमड़ते हुए श्लोकोंके शत-शत अनुष्टुपोंमें भर आया।

बाईस वर्ष तक "विच्छेदकी सहस्त्रों रातोंमें वेदनाकी अखंड दीप-शिखा-सी तुम जलती रहीं ?" बिलखकर पहुंचा अपनी प्रेयसीकी गोदमें——जैसे भटका हुआ शिशु मांकी गोदमें पहुंचे।

यहीं तो है उसकी मुक्ति, उसका त्राण ! नारीकी आकुल बाहोंकी छायामें जाकर पुरुष आश्वस्त हुआ। और यहीं 'प्राणकी अतलस्पर्शी आदिम गंध उसकी आत्माको छू छू' गई।——

> "कामना दी है तो सिद्धि भी दो। अपने बांधे बंधन तुम्हीं खोलो, रानी ! मेरे निर्वाणका पथ प्रकाशित करो !"
>
> "मुक्तिकी राह मैं क्या जानूं ? मैं तो नारी हूं; और सदा बंधन ही देती आई हूं। मुक्तिमार्गके दावेदार और विधाता हैं पुरुष ! वे आप अपनी जानें !"

पर, देनेमें नारीने कमी नहीं रखी; सम्पूर्ण उत्सर्गके साथ नारीने अपने आपको पुरुषके हाथों सौंप दिया——उसे सम्हाल लिया !

× × ×

इस प्रकार पुरुष उसी एक दिनकी परित्यक्ता नारीकी शरणमें मुक्ति खोजता है। फिर वही नारी उसे महान विजययात्रापर भेजती है——जिस युद्धसे वह मृत्युंजयी जेता बनकर लौटता है। नारीके प्राणोंका स्पन्दन पाकर ही पवनंजय अपना पुरुषार्थ प्राप्त करता है। जो सदा अपने 'अहं'से परिचालित, किन्तु दूसरोंके सहारे रहा वह अब स्वयं ही

अहिंसक युद्धकी कल्पना करता है और उसकी शैली (Technique) निकालता है। यहां पवनंजय अपने चरम उत्कर्ष पर पहुंचा है—पर उसके पीछे है वही तपस्विनी सती अंजना। सतीका यह प्रेम अन्ततक पुरुषके अहंकारको तोड़ता ही जाता है और अन्तमें उस पुरुषके आदर्शको स्वयं बालक-रूपमें जन्म देकर, वह उस पुरुषको चरममार्ग-दर्शन देती है।

अंजनाका जीवन सशक्त आदर्शका जीवन है। नारीके चरित्रकी इतनी ऊंची और ऐसी अदभुत कल्पना शायद ही कहीं हो। अंजना शरत् बाबूके ऊंचे-से-ऊंचे स्त्रीपात्रसे ऊपर उठ गई है। अवतकके मानव इतिहासमें नारीपर मुक्तिमार्गकी बाधा होने का जो कलंक चला आया है, इस उपन्यासमें लेखकने उस कलंकका मोचन किया है। अंजनाका आत्म-समर्पण पुरुषके 'अहं'को गलाकर—उसके आत्मउद्धारका मार्ग प्रशस्त करना है। अंजनाका प्रेम निष्क्रिय आत्म-क्षय नहीं है, वह है एक अनवरत साधना; कहें कि 'अनासक्त योग'। इस प्रेममें पुरुष गौण है। और यदि वह विशिष्ट पुरुष है तो इसमें अटकाव नहीं; उसीके माध्यमसे मुक्ति-का द्वार खोज लेनेका आग्रह है इस प्रेममें। अंजनाका अटल आत्म-विश्वास देखिए—

> "यदि कापुरुषको परमपुरुष बना सकनेका आत्मविश्वास हमारा टूटा नहीं है, तो किस पुरुषका अत्याचार है जो हमें तोड़ सकता है? पुरुष सदा नारीके निकट बालक है। भटका हुआ बालक एक दिन अवश्य लौट आएगा।"

युग-युगका सच्चा संदेश आजकी सहस्रों नारियोंके लिए कितना सत्य और महत्त्वपूर्ण है!

अविकल आत्म-समर्पणके साथ, अंजनामें मिथ्या मूल्योंके प्रति एक सशक्त और प्रबुद्ध विद्रोह है। प्रत्येक परिस्थितिमें अपना मार्ग वह स्वयं बनाती है।

३. कपोल-पालीमें फैली हुई स्मित-रेखा, उन आंखोंके गहन कजरारे तटोंमें जाने कितने रहस्योंसे भरकर लीन हो गई।
४. अंजनाकी समस्त देह पिघलकर मानो उत्सर्गके पद्म पर एक अदृश्य जल-कणिका मात्र बनी रह जाना चाहती है।
५. भालेके फलक-सा एक तीक्ष्ण प्रश्न कुमारकी छातीमें चमक उठा।

'मुक्ति-दूत'के कथानकका विस्तार, मानो अनन्त आकाशमें है, इससे पात्रोंको अधिकसे अधिक फैलनेका अवसर मिला है। मानुषोत्तर पर्वत, लवण समुद्र, अनन्त द्वीप-समूह, विजयार्धकी गिरिमाला आदिके कल्पक सौंदर्यसे कथामें बड़ी भव्यता आ गई है। पुस्तककी भाषा इसी भूमिका और वातावरणके अनुरूप सहज संस्कृत प्रधान है। पर, लिखते समय मन, प्राण और इन्द्रियोंकी एकाग्रतासे भाव-गुम्फनके लिए रूप, रस, वर्ण, गन्ध, और ध्वनिके व्यंजक जो शब्द अनायास लेखनीपर आ जाते हैं—उनके विषयमें हिन्दी-संस्कृतका भेद किया नहीं जा सकता। प्रत्येक शब्दकी एक विशेष अनुभूति, चित्र, वर्ण और व्यंजना लेखकके मनमें व्याप्त है। विशेष भावके तदनुकूल चित्रणके लिए शब्द-विशेष सहज ही आ जाता है—और कभी-कभी कोष (Vocabulary) का भाषा-अभेद अनिवार्य हो जाता है। 'मुक्ति-दूत' में भी ऐसा ही हुआ है। प्रवाहमें आये हुए अनेक उर्दू शब्दोंको जानबूझकर निकाला नहीं गया है, यथा 'परेशान', 'नज़र', 'जलूस', 'दीवानखाना'', 'कशमकश', 'परवरिश', 'सरंजाम', 'दफ़ना', आदि। प्रत्येक शब्द अपने स्थानपर लक्षणा या व्यंजना की सार्थकतामें स्वयं-सिद्ध है। अंग्रेजीका 'रेलिंग', शब्द लेखकने जान-बूझकर अपनी व्यक्तिगत रुचिकी रक्षाके लिए लिया है क्योंकि लेखक 'इस शब्दमें लक्षित पदार्थका एक अद्भुत चित्रण-सौंदर्य' पाता है। 'अपने बावजूद' और 'जो भी' ('यद्यपि'के लिए) का लेखकने बार-बार प्रयोग किया है। ये उनकी विशिष्ट शैलीके अंग हैं।

'मुक्तिदूत' अविभाज्य मानवताको जिस धर्म, प्रेम और मुक्तिका संदेश देता है, वह हृदयकी अनुभूतियोंका प्रतिफल है और इसीलिए उसका प्रतिपादन बहुत ही सीधे और सरल ढंगसे हुआ है। लेखकने बहुत गहरे डूबकर इन आबदार मोतियोंका पता लगाया है। दरिया आपके सामने है, अब आप जानें!

"गौहरसे नहीं दरिया ख़ाली, फूलोंसे नहीं गुल्शन ख़ाली,
अफ़सोस है तुझपर दस्ते-तलब, जो अब भी रहे दामन ख़ाली।"

डालमियानगर
१२ मई १९४७

लक्ष्मीचन्द्र जैन
सम्पादक

मुक्तिदूत

[१]

वनोंमें वासंती खिली है। चारों ओर कुसुमोत्सव है। पुष्पोंके झरते परागसे दिशाएँ पीली हो चली हैं। दक्षिण पवन देश-देशके फूलोंका गंध उड़ा लाता है; जाने कितनी मर्म-कथाओंसे मन भर आता है। आम्र-घटाओंमें कोयलने प्राण-प्राणकी अंतर्पीड़ाको जगा दिया। चारों ओर स्निग्ध, नवीन हरीतिमाका प्रसार है। दिशाओंकी अपार नीलिमा आमंत्रणसे भर उठी है।

नवयुवा कुमार पवनंजयका जी इन दिनों घरमें नहीं है। जब-तब महलकी छतपर आ खड़े होते हैं, और सचमुच इस दक्षिण पवनपर चढ़कर उस नीली क्षितिज-रेखको लाँघ जाना चाहते हैं।

तभी फाल्गुनका आष्टाह्निक पर्व आ गया। देव और गंधर्व अपने विमानों पर चढ़कर, अकृत्रिम चैत्यालयोंकी वन्दना करने नन्दीश्वर-द्वीप-की ओर उड़ रहे हैं। भरतक्षेत्रके राजा और विद्याधर, भगवान ऋषभ-देवकी निर्वाण-भूमि कैलास-पर्वतपर, भरत चक्रवर्तीके बनवाये स्वर्ण-मंदिरोंकी वंदनाको जा रहे हैं।

कुमार पवनंजयने अपने पिता, आदित्यपुरके महाराज प्रह्लादसे कैलाश जानेकी आज्ञा चाही। पिता प्रसन्न हुए और सपरिवार स्वयं भी चलनेका प्रस्ताव किया। कुमारके स्वच्छंद भ्रमणके सपनेको ठेस लगी, पर क्या कहकर इनकार करते ? सिर झुकाकर चुप हो रहे। रानी केतुमती, कुमार और समस्त राजपरिवार सहित महाराज कैलाशकी वंदनाको गये। पूजा वंदन और धर्मोत्सवमें आष्टाह्निक पर्व सानंद बीता। लौटते हुए, राजपरिवारने मानसरोवरके तटपर कुछ दिन वसंत-विहार करनेका निश्चय किया।

एक दिन सवेरे उठकर क्या देखते हैं कि बहुत दूर मानसरोवरके कछारमें एक फेनों-सा उजला महल खड़ा है। अनुमानसे जाना कि विद्या-निर्मित महल है; जान पड़ता है कोई विद्या-धर राजा वहाँ आकर ठहरे हैं।

कैलाशकी परिक्रमा करके लौटे हैं, पर कुमार पवनंजयका मन विराम नहीं पा रहा है। यह लौटना और यह विश्राम क्यों है ? प्राणकी जिज्ञासा और उत्कंठाका अंत नहीं है। अंतहीन यात्रापर चल पड़नेको उसका युवा मन आतुर है। कैलाशकी उत्तुंग चोटियोंपर स्वर्ण-मंदिरोंके वे शिखर दिखाई पड़ रहे हैं। अस्तंगत सूर्यकी किरणोंमें वह प्रभा मानों बुझ रही है। ऋषभदेवकी निर्वाण-भूमिको पाकर कुमारको संतोष नहीं है। वह निर्वाण कहाँ है ? कितनी दूर ? वह शिखरोंकी प्रभा जो अभी तिरोहित हो जानेको है; उसके ऊपर होकर फिर यात्रा कैसे होगी ?

कि अचानक कुमारकी दृष्टि दूरके उस फेनोज्ज्वल महल पर पड़ी। उसके वातायनकी मेहरावमें होकर वह अपार नील जल-राशि लहराती दिखाई पड़ी। कुमार हर्षाकुल होकर चल पड़े। इधर लहरोंपर खेलना ही पवनंजयका प्रिय उद्योग हो गया है। बिना किसीसे कहे, संगी-सेवक-विहीन अकेले ही तटपर जा पहुँचे। नावपर आरूढ़ होकर तटकी सांकल खोल दी—और खूब तेजीसे डांड चलाने लगे। तटसे बहुत दूर, झीलके बीचोंबीच, ठीक उस महलके सामने ले जाकर नावको लहरोंके अधीन छोड़ दिया। हवाके झकोरे प्रबलसे प्रबलतर हो रहे हैं। उछालें खाती हुई तरंगें नावपर आ-आकर पड़ रही हैं। कुमारका उत्तरीय हवाके झोंकोंमें यकसा उड़ रहा है। डांड फेंककर आप, पैरपर पैर डाले, हाथ बांधकर बैठे हैं। लहरोंके गर्जन और आलोड़नपर मानों आरोहण किया चाहते हैं। विविध भंगिमामें आती हुई तरंगोंको भुजाओंमें समेट लेना चाहते हैं, पर जैसे उनपर उनका वश नहीं है। और इसलिए वे बालककी जिद—से तुल पड़े हैं कि हार नहीं मानेंगे। नावका भान उन्हें नहीं है। वे तो बस

लहरोंके लीला-क्रोड़में खो गये हैं। उड़ते हुए तरंग-सीकरोंसे सांझकी आखिरी गुलाबी प्रभा झर रही है।

अब तो कुमारका उत्तरीय भी नहीं दिखाई पड़ता, नाव भी नहीं दिखाई पड़ती; केवल वे आकाशकी ओर उठी हुई भुजाएँ हैं, जिनमें अनंत लहरें खेल रही हैं।

और एकाएक एक अति करुण कोमल 'आह' ने स्तब्ध दिशाओंको गुँजा दिया। कुमारकी दृष्टि ऊपर उठी। उस महलकी सर्वोच्च अटारीपर एक नीलांबर उड़ता दिखाई दिया—और वेगसे हिलते हुए दो आकुल हाथ अपनी ओर बुला रहे थे। संध्याकी उस शेष गुलाबी आभामें कोई मुखड़ा और उसपर उड़ती हुई लटें..

नावपरसे छलांग मारकर कुमार पानीमें कूद पड़े। लहरोंकी गतिके विरुद्ध जूझते हुए पवनंजयने डेरेकी राह पकड़ी और लौटकर नहीं देखा !

पहर रात जानेतक भी कुमार आज सो नहीं सके हैं। इधर प्रायः ऐसा ही होता है। तब वे भ्रमणको निकल पड़ते हैं। आज भी ऐसे ही शय्या त्यागकर चल पड़े। महाराजके डेरेके पाससे गुजर रहे थे कि कुछ बातचीतका रव सुनाई पड़ा। पास जाकर सुना, शायद पिता ही कह रहे थे—

"...उन सामनेके महलोंमें विद्याधरराज महेंद्र ठहरे हैं। दंतिपर्वतकी तलहटीमें स्थित महेंद्रपुर नगरके वे स्वामी हैं। रानी हृदयवेगा, अरिंदम आदि सौ कुमार और कुमारी अंजना साथ हैं। अंजना अब पूर्ण यौवना हो चली है। महाराज महेंद्र उसके विवाहके लिए चिंतित हैं। जबसे उन्हें पता लगा है कि कुमार पवनंजय अभी क्वाँरे हैं तभीसे वे बहुत अनुरोध आग्रह कर रहे हैं। वे तो अपनी ओरसे निश्चय ही कर चुके हैं। कहते हैं कि विवाह मानसरोवरके तटपर ही होगा और तभी यहाँसे दोनों राजकुल चल सकेंगे।"...

और बीच-बीचमें मां हर्षित होकर स्वीकृति दे रही हैं।

लक्ष्यहीन कुमार भीलके तटपर आतुर पैरोंसे भटक रहे हैं। लहरोंके गंभीर संगीतमें अंतरकी वह आकुल पुकार अशेष हो उठी है—और चारों ओर संध्याकी उस 'आह' को खोज रही है।

[२]

"देखो न प्रहस्त, कैलाशके ये वैडूर्यमणिप्रभ धवलकूट, ये स्वर्णमंदिरोंकी ध्वजाएँ, मानसरोवरकी यह रत्नाकर-सी अपार जल-राशि, हंस-हंसिनियों के ये मुक्त विहार और वे दूर-दूरतक चली गईं श्वेतांजन पर्वत-श्रेणियाँ, क्या इन सबसे भी अधिक सुंदर है वह विद्याधरी अंजना ?"

कुमारके हृदयका कोई भी रहस्य, प्रहस्तसे छुपा नहीं था। बालपनसे ही वह उनका अभिन्न सहचर था। मार्मिक मुस्कराहट के साथ प्रहस्तने उत्तर दिया—

"और कौन जाने, कुमार पवनंजय उसी रूपके झरोखेपर चढ़कर ही न इस अपार सौंदर्यके साथ एकतान हो रहे हों ?"

"विनोद मान रहे हो प्रहस्त ! उस रूपको देखा ही कब है, जो तुम मुझे उसका बंदी बनाया चाहते हो। हां, उस संध्यामें वह 'आह' जो दिगंतमें गूंज उठी थी—उसका पता जरूर पाना चाहता हूँ ! पर डर यही है कि अंजनाको पाकर कहीं उसे न खो दूं..।'

"उस रूपको पा जाओगे पवन, तो ये सारी भ्रांतियां मिट जायेंगी !"

"भूलते हो प्रहस्त, पवनंजय रुकना नहीं जानता ! सौंदर्यका प्रवाह देश और कालकी सीमाओंके ऊपर होकर है। और रूप ? वह तो अपने-आपमें ही सीमा है—वह बंधन है, प्रहस्त। कैलाशकी इन उत्तुंग चूड़ाओंपर जाकर भी मेरा मन विराम नहीं पा सका है। और तुम अंजनाके रूपकी बात कह रहे हो...?"

"पर उस महलपरका वह उड़ता हुआ नीलांबर, वह मृदु मुख, और वह दिगंत भेदिनी 'आह', वह सब क्या था पवनंजय ?"

"नहीं, वह रूप नहीं था—वह सीमा नहीं थी, प्रहस्त, वह अनंत सौंदर्य प्रवाहका आकर्षण था कि मैं विरुद्ध-गामिनी लहरोंसे जूझता हुआ लौट आया। वही परिचयहीन चिरआकर्षण, कहां है उसकी सीमा-रेखा ?"

"मनके इस मान-संभ्रमको त्याग दो पवन, और आओ मेरे साथ, उस सीमाका परिचय पाओ, जिसपर खड़े होकर, असीमको पानेकी तुम्हारी उत्कंठाएँ तीव्र हो उठी हैं।"

× × ×

सांझ घनी हो गई है। मानसरोवरके सुदूर जल-क्षितिजपर, चाँदके सुनहले बिंबका उदय हो रहा है। उस विशाल जल-विस्तारपर हंस-युगलोंका विरल क्रीड़ा-रव रह-रहकर सुनाई पड़ता है। देवदारु-वन और फूल-घाटियोंकी सुगंध लेकर वासंती वायु हौले-हौले बह रही है। चिर दिनका सखा प्रहस्त कुमारके सदाके सरल मनमें अनायास आ गई इस उलझनको समझ रहा था। तीन दिनसे कुमारकी विकलताको वह देख रहा है। भीतरसे पवन जितना ही अधिक तरल, कोमल और चंचल हो पड़ा है, बाहरसे वह उतना ही अधिक कठोर, स्थिर और विमुख दिखाई पड़ रहा है। प्रहस्तने इस उलझनको सुलझानेकी युक्ति पहले ही खोज निकाली थी। केवल एक बार अवसर पाकर, वह कुमारके मनकी टोह भर पा लेना चाहता था। आज सांझ वह प्रसंग आ उपस्थित हुआ। प्रहस्तने सोच लिया कि इस सुयोगका लाभ उठा लेना है। सारा आयोजन वह पहले ही कर चुका था।

बिना किसी वितर्कके मौन-मौन ही कुमार प्रहस्तके अनुगामी हुए। थोड़ी ही देरमें यानपर चढ़कर, आकाश-मार्गसे प्रहस्त और पवनंजय

विद्याधर-राजके महलकी अटारीपर जा उतरे। एक झरोखेमें जहाँ माणिक-मुक्ताओंकी झालरें लटकी थीं, उसीकी ओटमें दोनों मित्र जा बैठे।

सामने जो दृष्टि पड़ी तो पवनंजय पता पूछनेकी बात भूल गये। अंतर्मुहूर्त मात्रमें मानों दूसरे ही लोकमें आ गये हैं। सौंदर्यके किस अज्ञात सरोवरमें खिला है यह रूपका कमल! गंध, राग, सुषमाकी लहरोंसे वातावरण चंचल है। चारों ओर जैसे सौंदर्यके भंवर पड़ रहे हैं, दृष्टि ठहर नहीं पाती। सारी जिज्ञासाएं, सारे प्रश्न, सारी उत्कंठाएं मानों यहां आकर निःशेष हो गई हैं। सम्मोहनके उस लोकमें सारी रागिणियां, बस उसी एक संगीतमें मूर्छित हो गई हैं। कुमार खो गया है कि पा गया है---कौन जाने? पर जो था सो अब वह नहीं है।

सखियोंसे घिरी अंजना जानु मोड़कर, एक हाथके बल बैठी है। अनेक पार्वत्य फूलोंकी वर्ण-वर्ण विचित्र मालाएं आस-पास बिखरी हैं। उनसे क्रीड़ा करती हुई वे सब सखियां परस्पर लीला-विनोद कर रही हैं। अंजनाकी उस कुंदोज्ज्वल देहपर, बड़े ही मृदु, हलके रत्नोंके विरल आभरण हैं, और गलेमें नीप कुसुमोंकी माला। सूक्ष्म दुकूल उस देहयष्टिकी तरल सुषमामें लीन हो गया है। सारे वस्त्राभरणों-में भी सौंदर्यका वह पद्म, अनावृत है---अपनी ही शोभामें क्षण-क्षण नव-नवीन।

चंचल हास-परिहासके बाद अभी कुछ ऐसा प्रकरण आ गया है कि अंजना कुछ गंभीर हो गई है।

वसंतमालाने बड़े दुलारसे अंजनाका एक हाथ खींचते हुए कहा---"ओ हो अंजन, नाम आते ही गायब हो रही है। पा जायेगी तब तो शायद दुर्लभ हो जायेगी। पर कितना सुंदर नाम है---पवनंजय---कुमार पवनंजय! उस दिन मानसरोवरकी उन उत्ताल तरंगोंपर संतरण करता वह कुमार सचमुच पवनंजय था। निर्भय हँसता हुआ जैसे वह मौतसे खेल रहा

था। उन सुदृढ़, सुडौल भुजाओंके लिए वह लीलामात्र थी। और वे हवामें उड़ती हुई आलुलायित अलकें! बड़े भाग्य हैं तेरे अंजन—जो पवनंजय-सा कुमार पा गई है तू।"

अंजना चित्र-लिखी-सी, बिल्कुल अवश, मुग्ध बैठी रह गई। वसंत-मालाकी बात सुन वह भीतर ही भीतर नम्र-विनम्र हुई जा रही है। आंखके पलक निस्पंद हैं। पुलकोंमें मानों शरीर सजल होकर वह चला है। एक हाथ उसका शिथिल, वसंतमालाके हाथमें है। वसंतमाला उसकी सबसे प्रियतमा सखी है—कहें कि उसकी आत्माकी सहचरी है। बात करते-करते सुखके आवेगसे वसंत भी जैसे भर आई, सो विनोद करना भूल गई।

तभी एक दूसरी सखी मिश्रकेशी ईर्ष्यासे मन ही मन जल उठी और ओंठ काटकर चोटी हिलाती हुई बोली—

"हेमपुरके युवराज विद्युत्प्रभके सामने पवनंजय क्या चीज है। भरतक्षेत्रके क्षत्रिय-कुमारोंमें विद्युत्प्रभ अद्वितीय हैं। रूप, तेज-पराक्रम, श्री-शौर्यमें दूसरा कौन उनके समकक्ष ठहर सकता है? और फिर हेमपुरके महाराज कनकद्युतिका विशाल वैभव, परिकर! आदित्यपुरका राजवैभव उसके सम्मुख तिनके बराबर भी नहीं है। यह जानकर, कि विद्युत्प्रभके सन्यस्त होनेका नियोग है, अंजनाका विवाह महाराजने उनके साथ न किया, यह अविचार है। क्षुद्र पवनंजयका आजीवन संग भी व्यर्थ है; और विद्युत्प्रभ जैसे पुरुष-पुंगवका क्षणभरका संग संपूर्ण जीवनकी सार्थकता है....।"

अंजना अब भी इतनी विभोर थी कि जैसे इन कटु-कठोर वचनोंको उसने सुना ही नहीं। उसकी संपूर्ण इंद्रियां प्राणकी उसी एक ऊर्जस्वल धारामें लीन हो गई थीं। विरक्तिकी ग्लानिके बजाय अब भी उसके दीप्त मुख-मंडलपर वही अमंद आनंदकी मुस्कराहट थी। समर्पणकी दीप-शिखा-सी वह अपने आपमें ही प्रज्ज्वलित और तल्लीन थी—बाहर

के थपेड़ोंसे अप्रभावित । उसका अंग-अंग सौरभभार-नम्र पुण्डरीक-सा झुक आया था ।

मिश्रकेशीके उस कटु भाषणसे सभी सखियां इतनी विरक्त और क्षुब्ध हो गई थीं कि किसीने भी उस विषको बिखेरना उचित नहीं समझा । तभी एकाएक अंजनाको जैसे चेत आया । अनायास वह चंचल हो पड़ी और वसंतमालाके गलेमें दोनों हाथ डालकर उसकी गोदमें झूलती हुई बोली—"वसंत—मेरी पगली वसंत !"

और फिर वह उठ बैठी और सब सखियोंकी ओर उन्मुख होकर बोली—

"लो चांद निकल आया—ठहरो मैं बीन लाती हूं । आज वसंत गायेगी और तुम सब जनियां नाचनेके लिये पायल बांधो ।"

हँसती-बलखाती अंजना, चंचल बालिका-सी झपटती हुई अपने कक्षमें बीन लेने चली गई । उधर सखियोंकी हँसियोंसे वातावरण तरल हो उठा । छूम-छनन् घुँघरू बज उठे ।

पर मणि-मुक्ताकी झालरोंकी ओटके उस झरोखेमें ? . . . पुरुषके अहं-दुर्गकी बुनियादें हिल उठीं ! और फिर पवनंजय तो विजेताका गर्व और चुनौती लेकर आये थे । उनकी भुजाओंमें दिग्विजयका आलोड़न था । देश और कालके प्रवाहके ऊपर होकर जो मार्ग गया है—उसके वे दावेदार थे । इसीसे तो ऋषभदेवकी निर्वाण-भूमिपर आकर भी उनका मन चैन नहीं पा सका है । वे तो उस निर्वाणका पता पाना चाहते हैं । पुरुषके गर्वके उस शिखरपरसे, मानवी नारीके मौन समर्पणकी कथा वे कैसे समझ पाते ?

और ऐसा विजेता जब नारीके प्रणय-द्वारपर आकर अनजाने ही अपने 'मैं'को हार बैठा, तब उसकी ऐसी अवज्ञा ? मिश्रकेशीने कुमार पवनंजयके लिये निदारुण अपमानके वचन कहे और अंजना वैसी ही चुप मुस्कराती हुई सुनती रही ? उसने उसका कोई प्रतिकार नहीं किया ?

और तब एकाएक उसे सूझा नृत्य-गान और वीणा-वादन ! विद्युत्प्रभके प्रतापकी बात सुनकर वह सुखसे ऐसी चंचल हो उठी ? और पवनंजय उसके संमुख इतना तुच्छ ठहर गया कि उसकी निंदा-स्तुतिसे जैसे अंजनाको कोई सरोकार ही न हो ? गर्वके सारे स्तरोंको भेदकर वह आघात मर्मके अंतिम 'मैं'पर जा लगा । वह 'मैं' भीतर ही भीतर नग्न होकर ज्वाला-सा दहक उठा ।

कुमारने प्रहस्तको चलनेका इंगित किया, और उत्तरके लिये ठहरे बिना ही विमानमें जा बैठे । क्रोधसे उनका रोम-रोम जल रहा था, पर उस सारी आगको वे एक घूंट उतारकर पी गये । फूट पड़नेको आतुर ओंठोंको उन्होंने काटकर दबा दिया । आजतक उन्होंने प्रहस्तसे कोई बात नहीं छिपाई थी---पर आज ? आज तो उसका विजेता भू-लुंठित हो गया था । यह उसके पुरुषकी चरम पराजयकी मर्म-कथा थी !

प्रहस्तसे रहा न गया । उसने वह क्षुब्ध मौन तोड़ा---"देख आये पवन, यह है तुम्हारे उस परिचयहीन चिर आकर्षणकी सीमा-रेखा ! आदित्यपुरकी भावी राजलक्ष्मीको पहचान लिया तुमने ?"

पवनंजय अलक्ष्य शून्यमें दृष्टि गड़ाये हैं । सुनकर भवें कुंचित हो आईं । छिनभर ठहरकर बोले---

"प्रहस्त, संसारकी कोई भी रूप-राशि कुमार पवनंजयको नहीं बांध सकती । सौंदर्यकी उस अक्षय धाराको मांसकी इन क्षायक रेखाओंमें नहीं बांधा जा सकता । और वह दिन दूर नहीं है प्रहस्त, जब नाग-कन्याओं और गंधर्व-कन्याओंका लावण्य पवनंजयकी चरण-धूलि बननेको तरस जायगा !"

"ठीक कह रहे हो पवन, अंजना इसे अपना सौभाग्य मानेगी !, क्योंकि वह तो चरण-धूलि बननेके पहले आदित्यपुरके भावी महाराजके भालका तिलक बननेका नियोग लेकर आई है ।"

"नियोगोंकी शृंखलाएं तोड़कर चलना पवनंजयका स्वभाव है प्रहस्त;

और परंपराओंसे वह बाधित नहीं। अपने भावीका विधाता वह स्वयं है। आदित्यपुरका राजसिंहासन उसके भाग्यका निर्णायक नहीं हो सकता !"

प्रहस्त गौरसे चुपचाप पवनंजयकी मुद्राको देख रहा था। सदाका वह हृदयवान और बालक-सा सरल पवनंजय यह नहीं है।

विमानसे उतरकर बिदा होते हुए आदेशके स्वरमें पवनंजय ने कहा—

"अपनी सेनाके साथ कल सवेरे सूर्योदयके पहले मैं यहाँसे प्रयाण करूंगा, प्रहस्त ! महाराजके डेरेमें सूचना भेज दो और सेनापतियोंको उचित आज्ञाएं। मानसरोवरके तटपर मैं कलका सूर्योदय नहीं देखूंगा !"

कहकर तुरंत पवनंजय एक झटकेके साथ वहांसे चल दिये। प्रहस्तको लगा, जैसे निरभ्र आकाशका हृदय विदीर्णकर एकाएक बिजली कड़क उठी हो। वह सन्नाटेमें आ गया। दिग्मूढ़-सा खड़ा वह शून्य ताकता रह गया।

[३]

शेष रातके शीर्ण पंखोंपर दिन उतर रहा है। आकाशमें तारे कुम्हला गये। दूरपर दो तमसाकार पर्वतोंके बीचके गवाक्षसे गुलाबी आभा फूट रही है। मानसरोवरकी चंचल लहरावलियोंमें कोई अदृष्ट बालिका अपने सपनोंकी जाली बुन रही है। और एक अकेली हंसिनी उस फूटते हुए प्रत्यूषमेंसे पार हो रही है। अंजना अभी-अभी शय्या त्यागकर उठी है। अँगड़ाई भरती हुई वह अपने झरोखेके रेलिंगपर आ खड़ी हुई। एक हाथसे नीलमकी मेहराब थामे, खंभेपर सिर टिकाये वह स्तब्ध देखती ही रह गई...। वह नीरव हंसिनी उस गुलाबी आलोक-सागरमें अकेली ही पार हो रही थी। वह क्यों है आज अकेली ?

कि लो, हिमगिरिकी शैलपाटियों, दरियों और उपत्यकाओंको कँपाता हुआ प्रस्थानका तूर्यनाद गूंज उठा। दुंदुभीका घोष मानसरोवरकी लहरोंमें गर्जन भरता हुआ, दिगंत के छोरोंतक व्याप गया।

अंजनाने सहमकर वक्ष थाम लिया। उत्तरकी पर्वत-श्रेणियोंसे उठ-उठकर धूलके बादल आकाशमें छा रहे हैं। डूबती हुई अश्व-टापोंकी दूरागत ध्वनि रह-रहकर प्रतिध्वनित हो रही है। कि तटके उन डेरोंकी ओरसे घुड़सवारोंकी एक टुकड़ी हवापर उछलती हुई घाटियोंमें कूद गई।

परेशान-सी वसंतमाला भागती हुई आई। चाहकर भी वह अपनेको रोक नहीं सकी––बोली––

"अंजन, कुमार पवनंजय प्रस्थान कर गये। अपने सैन्यको साथ लेकर वे अकेले ही चल दिये हैं––"

बीनका तार जैसे टन्न...से अचानक टूट गया, भटकती हुई वह झंकार रोम-रोममें झनझना उठी है। पता नहीं यह आघात कहांसे आया। बेबूझ, अपार विस्मयसे अंजनाकी वे अबोध आंखें वसंतके चेहरेपर बिछ गईं। अपने बावजूद वह वसंतसे पूछ उठी––

"कारण"

"ठीक कारण ज्ञात नहीं हो सका। पर एकाएक मझरातमें महाराज प्रह्लादके पास सूचना पहुंची कि कुमार कल सूर्योदयके पहले अकेले ही प्रस्थान करेंगे; अपनी सेनाओंको उन्होंने कूचकी आज्ञाएं दे दी हैं। उसी समय अनुचर भेजकर महाराजने कुमारको बुलवाया, पर वे अपने डेरेमें नहीं थे। शामको ही जो वे गये, तो फिर नहीं लौटे। उनके अन्यतम सखा प्रहस्तसे केवल इतना ही पता चला है कि पवनंजयके रोषका कारण कुछ गंभीर और असाधारण है। इस बार वे भी उनके मनकी थाह न ले सके हैं––और पूछनेका साहस भी वे नहीं कर सके।"

"क्या पिताजीको यह संवाद मिल गया है, वसंत?"

"हां, अभी जो अश्वारोहियोंकी टुकड़ी गई है, उसीमें महाराज आदित्यपुरके महाराज प्रह्लादके साथ कुमारको लौटा लाने गये हैं।"

अंजनाने वक्षमें निःश्वास दबा लिया। किसी अगम्य दूरीमें दृष्टि अटकाये गंभीर स्वरमें बोली—

"बांधकर मैं उन्हें नहीं रखना चाहूंगी, वसंत ! जानेको ये दिशाएं खुली हैं उनके लिये। पर संयोगकी रात जब लिखी होगी, तो द्वीपांतरसे उड़कर आयेंगे, इसमें मुझे ज़रा भी संदेह नहीं है। पगली वसू, छि: आंसू ? अंजनाके भाग्यपर इतना अविश्वास करती हो, वसंत ?"

कहते-कहते अंजनाने मुंह फेर लिया और वसंतका हाथ पकड़ उसे कक्षमें खींच ले गई।

[४]

कुछ दूर जाकर ही अचानक विरामका शंख बज उठा। सैन्यका प्रवाह थम गया। रथकी रास खींचकर पवनंजयने पीछे मुड़कर देखा। कौन है जिसने कुमार पवनंजयके सैन्यको रोक दिया है ? दीखा कि कुछ ही दूर घोड़ोंपर महाराज प्रह्लाद, महाराज महेंद्र, मित्र प्रहस्त और कुछ घुड़सवार चले आ रहे हैं। महाराजके संकेतपर ही सेनाधिपने विरामका शंखनाद किया है।

कुछ निकट आकर वे सब घोड़ोंसे उतर पड़े। महाराज प्रह्लादने अकेले प्रहस्तको ही भेजा कि वे पवनंजयसे लौट चलनेका अनुरोध करें। महाराज पुत्रका स्वभाव जानते थे और खूब समझते थे कि प्रहस्त यदि पवनंजयको न लौटा सके तो, वे तो क्या, फिर विश्वकी कोई भी शक्ति कुमारको नहीं लौटा सकती।

संदिग्ध और व्यथित प्रहस्त रथके निकट पहुंच घोड़ेसे उतर पड़े। सारथीको घोड़ोंकी वल्गा थमाकर, गरिमासे मुस्कराते हुए पवनंजय रथसे

नीचे उतर आये। पर उस गरिमामें तेज नहीं था, महिमा नहीं थी, थी एक बुझी हुई अल्प-प्राणता। वह चेहरा जैसे एक रातमें ही झुलसकर निष्प्रभ हो गया था। प्रहस्त चुपचाप पवनंजयका हाथ पकड़, उन्हें ज़रा दूर एक झरने के नज़दीक ले गये।

एकाएक दूसरी ओर देखते हुए प्रहस्तने मौन तोड़ा—

"तुम्हारे गौरवके शिखरोंको छूनेके लिये प्रहस्त अब बहुत छोटा पड़ गया है, पवन! और वैसी कोई धृष्टता करने आया भी नहीं हूं। आदित्यपुर और महेंद्रपुरके राजमुकुट भी तुम्हारे चरणोंको शायद ही पा सकें, इसीलिये उन्हें पीछे छोड़ आया हूं। पर यह याद दिलाने आया हूं कि अपने ही से हारकर भाग रहे हो, पवन! क्षत्रियका वचन टलता नहीं है। इस विवाहको लेकर परसों रात महादेवीसे तुमने क्या कहा था, वह याद करो। उसके भी ऊपर होकर यदि तुम्हारा मार्ग गया है, तो संसारकी कौनसी शक्ति है जो तुम्हें रोक सकती है?"

सुनते-सुनते पवनंजय विवर्ण हुए जा रहे थे कि एकाएक उत्तेजना और रोषसे चेहरा उनका तमतमा उठा।

"वह मोह था प्रहस्त, मनकी एक क्षण-भंगुर उमंग। निर्बलताके अतिरेकमें निकलनेवाला हर वचन निश्चय नहीं हुआ करता। और मेरी हर उमंग मेरा बंधन बनकर नहीं चल सकती। मोहकी रात्रि अब बीत चुकी है, प्रहस्त! प्रमादकी वह मोहन-शय्या पवनंजय बहुत पीछे छोड़ आया है। कल जो पवनंजय था, वह आज नहीं है। अनागतपर आरोहण करनेवाला विजेता, अतीतकी सांकलोंसे बंधकर नहीं चल सकता। जीवनका नाम है प्रगति। ध्रुव कुछ नहीं है प्रहस्त,—स्थिर कुछ नहीं है। सिद्धात्मा भी निजरूपमें निरंतर परिणमनशील है! ध्रुव है केवल मोह—जड़ताका सुंदर नाम—!"

"तो जाओ पवन, तुम्हारा मार्ग मेरी बुद्धिकी पहुंचके बाहर है।

पर एक बात मेरी भी याद रखना—तुम स्त्रीसे भागकर जा रहे हो। तुम अपने ही आपसे पराभूत होकर आत्म-प्रतारणा कर रहे हो। घायलके प्रलापसे अधिक, तुम्हारे इस दर्शनका कुछ मूल्य नहीं। यह दुर्बलकी आत्म-वंचना है, विजेताका मुक्ति-मार्ग नहीं !"

"और मुक्तिका मार्ग है—विवाह, स्त्री ! क्यों न प्रहस्त ?"

"हां पवन, ये मुक्तिमार्गकी अनिवार्य कसौटियां हैं। इन तोरणोंको पार करके ही मुक्तिके द्वारतक पहुंचा जा सकेगा। स्त्रीसे भागकर जो जेता दिग्विजय करने चला है, दिशाओंकी अपरिसीम भुजाओंका आलिंगन वह नहीं पा सकेगा। शून्यमें टकराकर एक दिन फिर वह सीमित नारीके चरणोंमें दिग्मूढ़-सा लौट आयेगा। स्त्रीके सम्मोहन-पाशमें ही मुक्तिकी ठीक-ठीक प्रतीति हो सकती है। मुक्तिकी मांग वहीं तीव्रतम है। उसी चरम पीड़ाकी ऊष्मामेंसे फूटकर मुक्तिका श्वेत कमल खिलता है। मुक्ति स्वयं स्त्री है—नारीको छोड़कर शरण और कहीं नहीं है, पवन ! स्वार्थी, भोगी, उच्छृङ्खल पुरुष अपनी लिप्साओंसे विवश होकर, जब स्त्रीकी परम प्राप्तिमें विफल होता है, तब अपने पुरुषार्थके मिथ्या आस्फालनमें वह नारीसे परे जानेकी बात सोचता है। मुक्ति चरम प्राप्ति है—वह त्याग-विराग नहीं है, पवन !"

"और वह चरम प्राप्ति, विवाह और स्त्रीके बिना संभव नहीं—क्यों न प्रहस्त ?"

"मैं मानता हूं कि विजेता और उसकी चरम प्राप्ति विवाहसे बाधित नहीं। पर यदि विवाह अनिवार्य होकर उसके मार्गमें आ ही जाये, तो उससे उसे निस्तार नहीं है। निखिलको अपने भीतर आत्मसात् करनेवाले अखंड प्रेमकी लौ जिस जेताके वक्षमें जल रही है—उसके सम्मुख एक तो क्या लक्ष-लक्ष विवाह भी बाधा-बंधन नहीं बन सकते, पवन। छियानवे हज़ार रानियोंके लीला-रमण और षट्खंड पृथ्वीके अधीश्वर थे भरत चक्रवर्ती ! उस सारे वैभवके अव्याबाध भोक्ता होकर वे रहे, और

अंतर्मुहूर्त मात्रमें सारे बंधनोंको तोड़कर निखिलके स्वामी हो गये। बालपनसे जो नरश्रेष्ठ तुम्हारा आदर्श रहा है, उसीकी बात कह रहा हूं, पवन !"

पवनंजयका घायल पुरुषार्थ भीतर ही भीतर सुलग रहा था। नहीं, वह अंजनाको छोड़कर नहीं जा सकेगा। मृत्युकी तरह अनिवार होकर यह सत्य उसकी छातीमें वज्र-सा टकराने लगा। ऐं ! क्या वह भाग रहा है—स्त्रीसे हारकर ? भयभीत होकर, कातर और त्रस्त होकर ? नहीं, वह हर्गिज़ नहीं जायेगा। प्रतिशोधकी सौ-सौ नागिनें भीतर फुफकार उठीं। उस निदारुण अपमानका बदला लेनेका इससे अच्छा अवसर और क्या होगा।...अच्छा अंजन, आओ, पवनंजयके अंगूठेके नीचे आओ।...और फिर मुस्कराओ अपने रूपकी चांदनीपर ! तुम्हारे उस गर्विष्ठ रूपको चूर्णकर उसे अपनी चरण-धूलि बनाये बिना मेरी विजय-यात्राका आरंभ नहीं हो सकता।

अपनी अधीरतापर संयम करते हुए प्रकटमें पवनंजय बोले—

"यदि तुम्हारी यही इच्छा है प्रहस्त, तो चलो—मानसरोवरके तटपर ही अपनी विजय-यात्राका पहला शिला-चिह्न गाड़ चलूं !"

...प्रहस्तको हाथसे खींचकर पवनंजयने रथपर चढ़ा लिया और वल्गा खींचकर रथको मोड़ दिया। सेनापतिको सैन्य लौटानेकी आज्ञा दी गई। फिर प्रस्थानका शंख गूंज उठा।

[५]

आज है परिणयकी शुभ लग्न-तिथि। पूर्वकी उन हरित-श्याम शैल-श्रेणियोंके बीच, ऊषाके आकुल वक्षपर यौवनका स्वर्णकलश भर आया है। मणि-मुक्ताके झालर-तोरणोंसे सजे अपने वातायनसे अंजना देख रही है। उस एक ओरके शैलकी हरी-भरी तलहटीमें हंस-हंसिनियोंका

एक झुण्ड मुक्त आमोद-प्रमोद कर रहा है। पास ही सरोवरमें कमलोंका एक संकुल वन है। सारी रात सुखकी एक अशेष पीड़ा अंजनाके वक्षको मथती रही है। जैसे वह आनन्द देहके सारे सीमा-बंधनोंको तोड़कर निखिल चराचरमें बिखर जाना चाहता है। पर कहां है इस बिकलताका अंत? सरोवरके उन सुदूर पद्मवनोंमें? हंसोंके उस विहारमें? हरीतिमाकी उस आभामें? इन अनंत लहरोंके अंतरालमें?---कहां है प्राणकी इस चिर विच्छेद-कथाका अंत?

कि लो, अनेक मंगल-वाद्योंकी उछाहभरी रागिणियोंसे सरोवरका वह विशाल तट-देश गूंज उठा। कैलाशके स्वर्ण-मंदिरोंके शिखरोंपर जाकर वे ध्वनियां प्रतिध्वनित होने लगीं। अनेक तोरण, द्वार, गोपुर, मंडप और वेदियोंसे तटभूमि रमणीय हो उठी है। मानों कोई देवोपनीत नगरी ही उतर आई है। स्थान-स्थानपर बालाएं अक्षत-कुंकुम, मुक्ता और हरिद्राके चौक पूर रही हैं। दोनों राजकुलोंकी रमणियां मंगल गीत गाती हुई उत्सवके आयोजनोंमें संलग्न हैं। कहीं पूजा-विधान चल रहे हैं तो कहीं हवन-यज्ञ। विपुल उत्सव, नृत्य-गान, आनंद-मंगलसे वातावरण चंचल है।

सवेरे ही अंजनाको नाना राग, गंध, उबटनोंसे नहलाया गया है। पुंडरीक और नील कमलोंके परागसे अंगराग किया गया है। दूर-दूरकी पर्वत-घाटियोंसे वन-पाल नाना रंगी फूल लाये हैं। उनके हारों और आभरणोंसे अंजनाका शृंगार हो रहा है। ललाट, वक्षदेश और दोनों भुजाओंपर वसंतमालाने बड़े ही मनोयोगसे पत्र-लेखा रची है। प्रत्यूषकी पहली गुलाबी आभाके रंगका दुकूल वह ओढ़े है। भीतर कहीं-कहींसे विरल रत्नाभरणोंकी प्रभा झलमला उठती है।

और इस सारे आस-पासके उत्सव-कोलाहल, शृंगार-सज्जाके भीतर दबे अंजनाके श्वेत कमलिनीसे पावन हृदयसे एक आह-सी निकल आती है। रह-रहकर एक सिसकी-सी वक्षमें उठती है और अनायास वह उसे

दबा जाती है। बाहरके तल-देशके सारे सुख-चांचल्यकी जो छाया घनीभूत होकर उसके अंतस्तलमें पड़ रही है—वह क्यों इतनी करुण, नीरव और विषादमयी है ?

मानसरोवरकी वेलामें, लहरोंसे विचुंबित परिणयकी वेदी रची गई है। सब दिशाओंकी पार्वत्य वनस्पतियों और फल-फूलोंसे वह सजाई गई है। चारों ओर रत्न-खचित खंभे हैं—जिनपर मणि-माणिक्यके तोरण-वंदनवार लटके हैं।

सुदूर जल-क्षितिजमें सूर्यकी कोर डूब गई। ठीक गोधूलि-बेलामें लग्न आरंभ हो गया। हवनके सुगंधित धूम्रसे दिशाएं व्याप्त हो गईं। संध्या-निलके मादक झकोरोंपर वाद्योंकी शीतल रागिणियां; तंतु-वाद्योंकी स्वर-लहरियां और रमणी-कंठोंके मृदु-मंदगान मंथर गतिसे बह रहे थे। और बीच-बीचमें रह-रहकर हवनके मंत्रोच्चारकी गंभीर ध्वनियां गूंज उठतीं।

अंजनाने देखा, वे हंसोंके युगल उन दूरके शैल-शृंगोंके पार उड़े जा रहे हैं। और वह क्यों बिछुड़कर अकेली पड़ी जा रही है। सब कुछ अवसन्न, करुण, नीरव हुआ जा रहा है। आस-पासका गीत-वाद्य, कलरव, सब निःशेष हुआ जा रहा है। केवल मानसरोवरकी लहरोंका अनंत जल-संगीत और हवाके हू-हू करते झकोरे। मानवहीन, निर्जन तटका महाविस्तार......!

पाणि-ग्रहणकी बेला आ पहुंची। अंजनाको चेत आया। उसने साहस करके नीची दृष्टिसे ही पवनंजयको देखना चाहा..., तब तक कब हथेलीमें हथेली जोड़कर बांध दी गई, पता ही नहीं। यही है उसका वह नियोगी पुरुष ? वह पहचान नहीं पा रही है। उसे याद आ रहा है उस संध्याका वह नौका-विहार, वह विरुद्ध-गामिनी लहरोंपर जूझता हुआ पवनंजय ! कहां है वह आज ? क्या यही पुरुष है वह ? अरे कहां है वह इस क्षण ? और लहरोंके असीम विस्तारपर उसकी आंखें उसे खोजती ही चली गईं।

लोकमें परिणय संपन्न हो गया !

और दूसरे ही दिन दोनों राज-परिवार अपने दल-बल सहित अपने-अपने देशोंको प्रस्थान कर गये ।

[६]

विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीपर, आकाश-विहारिणी वन-लेखासे बालारुणका उदय हो रहा है । अनेक रथों, पालकियों और सैन्यकी ध्वजाओंसे पर्वत-पाटियां चित्रित हो उठीं । दुंदुभियोंके तुमुल घोषने घाटियों और गुहाओंको थर्रा दिया । दरीगृहोंमें सोये सिंह जागकर चिंघाड़ उठे । हिंस्र जंतुओंसे भरे कांतारोंका जड़ अंधकार हिल उठा । पर्वत-गर्भसे जानेवाले दरीमार्गोंके चट्टानी गोपुर गगनभेदी वाद्यों और शंखनादोंसे गूंज उठे । महाराज प्रह्लाद आज कैलाश-यात्रासे लौटकर अपने राज-नगर आदित्यपुरको वापस आ रहे हैं ।

वीहड़ पर्वत-मार्गको पारकर सैन्यकी ध्वजाएं मुक्त किरणोंमें फह-राने लगीं । दूरपर आदित्यपुरके परकोट दीखने लगे । अंजनाने रथके गवाक्षकी झालरें उठाकर देखा । शरद ऋतुके उजले बादलों-से आदित्य-पुरके भवन आकाशकी पीठिकापर चित्रित हैं । विस्तीर्ण वृक्ष-घटाओंके पार, राज-प्रासादकी रत्न-चूड़ाएं बाल-सूर्यकी कांतिमें जगमगा रही हैं । सघन उपवनों और पद्म-सरोवरोंकी आकुल गंध लेकर उन्मादिनी हवा बह रही है । श्यामल तरु-राजियोंमें कहीं अशोकसे कुंकुम झर रहा है, तो कहीं गुलमौरोंसे केशर और मल्लिकाओंसे स्वर्ण-रेणु झर रही है । अंजनाके अंग-अंग एक अपूर्व सुखकी पुलकोंसे सिहर उठते हैं । पर इन पुलकोंके छोरोंमें यह कैसी अविज्ञात कातरता है—चिर अभावका कैसा संवेदन है ?

कि लो, देखते-देखते उत्सवका एक पारावार उमड़ आया। चित्र-विचित्र वस्त्राभूषणोंमें नर-नारियोंकी अपार मेदिनी चारों ओर फैली है। नवपरिणीत युवराज और युवराज्ञीका अभिनंदन करनेके लिये प्रजाने यह विपुल उत्सव रचा है। चारों ओरसे अक्षत, कुंकुम, गंध-चूर्ण और पुष्पमालाओंकी वर्षा होने लगी। सबसे आगे गंध-मादन गजराजपर स्वर्ण-खचित हाथीदांतकी अंबाड़ीमें मणि-छत्रके तले कुमार पवनंजय बैठे हैं। वे चौड़ी ज़री किनारका हंस-धवल उत्तरीय ओढ़े हैं—और माथे-पर मानसरोवरके बड़े-बड़े नीलाभ मोतियोंकी झालरवाला किरीट धारण किये हैं। अपनी ईषत् बंकिम ग्रीवाको ज़रा घुमाकर मानों अवहेलापूर्वक वे अपने चारों ओर देख रहे हैं। ओठोंपर गुरु गरिमाकी एक मुस्कराहट जैसे चित्रित-सी थमी है। धनुषाकार होता हुआ एक भुजदंड अंबाड़ीके कठघरेको थामे है। ईषत् गर्दन हिलाकर, और कुछ भ्रू उचकाकर ही वे प्रजाके उस सारे अभिनंदन, अभिवादन और जयकारोंको झेल लेते हैं।

नवीन चित्रोंसे शोभित, नगरके सिंह-तोरणपर अशोक और कदलीकी वंदनवारें सजी हैं। तोरणके गवाक्षोंमें शहनाइयोंकी मंगल-रागिणियां बज रही हैं। उसके ऊपरके झरोखोंसे केशर-वसना कुमारिकाएं कमल-कोरक और फूलोंकी राशियां बरसा रही हैं। कुमारकी गर्व-दीप्त आंखोंने एक बार भ्रूकी मर्यादा तोड़कर, तोरणके झरोखोंपर दृष्टि डाली।... चंपक-गौर भुज-दंडोंपर कमल-सी हथेलियोंमें कर्पूरकी आरतियां झूल रही हैं। सौंदर्यकी उस प्रभाके संमुख कुमारकी भौहोंका वह मानगिरि एकबारगी ही चूर्ण हो गया। मन ही मन वे उद्वेलित हो उठे।... 'ओह, परिणयकी स्वर्ण-सांकलोंसे बंधा मैं, क़ैदी होकर लौट आया हूं इन मायाविनियोंके देशमें! और रूपकी ये रजोराशियां विजेताके गौरवसे खिलवाड़ किया चाहती हैं?'

जय-जयकार और शंखनादोंके बीच कुमारके हाथीने तोरणमें प्रवेश किया। नगरके भवन, छज्जे, अटारी और वातायनोंमें उड़ते हुए सुगंधित

दुकूल और कोमल मुखड़ोंकी छटा खिली है; कंकण, नूपुर और किंकिणियोंकी रणकार तथा मृदुकंठोंकी गान-लहरियोंसे वातावरण चंचल-आकुल है।...और पवनंजयने मानों आकाशका तट पकड़कर यह निश्चय अनुभव करना चाहा कि वह इस सबपर पैर धरकर चल रहा है !

पुष्पों, पुष्पहारों और हेम-कुंकुमसे ढकी हुई अंजना दोनों हाथोंपर भालके तिलकको झुकाकर प्रजा-जनोंके अभिनंदन झेल रही थी। देहके तट तोड़कर जैसे उसका समस्त आत्मा आनंदके इस अपार समुद्रमें एक तान हो जानेको आकुल हो उठा है। क्यों है यह अलगाव, यह दूरी, यह खंड-खंड सत्ता ? यही है उसकी इस समयकी सबसे बड़ी आनंद-वेदना। वह आज मानों अपनेको निःशेष कर दिया चाहती है। पर इस अथाह शून्यमें कोई थामनेवाला भी तो नहीं है।

[७]

यह है युवराज्ञी अंजनाका 'रत्नकूट-प्रासाद'। अंतःपुरकी प्रासाद-मालाओंमें इसीका शिखर सबसे ऊंचा है। अनेक देशांतरोंके बहुमूल्य और दुर्लभ धातु, पाषाण और रत्न मंगवाकर महाराजने इसे भावी राजलक्ष्मीके लिये बनवाया था। दूर-दूरके ख्यात वास्तु-विशारद, शिल्पी और चित्रकारोंने इसके निर्माणमें अपनी श्रेष्ठतम प्रतिभाका दान किया है। आज लक्ष्मी आ गई है और महलमें प्रभा जाग उठी है।

महलकी सर्वोच्च अटारीपर चारों ओर स्फटिकके जाली-बूटोंवाले रेलिंग और वातायन हैं। बीचोंबीच वह स्फटिकका ही शयन-कक्ष है, लगता है जैसे क्षीर-समुद्रकी तरंगोंपर चंद्रमा उतर आया है। फ़र्शोंपर चारों ओर मरकत और इंद्रनील मणिकी शिलाएं जड़ी हैं। कक्षके द्वारों और खिड़कियोंपर नीलमों और मोतियोंके तोरण लटक रहे हैं, जिनकी

मणि-घंटिकाएं हवामें हिल-हिलकर शीतल शब्द करती रहती हैं। उनके ऊपर सौरभकी लहरोंसे हलके रेशमी परदे हिल रहे हैं।

कक्षमें एक ओर गवाक्षके पास सटकर पद्म-राग मणिका पर्यंक बिछा है। उसपर तुहिन-सी तरल मसहरी झूल रही है। उसके पट आज उठा दिये गये हैं। अंदर फेनों-सी उभारवती शय्या बिछी है। मीना-खचित छतोंमें मणि-दीपोंकी झूमरें झूल रही हैं। एक ओर आकाशके टुकड़े-सा एक विशाल बिल्लौरी सिंहासन बिछा है। उसपर कासके फूलोंसे बुनी सुख-स्पर्श, मसृण गद्दियां और तकिये लगे हैं। उसके आस-पास उज्ज्वल मर्मर पाषाणके पूर्णाकार हंस-हंसिनी खड़े हैं, जिनके पंखोंमें छोटे-छोटे कृत्रिम सरोवर बने हैं, जिनमें नीले और पीले कमल तैर रहे हैं। कक्षके बीचोंबीच पन्नेका एक विपुलाकार कल्पवृक्ष निर्मित है, जिसमेंसे इच्छानुसार काल घुमा देनेपर, अनेक सुगंधित जलोंके रंग-बिरंगे सीकर बरसने लगते हैं। मणि-दीपोंकी प्रभामें ये सीकर इंद्रधनुषकी लहरें बन-बनकर जगतकी नश्वरताका नृत्य रचते हैं। कक्षके कोनोंमें सुंदर बारीक जालियों-कटे स्फटिकमय दीपाधार खड़े हैं, जिनमें सुगंधित तैलोंके प्रदीप जल रहे हैं।

बाहर उत्सवका सायाह्न एक मधुर अलसता और अवसादसे भरा है। आज सुहागिनी अंजनाकी शृंगार-संध्या है। चारों ओर महलोंके सभी खंडोंके झरोखोंसे मोहन-राग संगीत और प्रकाशकी शीतल-मंथर लहरें बह रही हैं। सुंदर सुवेषिनी दासियां स्वर्ण-थालों और कलशोंमें नाना सामग्रियां लिये व्यस्ततापूर्वक ऊपर-नीचे दौड़ती दीख रही हैं।

शयन कक्षके बाहर छतपर दासियां और सखियां मिलकर अंजनाके लिये स्नानका आयोजन कर रही हैं। कुछ दूरपर नारिकेल-वनके अंतरालसे 'पुंडरीक' नामक विशाल प्राकृतिक सरोवरकी ऊर्मियां झांकती दीख पड़ती हैं। नारिकेल शिखरोंपर वसंतके संध्याकाशमें गुलाबी और अंगूरी बादलोंकी झीलें खुल पड़ी हैं। ऊपर घिर आती रातकी श्याम-नील

वेलामेंसे कोई-कोई विरल तारक-कन्यायें आकर इन झीलोंमें स्नान-केलि कर रही हैं।

देव-रम्य राजोद्यानके पूर्व छोरपर, सघन तमालोंकी वनालीसे, सुहागिनीके मुख-मंडल-सा हेम-प्रभ चंद्रमा निकल आया। सरोवरसे सद्यः विकसित कुमुदिनियोंका सौरभ और पराग लेकर वसंतका मादक संध्यानिल झूमता-सा बह रहा है। छतके उत्तर भागमें एक पद्माकार केलि-सरोवर बना है। उसके एक दलपर स्फटिककी चौकी बिछा दी गई है और उसीपर बिठाकर अंजनाको स्नान कराया जा रहा है। सुगंधित दूध, नवनीत, दही तथा अनेक प्रकारके गंधजलोंकी झारियां और उपटनोंके चषक लेकर आसपास दासियां खड़ी हैं। वसंतमाला अंग-लेप लगा-लगाकर अंजनाको स्नान करा रही हैं। केलि-सरोवरके किनारे गमलोंमें लगी भूशायिनी वल्लरियां हवाके हिलोरोंमें उड़ती हुई इधर-उधर डोल रही हैं। वे आ-आकर अंजनाकी अनावृत भुजाओं, जंघाओं, बाहों और कटिभागमें लिपट जाती हैं। वह उन अनायास उड़ आती लताओंको विह्वल बाहोंसे वक्षमें चांपकर उनपर अपना सारा प्यार उड़ेल देती है। एक अपूर्व आज्ञात सुखकी सिहरनसे भरकर उसका अंग-अंग जाने कितने भंगोंमें टूट जाता है। उनके छोटे-छोटे फूलोंको अंगुलियोंके बीच लेकर वह चूम लेती है—उन मृदुल डालों और नन्हीं-नन्हीं पत्तियोंको गालोंसे, पलकोंसे हलके-हलके छुहलाती है। इस क्षण उसके प्यारने सीमा खोदी है। बहिर्जगतकी लाज और विवेक जाने कहाँ पीछे छूट गया है। आस-पास खड़ी सखियां और दासियां हंसी-चुहुलमें एक दूसरीमें लिपटी जा रही हैं। तभी हलकेसे हंसते हुए वसंतने मधुर भर्त्सना की—

"तेरा बचपन अभी भी छूटा नहीं है, अंजन। इन नन्ही-नन्ही फूल-पत्तियोंसे खेलनेमें लगी है कि नहाना भूल गई है। ऐसे ही अपनी बाल्य-क्रीड़ाओंमें रत होकर किसी दिन कुमार पवनंजयको मत भूल बैठना, नहीं तो अनर्थ हो जायगा!"

कहकर वसंत खिल-खिलाकर हंस पड़ी। अंजना एक वेलिको गालसे लगाये कुछ देर मुग्ध विभोरतामें नत हो रही। फिर धीमेसे बोली--

"सो मुझे कुछ नहीं मालूम है, वसंत। पर देख रही हूं--कितना सरल है इन नन्ही-नन्ही वल्लरियोंका प्यार। व्याज नहीं, छल नहीं, अपेक्षा भी नहीं है। सहज ही आकर मुझसे लिपट रही हैं। किस जन्मकी आत्मीयता है यह? (रुककर) सोचती हूं, कौनसा प्यार है जो इस प्यारसे बड़ा हो सकता है! क्या मनुष्यका प्रेम इससे भी बड़ा है? पर मैं क्या जानूं बसन्त, इनसे परे इस क्षण मेरे लिए कुछ भी स्पृहणीय नहीं है!"

कुछ देर चुप रहकर फिर मानो भर आते गलेसे बोली--

"निखिलको भूलकर जो एक ही याद रह जायगा, उसकी ठीक-ठीक प्रतीति मुझे नहीं है--पर इस क्षण इस प्यारसे परे मैं किसीको भी नहीं जानती?"

"तो वह जाननेकी बेला अब दूर नहीं है अंजन--लो उठो, उस ओर चलकर कपड़े पहनो।"

छतके दक्षिण भागमें, खुले आकाशके नीचे रत्न-जटित खंभोंवाली सुहाग-शय्या बिछी है। चंद्रमाकी उज्ज्वल किरणोंसे रत्नोंमें प्रभाकी तरंगें उठ-उठकर विलीन हो रही हैं। मानो वह शय्या किसी नील जलधि-वेलामें तैर रही है। शय्यापर कचनार और चंपक पुष्पोंकी राशियां बिछी हैं। उसकी झालरोंमें केसरवाले पुंडरीक झूल रहे हैं। पलंगके रत्न-दंडोंपर चारों ओर कुंद-पुष्पोंसे बुनी जालियोंकी मसहरी झूल रही है। पलंगके शीर्षके चौखटपर चंद्रकान्त मणियोंकी झालरें लटकी हैं; चांदकी किरणोंका योग पाकर उन मणियोंमेंसे भीनी-भीनी जलकी फुहारें झर रही हैं।

और वहीं पास ही इंद्र-नील शिलाके फ़र्शपर चारों ओर सखियों और

दासियोंसे घिरी, सुहागिनी अंजनाका श्रृंगार हो रहा है। उस तरल ज्योत्स्ना-सी देहमें पीत कमलोंके केसरसे अंगराग किया गया है। हथेलियां और पगतलियोंमें लोध्रकी रेणुसे महावर रची गई है। संध्याकी सागर-वेला सी वह घनश्याम केश-राशि ऐसी निर्बंध लहरा रही है कि उस देहके तरल तटोंमें वह सम्हाले नहीं सम्हलती। इसीसे वेणी गूथनेका प्रयत्न नहीं किया गया है; केवल मानसरोवरके मुक्ताओंकी तीन लड़ियोंसे हलका-सा बांधकर उसे अटका दिया गया है। लिलार और गालोंके केश पाशपरसे दो लड़ियां दोनों ओरकी केश-पट्टियोंको बांधती हुई जाकर चोटीके मूलमें अटकी हैं; मांगकी सेंदुर रेखापरसे एक तीसरी लड़ जाकर उन दोनोंसे मिल गई है। कानोंमें नीलोत्पल पहनाये गये हैं। अर्ध चंद्राकार ललाटपर गोरोचन और चंदनसे तथा स्तनोंपर कालागुरुसे वसंतमालाने पत्र-लेखा रची है। मृणाल-तंतुओंमें लाल कमलके दलोंको बुनकर बनाई गई कंचुकी पद्म-कोरकोंसे उद्भिन्न वक्ष-देशपर बांध दी गई। कलाइयोंपर मणि-कंकण और फूलोंके गजरे पहनाये गये और भुजाओंपर रत्न-जटित भुज-बंध बांधे गये। गलेमें वैडूर्य-मणिका एक अति महीन चांदनी-सा हार धारण कराया गया। देहपर श्वेत-नील लहरियेका हलका-सा रेशमी दुकूल पहना और पैरोंमें मणियोंके नूपुर झनझना उठे।

वैशाखकी पूर्णिमाका युवा चंद्र, तमालके वनोंसे ऊपर उठकर, संपूर्ण कलाओंसे मुस्करा उठा। अपनी सारी पीली मोहिनी नवोढ़ा अंजनाको सौंपकर अब वह उज्ज्वल हो चला है। दूर देव-मंदिरोंके धवल शिखरपर आकर वह कुछ ठिठक गया है। मानो आज वह सुहागिनी अंजनाका दर्पण बन जाना चाहता है। जयमाला जब दर्पण लेकर सामने आई, तो अंजनाने सभ्रम-पूर्वक गर्दन घुमाकर चांदकी ओर देखा और मुस्करा दिया। कपोल-पालीमें फैली हुई स्मित-रेखा, उन आंखोंके गहन कजरारे तटोंमें जाने कितने रहस्योंसे भरकर लीन हो गई।

शयन कक्षके झरोखोंसे दशांग धूपकी धूम्र-लहरें आकर बाहर चांदनीकी तरलतामें तैर रही हैं; अंजनाके केशोंपर आकर मानों वे सपनोंके जाल बुन रही हैं।

थोड़ी ही देरमें शृंगार संपन्न हो गया। दूसरी ओरके केलि-सरोवरके पास दासियोंने प्रवालके हिंडोलोंको पुष्प-मालाओंसे छा दिया। चारों ओर घिरी सखियोंके हास-परिहास, विलास-विभ्रम और चंचल कटाक्षोंके बीच अंजना अपनी सारी शोभाको समेट अपनी ढुलकी पलकोंकी कोरोंमें लीन हो रही है। अपनी ही सौरभसे मुग्ध पद्मिनी जैसे झुककर अपने ही अंतरकी आकुल ऊर्मियोंमें अपना प्रतिबिंब देख रही हो।

इंद्र-नील शिलाके फ़र्शमें जिस बालाकी परछाहीं पड़ रही है, उसे अंजना पहचान नहीं पा रही है। किस आत्मीय-जनहीन सागरांत-की वासिनी है यह एकाकिनी जल-कन्या? और लो, वह छाया तो खोई जा रही है; अनंत लहरोंमें, नाना भंगोंमें टूटकर वह छबि दिगंतोंके पार हो गई है! अंजनाका समस्त प्राण उस बालाके लिये अथाह करुणा-व्यथासे भर आया है। चांदनीके जलसे आकुल दिशाओंके सभी छोरोंपर वह उसे खोजती भटक रही है। पर जहांतक दृष्टि जाती है, चंचल लहरोंके सिवा कहीं और कुछ नहीं है। लहरें जो टूट-टूटकर अनंतमें बिखर जाती हैं। सारे ग्रह-नक्षत्र छविकी इन तरंग-मालाओंमें चूर-चूर होकर बिखर रहे हैं। जन्म और मरणसे परे मुक्तिके भंवरोंपर आत्मोत्सर्ग-का उत्सव हो रहा है। देश और कालकी परिधि निश्चिह्न हो गई है। सुख-दुख, आनंद-विषादकी सीमा तिरोहित हो गई है।

....और शून्यमें वह कौन आलोक-पुरुष दिखाई पड़ रहा है, जिसके चरणोंमें जा-जाकर ये अंतहीन लहरें निर्वाण पा रही हैं! एकाएक अंजनाने शून्यमें हाथ फैला दिये। अपने ही मणि-कंकणोंकी रणकारसे वह चौंक उठी। वसंतमालाने पीछेसे उसे थाम लिया। परिचयहीन, भटकी चितवनसे वह वसंतको देख उठी। फिर एक अपूर्व संवेदनकी

मर्म-पीड़ा उन आंखोंकी कजरारी कोरोंमें भर आई। देखकर बसंत नीरव हो गई। चित्त उसका रुद्ध हो गया और चाहकर भी बोल नहीं फूट पाया।

पूर्ण चेत आते ही अंजनाको रोमांच हो आया, कपोलोंपर पसीना झलक उठा। प्रगाढ़ लज्जासे मानों वह अपने ही में मुँदी जा रही है। कि अगले ही क्षण वह परवश होकर लुढ़क पड़ी---वसंतमालाके वक्षपर।

"अंजन, मुझसे ही लाज आ रही है आज तुझे ?"

"जीजी....बहुत दिनोंका भूला संबोधन आज फिर ओठोंपर आ गया है---अनायास, क्षमा कर देना, जीजी। पर आज तुम बड़ी ही बड़ी लग रही हो! तुम्हें छोड़कर आज कहीं शरण नहीं है---इसीसे कह रही हूं। बीच धारामें मुझे असहाय छोड़कर चली मत जाना। अपनी अंजनाका पागलपन तो तुम सदासे जानती हो---फिर क्या आज भी क्षमा नहीं कर दोगी, जीजी ?"

अंजनाकी झुकी हुई पलकपर बिखर आई हलकी-सी केश-लटको उँगलीसे हटाते हुए वसंतने कहा---

"इसीसे तो कह रही हूं अंजन, कि अपनी चिर दिनकी उस जीजीसे भी यों लाज करेगी ?"

"तुमसे नहीं जीजी, अपनी ही लाजसे मरी जा रही हूं। अपनी ही हीनतापर मन करुणा और अनुतापसे भरा आ रहा है। देनेको क्या है मेरे पास, जीजी, तुम्हीं बताओ न ?"

"छिः मेरी पगली अंजन...."

कहते-कहते वसंतका गला भी हर्षके पुलकसे भर आया। और भी दुलारसे अंजनाके शिथिल हो पड़े शरीरको उसने वक्षसे चांप लिया।

"सच कह रही हूं जीजी, मेरा मन मेरे वशमें नहीं है। और रूप ? यह तो टूट-टूटकर बिखरा जा रहा है, धूल-मिट्टी हुआ जा रहा है! शृंगार-सज्जाके छद्म-बंधनमें बांधकर इसे, उन चरणोंपर चढ़ानेको

कहती हो जीजी ? क्या क्षणोंके इस छलसे उन चरणोंको पाया जा सकेगा ? और यदि पा भी गई--तो कै दिन रख सकूँगी ?"

"कैसी बातें करती है, अंजन ? जिस अंजनाके दिव्य रूपको पानेके लिये, स्वर्गके देवता मर्त्यलोकमें जन्म पानेको तरस जांय, उसी अंजनाके हृदयका यह अमृत आज उसकी समर्पणकी अंजुलियोंमें भर आया है ! देखूं, वह कौनसा पुरुषार्थ है, जो रूपके इस अकूल समुद्रको पार कर, नाशकी मझ-धारासे ऊपर उठकर, हृदयके इस अमृतको प्राप्त कर लेगा ! मान-सरोवरकी विरुद्ध-गामिनी लहरोंपर तैरनेवाले कुमार पवनंजयके मानकी परीक्षा है आज रात...।"

अंजनाकी समस्त देह पिघलकर मानो उत्सर्गके पद्मपर, एक अदृश्य जल-कणिका मात्र बनी रह जाना चाहती है। वसंतके वक्षपर सिमटकर वह गांठ हुई जा रही है। उसने बोलती हुई वसंतके ओठोंपर हथेली दाब दी--

"ना....ना....ना....बस करो जीजी। मेरी क्षुद्रताको शरण दो जीजी। कहां है हृदय--जो उसकी बात कह रही हो। मन, प्राण, हृदय--सर्वस्व हार गई हूं ! अपनेको पकड़ पानेके सारे प्रयत्न विफल हो गए हैं। इसीसे पूछ रही हूं कि क्या देकर उन चरणोंको पा सकूंगी ? मैं तो सर्वहारा हो गई हूं, क्षण-क्षण मिटी जा रही हूं, मुझपर दया करो न, जीजी !"

और तभी उस ओरके केलि-सरोवरसे सखियोंके चंचल हास्यका रव सुनाई पड़ा। कि इतनेमें ही लीलाकी तरंगों-सी सखियां इस ओर दौड़ आईं।

"उठो रानी, खेलनेके लिए बालिका अंजनको जाने दो--हिंडोलेकी पेंगें उसकी राह देख रही हैं !" कहकर वसंतने अंजनाको दोनों हाथोंसे झकझोरकर एकदम हलका कर देना चाहा।

चारों ओर घिर आयी सखियोंने सिंधुवार और मल्लिकाके फूलोंसे

अंजनाका अभिषेक कर दिया। 'युवराज्ञी अंजनाकी जय'——मृदु कंठोंका समवेत स्वर हवामें गूंज गया। जयमालाने एक उत्फुल्ल कुमुदोंकी माला अंजनाके गलेमें डाल दी। वसंतके हाथके सहारे उठकर अंजना चली—— धीर-गंभीर और संभ्रमसे भरी। चारों ओर——सखियां और दासियां झुक-झुककर बलायें ले रही हैं। इस सारे रूप, शृंगार, सज्जासे ऊपर उठकर सौंदर्यकी एक मुक्त विभा-सी वह चल रही है। चांद उस सौंदर्यका दर्पण न बन सका——वह उसका भामंडल बन जानेको उसके केश-पाशकी लहरोंपर आ खड़ा हुआ है; पर वहां भी जैसे ठहर नहीं पा रहा है।

केलि-सरोवरके एक ओरके दलोंके ऊपर होकर हिंडोला झूल रहा है। हिंडोलेके एक कोनेमें बाईं पीठिकाके सहारे, एक मोतिया रंगके रेशमी उपधानपर कुहनी टिकाये, गाल एक हथेलीपर धरकर अंजना बैठी है। सहज संकोचवश कुछ मुड़े-से दोनों जानु उसने अपने ही नीचे समेट लिए हैं। पास ही दाईं पीठिकाके सहारे वसंतमाला बैठी है। कुछ सखियां हिंडोलेके आस-पास खड़ी होकर हौले-हौले झूला दे रही हैं। बड़ी ही कोमल रागिणियोंसे वे गीत गा रही हैं। उन रागोंकी मूर्छा पवनपर चढ़कर दिशाओंके तट छू आती है। बढ़ते हुए उल्लासके साथ रागोंका आलाप बढ़ता ही जाता है।

केलि-सरोवरके उस ओर हार-यष्टि बांधकर खड़ी सखियां नाना भंगोंमें नृत्य कर उठीं। मंजीरोंकी पहली ही रणकारसे अंतरिक्षके तारोंमें झंकार भर गई। वीणा, मृदंग और जल-तरंगकी स्वरावलियोंपर समुद्रकी लहरोंका संगीत उतरने लगा; अंतरके कितने ही लोक एक साथ जाग उठे। वायुकी तरंगों-सी वे तन्वंगी बालाएं, संगीतके तालोंपर, शून्यमें चित्र बनाने लगीं। अर्ध उन्मीलित नयनोंसे, देह-यष्टिको अनेक भंगियोंमें तोड़कर, उन्होंने हाथ जोड़कर अपने-आपको निवेदित किया। देहका सारा स्थूल रूप-लावण्य सौंदर्यकी कुछ ही सूक्ष्म रेखाओंमें सिमटकर

जाज्वल्य हो उठा। 'बादल-बेला', 'मयूरी-नृत्य', 'वसंत-लीला', 'अनंग-पूजा', 'प्रणयाभिसार', 'सागर-मंथन', आदि अनेक नृत्य क्रमशः वे बालाएं रचती गईं।

अंजना कभी नृत्यकी भाव-भंगियों और संगीतकी मूर्छनामें विभोर हो आंखें मूंद लेती; और कभी आकाशकी ओर दृष्टि उठाये अपने हाथके लीला-कमलको उंगलियोंके बीच नचाती हुई ग्रह-नक्षत्रोंकी गतियोंसे खेलने लगती। एकाएक उसकी नज़र केलि-सरोवरके जलमें पड़ते तारोंके प्रतिबिंबपर जा पड़ती। ईषत् झुककर हाथके लीला-कमलसे वह जलकी सतहको झकझोर देती। ग्रह-नक्षत्रोंके बिंब उलट-पुलट हो जाते। वह खिलखिलाकर हँस पड़ती। पास खड़ी सखियां अचरजमें भरी देखती रह जातीं। कभी अंजनाकी वे लीलायित भौंहें कुंचित हो जातीं तो कभी गंभीर! तो कभी एक निर्दोष कौतुकसे वह मुस्करा देती। मानो आज नियतिसे ही विनोद करनेको वह उतर पड़ी है।

सिंहपौरपर नौबत बज उठी। रातका दूसरा पहर आरंभ हो गया। सामने दृष्टि पड़ी—गुलाबी कंचुकियोंसे बंधे उद्भिन्न वक्ष देशपर, हाथोंकी अंजुलियोंमें सर्वस्व उत्सर्ग करती हुई, मुद्रित-नयन बालाएं समर्पणके भंगोंमें नत हो गईं। मंजीरोंकी रणकार नीरव हो गई। संगीतकी डूबती हुई मुरवलियां दिशाओंके उपकूलोंमें जाकर सो गईं। एक-एककर सब बालाएं तिरोहित हो गईं।

अटारीके दक्षिणवाले रेलिंगपर अंजना और वसंत खड़ी हैं—छाया-मूर्तियों-सी मौन। विशाल राजप्रांगणमें चारों ओर सन्नाटा छा गया है। नीरवता सघन हो रही है। आकाशके असंख्य तारोंकी उत्सुक आंखें इस छतपर टकटकी लगाये हैं। चारों ओर निस्पंद, अपलक प्रतीक्षा बिछी है। उद्यानकी वन-राजियोंमेंसे, केलि-गृहोंके द्वारोंमेंसे, नारिकेल-

वनके अंतरालोंसे, लता-मंडपोंके द्वारोंसे, सरोवर तटके कदली और माधवी-कुंजोंसे, देव-मंदिरोंके शिखरोंपरसे, सौध-मालाओंकी चूड़ाओंसे—मानो कोई आनेवाला है ! अंधकारमेंसे कोई छायामूर्ति आती दिखाई पड़ती है—और फिर कहीं छाया-चांदनीकी आंख-मिचौनीमें खो जाती है। दक्षिण समीरके अलस झोंकेमें तरु-मालाएं मर्मरित होती रहती हैं। वह शून्यता और भी निबिड़, और भी गंभीर हो जाती है।

'पुंडरीक' सरोवरके गुल्मोंमेंसे कभी कोई एकाकी मेंढ़क टर-टरा उठता है, कोई जल-जंतु विचित्र स्वर कर उठता है। सरोवरकी सतहपर-से कोई एकाकी बिछड़ा पंछी उड़ता हुआ निकल जाता है; पानी छप्-छप् बोल उठता है। झिल्लीका रव इस शून्यताके हृदयका संगीत बन गया है। कभी-कभी दूरपर, प्रहरीके उत्कट शब्दकी ध्वनि, स्तब्धताको और भी भयावह बना देती है।

सुहाग-शय्याके सामनेवाले वातायनमें अंजना चुप बैठी है। पासके रेलिंगपर वसंत खामोश ठुड्डीपर हाथ देकर बैठी है। नई डाली हुई धूपमें धूम्र लहरियां और भी वेगसे उड़ रही हैं। चारों ओर मणि-माणिकोंकी झलमल आभामें नाना भोग-सामग्रियां दीपित हैं ! स्फटिककी चित्रमयी चौकियोंपर रत्नोंकी झारियां शोभित हैं। कंचनके थालोंमें विविध फल और पुष्पहार सजे हैं। अनेक शृंगारके उपादानोंसे भरी रत्न-मंजूषाएं खुली पड़ी हैं। वसंतमालाने कमरेमें घूमकर दीपाधारोंके दीपोंकी जोतको और भी ऊंचा उठा दिया। सुहाग-सेजके चारों ओरके धूप-दानोंमें नवीन धूप डाल दिया। शून्य शय्यामें जा-जाकर धूम्र लहरें विसर्जित होने लगीं। सुहागिनीके प्रतीक्षासे आकुल नयन आकाशमें लोटते ही चले गये..। और तरु-पल्लवोंकी 'ढल-पलमें' तारे खिल-खिलाकर हँस पड़े।

चांद ठीक सौधके शिखरपर आ गया है। चूड़ाके रत्न-दीपमेंसे कांतिकी नीली-हरी किरणें झर रही हैं। दूरपर कुमार पवनंजयके

'अजितंजय-प्रासाद' का शिखर दीख रहा है। उसपर अष्टमीके वक्र चंद्र-सा अरुण रत्न-दीप उद्भासित है। जरा झुककर धीरेसे वसंतने कहा—"देख रही हो अंजन, वह रतनारी चूड़ा—वही है 'अजितंजय प्रासाद' !"—वसंतके इंगितपर अनायास अंजनाकी आंखें उस ओर उठ गईं। पर दर्पकी वह भ्रू-लेखा जैसे वह झेल न सकी। चाहकर भी फिर उस ओर देखनेका साहस वह न कर सकी।

कालका प्रवाह अनाहत चल रहा है। जीवन क्षण-पल घड़ियोंमें कण-कण बिखरकर अवश बह रहा है। यह जो आस-पास सब स्तब्ध-स्थिर दीख रहा है, यह सब उस प्रवाहमें सूक्ष्म रूपसे अतीत और व्यय हो रहा है; सब चंचल है—और क्षण-क्षण मिट रहा है, और नव नवीन रूपोंमें नव-नवीन इच्छाओं और उच्छ्वासोंके साथ फिर उठ रहा है। सब कुछ अपने आपमें परिणमन-शील है। आत्माके अंतरालमें चिरंतन बिछोहकी व्यथा निरंतर घनी हो रही है।

कि लो, सिंह-पौरपर तीसरे पहरकी नौबत बज उठी। फिर हवाके झोंकेमें तरु-मालाएं मर्मरा उठीं और तारे फिर खिलखिलाकर हंस पड़े। अंतरिक्षमें रह-रहकर एक नीरव ध्वनि गूंज उठती है— 'नहीं आये ! नहीं आये !! नही आये !!!" रात ढल रही है। तारे वह रहे हैं, चांद वह रहा है, बादल बह रहे हैं, आकाश बह रहा है, पृथ्वी वह रही है, हवाएं बह रही हैं, अंधकार और प्रकाश बह रहे हैं—। और इसी प्रवाहमें चेतना भी अवश बह रही है। पर भीतर संवेदनकी एक अखंड जोत जल रही है—जो इस प्रवाहको चीरकर ऊपर आया चाहती है; परिणमनके इन सारे जुलूसोंको जो अपने भीतर तदाकार और चिद्रूप कर लेना चाहती है। देहकी दीवारोंमें वह बंदिनी टकरा रही है, पछाड़ें खा रही है। और ऊपर मणि-माणिक्यकी नाना-वर्णी प्रभामें मायाकी चित्र-लीला अविराम चल रही है। संसार-चक्र सतत गति-शील है—।

कि लो, रातके चौथे पहरकी नौबत बज उठी। प्रश्न-चिह्न-सी-सजग, अपने आपमें चिन्मय लौ-सी बाला अंजना वातायनमें बैठी है; इस सारे परिच्छदके बीच वह नितांत निराधार, असहाय और अकेली है—निज रूपमें रमण-शील! रेलिंगपरसे उठकर उसके पास जानेकी वसंतकी हिम्मत नहीं है।..देखते-देखते पश्चिमके वानीर-वनोंमें चांद पांडुर होता दीख पड़ा। तारे क्षीण होकर डूबने लगे। शयन-कक्षके दीपाधारोंमें सुगंधित तैलोंके प्रदीप मंद हो गये। धूप-दानोंपर कोई विरल धूम्र लहरी शून्यमें उलझी रह गई है।

केवल मणि-दीपोंकी म्लान, शीतल विभामें वह विपुल भोग-सामग्रियोंसे दीप्त सुहागकी उत्सव-रात्रि कुम्हला रही है। अस्पर्शित शय्याकी चंपक-कचनार सज्जा मलिन हो गई। कुंद-पुष्पोंकी मसहरी जल-सीकरोंमें भीगकर झर गई है। पूजाकी सामग्री ठुकराई हुई, हतप्रभ, शून्य उन थालोंमें उन्मन् पड़ी है। सब कुछ अनंगीकृत, अवमानित, विफल पड़ा रह गया है। पुजारिणी स्वयं चिर प्रतीक्षाकी प्रतिमा बनी झरोखेमें बैठी रह गई है। एक गंभीर पराजय, अवसन्नता, म्लानता चारों ओर फैली है।

और भीतर कक्षकी शय्यापर आत्माकी अग्नि-शिखा नग्न होकर लोट रही है!

..संध्यामें सीढ़ियोंपर बिछाये गये प्रफुल्ल कुमुदिनियोंके पांवड़े अछूते ही कुम्हला गये! पर वह नहीं आया—इस सुहाग-रात्रिका अतिथि नहीं आया!

और लो, राज-प्रांगणकी प्राचीरोंके पार ताम्र-चूड़ बोल उठा।

[८]

राजपरिकरमें बिजलीकी तरह खबर फैल गई: "देव पवनंजयने नवपरिणीता युवराज्ञी अंजनाका परित्याग कर दिया!"

और दिन चढ़ते न चढ़ते संपूर्ण आदित्यपुर नगर इस संवादको पाकर स्तब्ध हो गया। उत्सवकी धारा एकाएक भंग हो गई। प्रातःकाल ही राज-मंदिरसे लगाकर नगरके चारों तोरणोंतक वाद्य, गीत-नृत्यकी जो मंगल ध्वनियां उठने लगी थीं, वे अनायास एक गंभीर उदासीमें डूब गईं। प्रजा द्वारा सात दिनके लिये आयोजित विवाहोत्सवके उपलक्ष्यमें नगरमें जहां-तहां तोरण, मंडप, वेदियां रची गई थीं; अनेक लता-फूल, वनस्पतियों के द्वार बने थे; ध्वजाओं और वंदनवारोंके सिंगारसे नगर छा गया था; उस सारी सजावटमें एक गहरा सन्नाटा गूंज रहा है। मानो नियतिका व्यंग्य-अट्टहास अंतहीन हो गया है। केवल बड़े-बड़े काँसेके धूप-दानोंमें जहां-तहां सुगंधित धूपका धूम्र मौन-मौन लहराता-सा उठ रहा है। मंदिरोंके पूजा-पाठ और घंटा-रव एकाएक मूक हो गये। देवताओंकी वीतराग पाषाण प्रतिमाएं, और भी अधिक वीतरागताके रहस्यसे भरकर मुस्करा उठीं! नागरिकोंमें चारों ओर अपार आश्चर्य, निरानंद और कौतूहल छा गया है।

राज-प्रांगणमें गंभीर आतंकका सन्नाटा फैला है। राज-मंदिरोंपर घने विषादका आवरण पड़ गया है। प्रासाद-मालाओंके छज्जोंपर केवल कबूतरोंकी गुटुर-गुटुर सुनाई पड़ती है, जो उस उदासीको और भी सघन और मार्मिक बना देती है। सिंहपौरपर केवल समय-सूचक नौबत कालके अनिवार चक्रकी निर्मम सूचना देती है।

मनुष्यकी वाणी ही आज मानों अपराधिनी बन गई है। कभी कोई एकाकिनी प्रतिहारी, विशाल राज-प्रांगणको पारकर एक सौधसे दूसरे सौधको जाती दिखाई पड़ती है। जीवन, कर्म, व्यापार, चेष्टा सब जड़ीभूत हो गया है। चारों ओर फैला है आतंक, अपराध, क्षोभ, रोष—समस्त राज-कुलके प्राण विकल पश्चात्तापसे हाय-हाय कर उठे हैं। नागरिकाओं और कुल-कन्याओंके वक्षमें एक शब्दहीन रुलाई गूंज रही है। प्राण-प्राणके तटोंमें जाकर अकल्पित दुःखकी यह कथा अशेष हो गई है।

यह सब इसलिए कि यह कोई उड़ती हुई ख़बर नहीं थी। यह कुमार पवनंजय द्वारा स्वयं घोषित की गई घोषणा थी। कुमारकी जिस गुप्त प्रतिहारीने, उनकी निश्चित आज्ञाओंके अनुसार इस घोषणाको नगरमें फैलाया, उसके पास एक लिखित पत्रिका थी जिसपर कुमारके हस्ताक्षर थे। हवाके वेगसे प्रतिहारी घूम गई। लोग अवाक् रह गये—और देखते-देखते प्रतिहारी ग़ायब हो गई। प्रजामें जन-श्रुतिकी तरह यह बात प्रसिद्ध है कि 'देव पवनंजयकी हठ टलती नहीं है; उनका वचन पत्थरकी लकीर होता है।' फिर वह तो लिपि-बद्ध घोषणा थी—जो कुमारने स्वयं आग्रह-पूर्वक प्रकाशित की थी।

महादेवी केतुमतीके आंसुओंका तार नहीं टूट रहा है। आस-पास आत्मीय, कुटुंबी, परिजन, दासियां, बारंबार संबोधनके हाथ उठाकर रह जाते हैं। बोल किसीका फूट नहीं पाता है। क्या कहकर समझायें। सब निर्वाक् हैं और हृदय सभीके रुद्ध हैं।

महाराज प्रह्लाद राज-मंत्रियोंके साथ सवेरेसे मंत्रणा-गृहमें बंद हैं। प्रमुख द्वार भीतरसे रुद्ध है, घंटों हो गये नहीं खुला। महाराजने सवेरे ही स्वयं महामंत्री सौमित्रदेवको भेजा था कि जाकर वे पवनंजयको लिवा लायें। पर महामंत्री निराश लौटे; कुमार अपने महलमें नहीं थे। महाराज स्वयं पालकीपर चढ़कर गये। 'अजितंजय-प्रासाद' का एक-एक कक्ष महाराज घूम गये पर कुमारका कहीं पता नहीं था। अश्व-शालामें पवनंजयका प्रियतम तुरंग 'वैजयंत' अपनी जगहपर नहीं था। महलके द्वारके दोनों ओर प्रतिहारियां क़तार बांधे नत खड़ी थीं। महाराज के पूछनेपर सिर उठाये और भयसे थरथराती हुई वे मूक रह गईं। वे रो पड़ीं और बोल न सकीं। महाराज उदास होकर लौट आये। चारों दिशाओंमें सैनिक दौड़ाये गये, पर दिन डूबने तक भी कोई संवाद नहीं आया।

और विषादके बादलोंसे ढककर जब आस-पासका सारा राज-

वैभव मानों भू-लुंठित हो गया है, तब यह 'रत्नकूट-प्रासाद' इस सबके बीच खड़ा है---वैसा ही अचल, उन्नत, दीप्त रत्नोंसे जगमगाता हुआ ! इसका तेज ज़रा भी मंद नहीं हुआ है । दिनकी चिलचिलाती धूपमें वह और भी प्रखर, और भी प्रज्ज्वलित होता गया है । कोई कांतिमान तरुण योगी मानों समाधिस्थ है; ओठोंकी वीतराग मुस्कराहटमें एक गहन रहस्यमयी करुणा है ।

परिजनोंकी आंसूभरी आंखें धूपमें दहकते उस शिखरकी ओर उठती हैं, पर ठहर नहीं पातीं; ढुलक जाती हैं, और आंसू सूख जाते हैं । इस प्रज्ज्वलित अग्नि-मंदिरके पास जानेका साहस किसीको नहीं हो रहा है । सारे मनोंकी करुणा, व्याकुलता, सहानुभूति अनेक धाराओंमें उसके आस-पास चक्कर खाती हुई लुप्त हो जाती है ।

दासियां और प्रतिहारियां महलकी सीढ़ियों और खंडोंमें पहेलियां बुझाती हुई बैठी हैं---पर ऊपर जानेकी हिम्मत नहीं है ।

छतवाले उसी शयन-कक्षमें बीचके बिल्लौरी सिंहासनकी दाईं पीठिकाके सहारे अंजना अध-लेटी है । पास ही बैठी है उदास वसंत; रो-रोकर चेहरा उसका म्लान हो गया है और आंखें लाल हो गई हैं । पीछे खड़ी रत्न-माला मयूर-पंखका विपुल विजन धीरे-धीरे झल रही है ।

अंजनाकी देहपरसे राग-सिंगार, आभरण मानों आप ही झरे पड़ रहे हैं । उन्हें उतारनेकी चेष्टा नहीं की गई है, वे तो निष्प्रभ होकर जैसे आप ही खिर रहे हैं । और जब वे पहनाये गये थे तब भी कब सचेष्टताके साथ सम्हाले गये थे । सुषमाके उस सरोवरमें वे तो आप ही तैरने लगे थे और धन्य हो गये थे । दिन भर आज खुली छतमें शय्याके पास बैठ, अंजनाने सूर्यास्नान किया है । उसमें सारे रत्नाभरण और कुसुमाभरण उस देहसे उठती ज्वालाओंमें गलित-विगलित होते गये हैं ।

अब सांझ होते-होते वसंतका वश चला है कि वह उसे उठाकर कक्षमें ले आई है । बिल्लौरी सिंहासनपर सरोवरके जल-बिंदुओंसे आर्द्र, सद्यः

तोड़े हुए कमलके पत्तोंकी शय्या बिछाकर उसपर अंजनाको उसने लिटाना चाहा, पर वह बैठी है। पास ही मीनाकी चौकीपर पन्नेके चषकोंमें कर्पूर, मुक्ता और चंदनके रस भरे रखे हैं; पर उन अंगोंने लेप नहीं स्वीकारा। सुगंधि जलों और रसोंकी झारियां मुंह ताकती रह गईं।

रत्नमालाने कल घुमा दी; पन्नेके कल्प-वृक्षोंसे निकलकर शीतल सुगंधित नीहार-लोक कमरेमें छा गया। अंजनाके तप्तोज्ज्वल मुखपर अपार शांति है। गलित-स्वर्ण-सी पसीनेकी धारें कहीं-कहीं उस अरुणाभामें सूख रही हैं। सघन बरौनियोंके भीतर घन पल्लव-प्रच्छाय किसी अतलांत वन्य वापिकाके जल-सी वे आंखें कभी उठकर लहरा जाती हैं और फिर ढुलक जाती हैं।

अंजनाके माथेपर हलकेसे हाथ फेरती हुई वसंत बोली—

"अंजन, तेरे हृदयके अमृततक नहीं पहुंच सका वह अभागा पुरुष ! इसीसे तो झुंझलाहटकी एक ठोकर शून्यमें मारकर वह चला गया है। ....पर नारीकी देह लेकर—"

कहते-कहते फिर वसंतका गला भर आया ; विह्वल होकर उसने अंजनाको अपनी गोदमें खींच लिया और उसका मुख वक्षमें भर मुँदी आंखोंके वे बड़े-बड़े पलक चूम लिए। उस ऊष्मामें अंजनाकी वे सुगोल सरल आंखें भरपूर खुलकर बसंतकी आंखोंमें देख उठीं और फिर ढुलक गईं। मुहूर्त मात्रमें वह वसंतको अपने अंतर्लोकमें खींच ले गयी।

"भूल हो गई है जीजी, मुझीसे भूल हो गई है। मैंने अपनी आंखोंसे देखा था कल रात—उस इंद्रनील शिलाके फ़र्शमें ! छायाकी उस कन्याको मैं अपने सुख-सुहागके गर्वमें पहचान न सकी। पर मैं ही अभागिनी तो थी वह ! टूटती ही गई—टूटती ही गई। अनंत लहरोंमें चूर-चूर होकर मैं बिखर गई। और मैंने देखा, वे आलोकके चरण आ रहे हैं ! पर मैं पहुंच न सकी जीजी उनतक। देखो न वे तो चले ही आ रहे हैं, पर मैं तो चूर-चूर हुई जा रही हूं। देखो न जीजी मैं अभागिन।"

कहते-कहते अपने दोनों हाथ अंजनाने शून्यमें उठा दिये। और वसंतने देखा, उसकी दोनों आंखोंसे आंसू अविराम झर रहे हैं। लगा कि वह ध्वनि मानो किसी सुदूरकी गंभीर उपत्यकासे आ रही थी।

"अंजन—मेरी प्यारी अंजन ! यह कैसा उन्माद हो गया है तुझे ? मेरी अंजन...."

कहते-कहते वसंतने अंजनाके दोनों उठे हुए हाथोंको बड़ी मुश्किलसे समेटकर, फिर उसके चेहरेको अपने वक्षमें दाब लिया।

"पर जीजी भूल मुझीसे हुई है। बार-बार तुमसे मनकी बात कहनी चाही है—पर न कह सकी हूं। मोहकी मूर्छामें अपनी तुच्छताको भूल बैठी, इसीसे यह अपराध हो गया है, जीजी ! देखो न, वे चरण तो चले ही आ रहे हैं, पर मैं ही नष्ट हुई जा रही हूं—टूटी जा रही हूं। उन चरणोंके आनेतक यदि चुक ही जाऊं तो मेरा अपराध उनसे निवेदनकर, मेरी ओरसे क्षमा मांग लेना, जीजी !"

वसंतसे बोला नहीं गया। उसने अंजनाका बोलता हुआ मुंह और भी भींचकर छातीसे दाब लिया, फिर धीमेसे कहा—

"चुप..चुप..चुपकर अंजनी"

कुछ क्षण एक गहरी शांति कमरेमें व्याप गई। तब अंजनाको अपनी गोदपर धीमेसे लिटाकर, वसंत हलके हाथसे उसके ललाटपर चंदन-कर्पूर और मुक्ता-रसका लेप करने लगी।

[६]

यह है कुमार पवनंजयका 'अजितंजय-प्रासाद'। राजपुत्रने अपने चिर दिनके सपनोंको इसमें रूप दिया है। अबोध बालपनसे ही कुमारमें एक जिगीषा जाग उठी थी—वह विजेता होगा। वय-विकासके साथ यह उत्कंठा एक महत्वाकांक्षाका रूप लेती गई। ज्ञान-दर्शनने सृष्टिकी

विराटताका वातायन खोल दिया। युवा कुमारकी विजयाकांक्षा सीमासे पार हो चली: वह मनहीमन सोचता—वह निखिलेश्वर होगा—वह तीर्थंकर होगा !

इस महलमें कुमारने अपने उन्हीं सपनोंको सांगोपांग किया है। महाराजने पुत्रकी इच्छाओंको साकार करनेमें कुछ भी नहीं उठा रखा। विपुल द्रव्य खर्च कर, द्वीपांतरोंके श्रेष्ठ कलाकारों और शिल्पियों द्वारा इस महलका निर्माण हुआ है।

दूरपर विजयार्द्धकी उत्तुंग शृंग-मालाएं आकाशकी नीलिमामें अंतर्धान हो रही हैं। और उनके पृष्ठपर खड़ा है यह गर्वोन्नत 'अजितंजय-प्रासाद',—अपनी स्वर्ण-चूड़ाओंसे विजयार्धकी चोटियोंका मान मर्दन करता हुआ।

पार्वत्य-प्रदेशके ठीक सीमांतपर, जहांसे समतल भूमि आरंभ होती है, एक विस्तृत टीलेपर यह महल बना है। राज-मंदिरसे यहांतक आनेके लिये विशेष रूपसे एक सड़क बनी है; दूसरा कोई रास्ता यहां नहीं पहुंच सकता। महलके सामने ऊंचे तनेवाली सघन वृक्ष-राजियोंसे भरा एक रम्य उद्यान है। और उसके ठीक पीछे, पादमूलमें ही आ लगा है वह पहाड़ियोंसे भरा बीहड़ जंगल। किसी प्राचीर या मुंडेरसे उसे अलग नहीं किया गया है। महलके पूर्वीय वातायन ठीक उसीपर खुलते हैं। कृत्रिमका यह सीमांत है, और प्रकृतिका आरंभ। ठीक महलकी परिखापर वे भयावनी वन्य-झाड़ियां झुक आई हैं। महलको चारों ओरसे घेरकर यह जो कृत्रिम परिखा बनी है, वह देखनेमें बिल्कुल प्राकृतिक-सी लगती है। बड़े-बड़े भीमाकार शिलाखंड और चट्टानें उसके किनारे अस्त-व्यस्त बिखरे हैं, जिनमें पलाश और करौदोंकी घनी झाड़ियां उगी हैं। विशद परिखाके अंदर हरा-नीला पुरातन जल बारहों महीने भरा रहता है; बड़े-बड़े कछुए, अजगर, मच्छ और केंकड़े उसमें तैरते दिखाई पड़ते हैं।

इस परिखाके बीच कज्जल और भूरे पाषाणोंके आठ विशाल

दिग्गजोंकी कुर्सी बनी है, जिसपर 'विजेता' का यह प्रासाद झूल रहा है। नौ खंडोंके इस महलमें चारों ओर अगणित द्वार-खिड़कियां सदा खुली रहती हैं; जिनमेंसे आर-पार झांकता हुआ आकाश मानों खंड-खंड होता दिखाई पड़ता है। अनेक पार्वत्य नदियोंके प्रवाहोंमें पड़े हुए, निरंतर लहरोंके-जल-संघातसे चित्रित हरे, नीले, जामुनी और भूरे पाषाणोंसे इस महलका निर्माण हुआ है। पहले ही खंडमें चारों ओर महलको घेरकर जो मेखला-सी गवाक्ष-माला बनी है, उसके संबलोंमें सप्त-धातुकी मोटी-मोटी श्रृंखलाएं लटक रही हैं, जो कुर्सीके दिग्गजोंके कुम्भस्थलोंको बांधे हुए हैं। महलके सर्वोच्च खंडपर पंच मेरुओंके प्रतीक स्वरूप सोनेके पांच भव्य शिखर हैं, जिनपर केशरिया ध्वजाएं उड़ रही हैं। सामनेकी ओर परिखाको पाटता हुआ जो महलका प्रवेश-द्वार है, उसके दोनों ओर सजीव से लगनवाले सोनेके विशाल सिंह बने हैं।

पीछेके वन्य-प्रदेशमें दूरपर कुछ पहाड़ियोंसे घिरी एक प्राकृतिक झील पड़ी है। गुहाओंमें झरती हुई पानीकी झिरियां बनोंमें होकर झीलमें आती रहती हैं, जिससे झीलका पानी कभी सूखता नहीं है। झीलके दोनों ओरके तट-भागोंमें सघन अटवियां फैली हैं। महलके पूर्वीय वातायनपर खड़े होकर देखा जा सकता है कि कभी चांदनी रातमें या फिर किसी शिशिरकी दोपहरीमें सिंह झीलके किनारे पानी पीने आते हैं। वह प्रदेश प्रायः निर्जन-सा है, क्योंकि वहींसे विजयार्धकी वे दुर्गम खाइयां और विकट अरण्य-वीथियां शुरू हो गई हैं—जो आस-पासके जन-समाजमें प्रायः अगम्य मानी जाती हैं और जिनके संबंधमें लोकमें तरह-तरहकी रहस्य भरी कथाएं प्रचलित हैं।

भय और मृत्युकी घाटियोंपर आरूढ़ यह 'जेता'का स्वप्न-दुर्ग है। देव पवनंजय यहां अकेले रहते हैं—सिर्फ़ कुछ प्रतिहारियोंके साथ। पुरुष यहां वही अकेला है—दूसरा कोई नहीं। दिशाएं उसकी सहचरियां हैं और सपने उसके साथी।

पौ अभी नहीं फटी है। प्रतिहारियां दालानमें ऊंघ रही हैं। द्वारके सिंहसे सटकर जो पुरुष सीढ़ियोंपर बैठा है, वह अखंड रात जागता बैठा रहा है। अभी-अभी सवेरेकी ताजी हवामें उसकी आंख झपक गई है।

अचानक घोड़ेकी टाप सुनकर वह पुरुष चौंका। उसने गर्दन ऊपर उठाकर देखा। घोड़ेसे उतरकर पवनंजय क्षण भर सहम रहे। फिर एक झटकेके साथ वे आगे बढ़ गये और दुर्निवार वेगसे महलकी सीढ़ियां चढ़ गये। उसी वेगमें बिना मुड़े ही कहा——

'ओह, प्रहस्त ! अ. . . . आओ. . . ."

प्रतिहारियां हड़बड़ाकर उठीं और अपने-अपने स्थानपर प्रणिपातमें नत हो गईं। 'देव पवनंजयकी जय'का एक कोमल नाद गूंज उठा। उस भव्य दीवानखानेमें अनेक स्तंभों और तोरणोंको पार करते हुए तीरके वेगसे पवनंजय सीधे उस सिंहासनपर जा पहुँचे, जो उस सिरेपर बीचों-बीच आसीन था। अमूल्य नागमणियोंसे इस सिंहासनका निर्माण हुआ है। महानीलमणिके बने नागोंके विपुलाकार फणा-मंडलने इसपर छत्र ताना है, जिसमें गज-मुक्ताओंकी झालरें लटक रही हैं। सहस्र-नागके फनों और वराहोंकी पीठपर यह उठा हुआ है। पैरके पायदानके नीचे चित-कबरे पाषाणोंके दो विशाल सिंह ज़बान निकालकर बैठे हैं; और किसी तीव्र आग्नेय मणिसे बनी उनकी आंखें आतंक उत्पन्न करती रहती हैं। सिंहासनकी मूल वेदिकाके दोनों ओर जो कटघरे बने हैं, उनमें क्रमसे सूर्य और चंद्रकी अनुकृतियां बनी हैं।

पीछेकी दीवारमें रत्नोंका एक उच्च वातायन है, जिसमें आदि चक्रवर्ती भरतकी एक विशाल सूर्य-कान्त मणिकी प्रतिमा विराजमान है। उसके पाद-प्रान्तमें चक्र-रत्न नाना रंगी प्रभाओंसे जगमगाता घूम रहा है।

उधर उदयाचलपर 'अजितंजय-प्रासाद'के भामंडल-सा सूर्य उदय हो रहा है।

छत्रके फणा-मंडलपर कुहनी रखकर पवनंजय खड़े रह गये। सुदृढ़ प्रलंबमान देह-यष्टिपर कवच और शस्त्रास्त्र चमक रहे हैं। कुंचित अलकावलि अस्तव्यस्त बिखरी है और उसपर एक कुम्हलाये श्वेत वन्य-फूलोंकी माला पड़ी है। ललाटपर बालोंकी एक लट दोनों भौहोंके बीच कुंडली मारी हुई नागिन-सी झूल रही है; लाख हटानेसे भी वह हटती नहीं है।

प्रहस्त चुप-चाप पीछे चले आये थे। उन्हें एक हाथके इंगितसे ऊपर बुलाते हुए लापरवाह मुस्कराहटसे पवनंजय बोले—

"आओ प्रहस्त, कुशल तो है न....?"

प्रहस्त ऊपर चढ़कर अपने सदाके आसनपर बैठ गये, धीरेसे बोले—"साधुवाद पवन! कुशल तो अब तुम्हारी कृपाके अधीन है। मेरी ही नहीं, समस्त आदित्यपुरके राजा और प्रजाकी कुशल तुम्हारे भ्रू-निक्षेप की भिखारिणी बन गई है!"

प्रहस्तने देखा पवनंजयके चेहरेपर गहरे संघर्षकी छाया है। वह शून्यसे जूझ रहा है। अपनी ही छायाके पीछे वह भाग रहा है। उसके पैर धरतीपर नहीं हैं—वह अधरमें हाथ-पैर मार रहा है। वह चट्टानोंसे सिर मारकर आया है। उसका अंग-अंग चंचल और अधीर है। अपने भीतरकी सारी कशमकशको भौहोंमें सिकोड़कर पवनंजयने उत्तर दिया—

"अधीन! अधीन कुछ नहीं है, प्रहस्त। कोई किसीके अधीन नहीं है। अपने सुख-दुख, जन्म-मरणके स्वामी हम आप हैं। मोहसे हमारा ज्ञान-दर्शन आच्छन्न हो गया है; इसीसे हम निज स्वरूपको भूल बैठे हैं। अपना स्वामित्व खो बैठे हैं, इसीसे यह अधीनता और दयनीयताका भाव है। किसीकी गति-विधि दूसरेपर निर्भर नहीं। वस्तु-मात्र अपने ही स्वभावमें परिणमन-शील है; और मेरी तो क्या बिसात स्वयं तीर्थंकर और सिद्ध भी उसे नहीं बदल सकते...."

"ठीक कह रहे हो पवन! वह तो हमारे ही अज्ञानका दोष है। पिछले कुछ दिनोंमें तुम जिस गुणस्थानतक पहुंच गये हो वहांतक हमारी

गति नहीं। सारे संबंधोंसे परे तुम तो निश्चय-ज्ञानी हो गये हो। और हम तो साधारण संसारी मानव हैं; राग-कषाय, मोह-ममता, दया-करुणासे अभिभूत हैं। तुम सम्यक्-द्रष्टा हो गये हो—और मैं मिथ्यात्वोंसे प्रेरित लोकाचारकी व्यावहारिक वाणी बोल रहा हूं। वह तुम्हारे निकट कैसे सच हो सकती है, पवन! मेरी धृष्टताके लिए मुझे क्षमा कर देना।"

इस्पातके कवचमें बंधा पवनंजयका वक्ष अभी भी रह-रहकर फूला आ रहा था। मानों भीतर कुछ घुमड़ रहा है जो सीना तोड़कर बाहर आया चाहता है। आंखें उसकी लाल हुई जा रही हैं—मस्तकमें आकर खून पछाड़ें खा रहा है। प्रहस्तका साहस नहीं है कि इस पवनंजय से बैठनेको कहे—

"अपनी पहोंचके बारेमें मैं किसीका मत सुननेको ज़रा भी उत्सुक नहीं हूं। क्योंकि सिद्धि सारे मतामतसे परे है। मैं तो पदार्थकी स्वतंत्र सत्ताकी बात कह रहा था। पदार्थका स्वभाव मेरी पहोंचकी अपेक्षा नहीं रखता। वस्तुपर मैं अपनेको लादना नहीं चाहता। ममकारसे परे हटाकर ही सत्ताके निसर्ग रूपका दर्शन हो सकता है। कहना चाहता हूं, किसीके भी प्रति दायित्ववान होना निरा दंभ है, और मैं उससे छुट्टी चाहता हूं! स्वयं नहीं बंधना चाहता हूं, इसीसे किसीको बांधकर भी नहीं रखना चाहता। विजयार्धकी चोटियोंको अपनेमें डुबाकर भी यह आकाश वैसा ही निर्लेप है; और वे चोटियां अपनेको खोकर भी वैसी ही उन्नत हैं—वैसी ही अम्लान! यही मेरा निस्संग मुक्ति मार्ग है। कोई इसे क्या समझता है—यह जाननेकी चिंता मुझे ज़रा भी नहीं है, यह तुम निश्चय जानो, प्रहस्त!"

"और उस निःस्संग मुक्ति-मार्गपर कितनी दूर अपनी जय-ध्वजा गाड़कर अभी लौटे हो, पवन? शायद 'रत्नकूट-प्रासाद' तक पहुँचनेके लिये तुम्हें कई दुर्लंघ्य पर्वत और समुद्रोंको पार करना पड़ा है!

तुम्हारी यह परेशान सूरत और ये बिखरी अलकें इस बातकी साक्षी दे रही हैं। योद्धाका अभेद्य कवच अपनी जगहपर है, पर माथेपर शिरस्त्राण नहीं है और खड्ग-यष्टिमें खड्ग नहीं है। अंजनापर विजय पा लेनेके बाद शायद योद्धा इनकी ज़रूरतसे उपरत हो गया है!"

एक ज़ोरके लापर्वाह झटकेसे सिरके बालोंको झकझोरकर पवनंजय सिंहासनकी पीठके सहारे जा खड़े हुए और दोनों बाहोंको छत्रके फणा-मंडलपर पूरा पसार दिया। भौहोंके कुंचनमें अपनेको सम्हालते हुए दीवान-खानेके द्वारकी ओर उंगली उठाकर बोले—

"उस ओर देखो प्रहस्त! विजयार्द्धके शृंगोंपर नवीन सूर्यका उदय हो रहा है। हर नवीन सूर्योदयके साथ मैं नवीन जय-यात्राका संकल्प करता हूं। जो मंज़िल विगत हो चुकी है—उसका अब क्या ज़िक्र और कैसी चिंता? दिनों बीत गये उस कथाको। विदा होनेसे पहले मान-सरोवरके तटपर एक शिला-चिह्न गाड़ आया था। उस अतीत क्षणकी याद उसे कुछ हो तो हो; चाहो तो जाकर उससे पूछो। पर समयके प्रवाह-में अब तो वह भी उखड़ गया होगा। सत् पल-पल उठ रहा है—मिट रहा है—और अपने निज रूपमें ध्रुव होते हुए भी वह प्रवहमान है। सत्ता स्वतंत्र है और निरंतर गति-शील है। विगत, आगत और अनागतसे परे वह चल रही है। प्रगति-मार्गका राही पीछे मुड़कर नहीं देखता। परंपरा राग-ममकारके कारण है—और उससे मैं छुट्टी ले चुका हूं। जो पल ठीक अभी बीत चुका है, उसका ही मैं नहीं हूं तो कलका क्या ज़िक्र—?"

"मेरी धृष्टताको क्षमा करना पवनंजय, एक बातसे सावधान किया चाहता हूं। आत्म-स्वातंत्र्यके इस आदर्शकी ओटमें कहीं दुर्बलका हीन अहंकार न पल रहा हो? आत्म-रमणके सुन्दर नामके आवरणमें व्यक्तिकी उच्छृंखल इच्छाओंका नग्न प्रत्यावर्तन न चल रहा हो? आत्मा और अहंका अंतर जानना ही सबसे बड़ा भेद-विज्ञान है। स्व-परके भेद-

विज्ञानमें दंभ और स्वार्थको काफी अवसर हो सकता है। आत्मा मात्र स्व है और अनात्मा मात्र पर है। अनात्म शरीरके उपचारसे अन्यकी आत्माको 'पर' कहकर दायित्वसे मुँह मोड़ना स्वार्थीका पलायन है! वह भीरुता है—वह निर्वीर्यता और असामर्थ्य का चिह्न है। सबसे बड़ा ममकार अपने 'मैं' को लेकर ही है! सबको त्यागकर जो अपने मैंको प्रस्थापित करने में लगा है, वह वीतरागी नहीं; वह सबसे बड़ा भोगी और रागी है। वह ममताका सबसे बड़ा अपराधी है। अपने 'मैं'को जीत लो, और सारी दुनिया विजित होकर तुम्हारे चरणोंमें आ पड़ेगी। मुक्ति विमुखता नहीं है, पवन, वह उन्मुखता है। अपने आपमें बंद होकर शून्यमें भटक जानेका नाम मुक्ति नहीं है; समग्र चराचरको अपने भीतर उपलब्ध कर लेना है—या कि उसके साथ तदाकार हो जाना है। इस 'मैं'को मिटा देना है, बहा देना है, अणु-अणुमें रमाकर एक-तान कर देना है—?' बीच हीमें अधीर होकर पवनंजय बोल उठे—

"मुक्तिका मार्ग किसी निश्चित सड़कसे नहीं गया है, प्रहस्त। मेरा मार्ग तुमसे भिन्न हो सकता है। आत्म-साधनाका मार्ग हर व्यक्तिका अपना होता है; मित्रकी सलाह उसमें कुछ बहुत काम नहीं आती। अपना दर्शन अपने तक ही रहने दो तो अच्छा है। दूसरोंपर वह लादना भी एक प्रकारका दुराग्रह ही होगा।"

"तो अपनी एक जिज्ञासाका उत्तर मैं योगीश्वर पवनंजयसे पाया चाहता हूं—फिर यहांसे चला जाऊंगा। राग-ममकारसे परे सत्ताकी स्वतंत्रताकी प्रतीति जिस पवनंजयने पा ली है—उसके निकट किसी भी पर वस्तुके ग्रहण और त्यागका प्रश्न ही क्यों उठ सकता है? जिस अंजना-का ग्रहण उनके निकट अप्रस्तुत है, उसके त्यागकी घोषणा करनेका मोह उन्हें क्यों हुआ? और जिस मंज़िलकी समाप्ति वे मानसरोवरके तटपर ही चिह्नित कर आये थे—इतने दिनों बाद परसों फिर आदित्यपुर नगरमें उसे घोषित करनेका आग्रह क्यों?"

पवनंजयके ललाटकी नसें तनी जा रही थीं। अनजाने ही वे मुट्ठियां बंध गईं, भौहें तन गईं। कड़ककर एकाएक वे बोले—

"पवनंजयकी हर भूल उसका सिद्धांत नहीं हो सकती। और व्यक्ति पवनंजयकी हर ग़लतीके लिये क़ैफियत देनेको विजेता पवनंजय बाध्य नहीं है। सिद्धांत व्यक्तिसे बड़ी चीज़ है! मैं व्यक्तियोंकी चर्चामें नहीं उलझना चाहता। व्यक्ति-जीवन अवचेतनके अँधेरे स्तरोंमें चलता है। और देखो प्रहस्त, एक बात तुम और भी जान लो; जिस अपने सखा पवनंजयको तुम चिर दिनसे जानते थे, उसकी मौत मानसरोवर तटपर तुम अपनी आंखों आगे देख चुके हो। उसे अब भूल जाओ यही इष्ट है। और भविष्यमें उस पवनंजयकी खोजमें तुम आये तो तुम्हें निराश होना पड़ेगा—"

कहकर दोनों हाथसे अभिवादन किया और बिना प्रत्युत्तरकी राह देखे पवनंजय सिंहासनसे नीचे कूद गये। उसी वेगमें सनसनाते हुए दीवानखाना पार किया और आयुधशालाका द्वार खोल नीचे उतर गये!

प्रहस्तकी आंखोंमें जल भर आया। वह चुप-चाप वहांसे उठकर धीरे-धीरे चला आया।

[१०]

महादेवी केतुमतीका कक्ष।

पहर रात बीत चुकी है। महारानी पलंगपर लेटी हैं। सिरहाने एक चौकीपर महाराज चिंतामग्न, सिर झुकाये बैठे हैं। कुहनी शय्यापर टिकी है और हथेलीपर माथा ढुलका है। कभी-कभी रानीकी अथाह व्यथाभरी आंखोंमें वे अपनेको खो देते हैं। रानीकी आंखें प्रश्न बनकर उठती हैं—उत्तरमें राजा ख़ामोश आंसूसे ढल पड़ते हैं। इस बेबूझतामें

वचन निरर्थक हो गया है, बुद्धि गुम है। चारों ओर विपुल वैभवकी जगमगाहट परित्यक्त, म्लान और अवमानित होकर पड़ी है। रत्न-दीपोंका मंद आलोक ही उस विशाल कक्षमें फैला है।

एकाएक द्वार खुला। देखा, पवनंजय चले आ रहे हैं—अप्रत्याशित और अनायास। महाराजने चौंककर सिर उठाया। महादेवी माथेपर आंचल खींचती हुई उठ बैठीं। पवनंजय बिल्कुल पास चले आये। चुपचाप विनयावनत हो पिताके चरणोंमें नमन किया। फिर मांके पैर छुए और पलंगके किनारे बैठ गये। कुमारकी वे गर्विणी आंखें उठ नहीं सकीं—एक बार भी नहीं। मूर्तिवत जड़ वे बैठे रह गये हैं। हाथकी अंगुलियां मुट्ठीमें बंध आना चाहती हैं, पर बंध नहीं पा रही हैं; वे चंचल हैं और कांप रही हैं। माता और पिता एकटक पुत्रका वह चेहरा देख रहे हैं, जो उस नम्रतामें भी दृप्त है। भय और विषादकी गहरी छायासे वह मुख अभिभूत है। मोतियोंकी हलकी-सी लड़ उन कुटिल अलकोंको बांधनेका विफल प्रयत्न कर रही है। एक गहरा जामुनी उत्तरीय कंधेपर पड़ा है। देह निराभरण है; केवल एक महानील मणिका वलय बाहीं भुजापर पड़ा हुआ है।

पिताने बालपनसे ही कुमारको बहुत माना है। अपार मान-संभ्रमके क्रोड़में उन्होंने पवनंजयको परवरिश किया है। पवनकी इच्छाके ऊपर होकर महाराजकी कोई इच्छा नहीं रही है। पवनकी हर उमंग वे दोनों हाथोंसे झेलते थे। और उसकी हर अनहोनी मांगको पूरा करनेके लिए सारा राज-परिकर हिल उठता था। राजाको पवनमें देवताकी असाधारणताका आभास होता था; और इसीलिए कुमारका कोई भी कृत्य उनके निकट शिरोधार्य था। उसमें मीन-मेख नहीं हो सकती थी। पर अंजना-सी वधुका त्याग—? महाराजकी बुद्धि सोचनेसे इनकार कर रही थी। उन्हें विश्वास नहीं हो सकता था कि पवन यह कर सकता है। और यह पवन भी सामने प्रस्तुत है! चाहें तो पूछ सकते हैं। नहीं, पर

वह उनका बुलाया नहीं आया है। पहर रात बीतनेपर अंतःपुरके महलमें, वह मांसे मिलनेको ही शायद चुप-चाप आ गया है।

राजाके मनमें कोई प्रश्न नहीं उठ रहा है; वे कोई कैफ़ियत नहीं चाहते। उसकी कल्पना भी उन्हें नहीं हो सकती है। बस, वे तो इस चेहरेको देखकर व्यथासे भर आये हैं। इस लाड़िले मुखड़ेको, जिसके पीछे न जाने कौन विषम संघर्ष चल रहा है, अपने अंतरमें ढांक लेना चाहते हैं; दुनियाकी नज़रोंसे हटा लेना चाहते हैं। पर वे अपनेको अनधिकारी पाने लगे। उन्हें डर हुआ कि वे कहीं पागलपनमें ग़लती न कर बैठें।..नहीं, उनका यहां एक क्षण भी ठहरना उचित नहीं। मां और बेटेके बीच उनका क्या काम? बिना कुछ कहे वे एकाएक उठकर चल दिये---। रानीने रोका नहीं। पवनंजय निश्चेष्ट थे।

मांका हृदय किनारे तोड़ रहा था, पुत्रका वह गंभीर, म्लान चेहरा देखकर। बरसोंका सोया दूध आज मानों उमड़ा आ रहा है। पिताके अधिकारकी सीमा हो तो हो, पर जननीके अधिकारसे बड़ा किसका अधिकार है? पर वक्षका उमड़ाव और भुजाओंका विह्वल वात्सल्य चपेट-सी खाकर रह जाता है--पुत्रकी दृप्त ललाटपर---दोनों घनी भौहोंके बीच उठे उस अर्ध चंद्राकार कालागुरुके तिलकपर।

यह कोखका जाया, क्यों पराया हो उठा है? रानीका हृदय मानों बुझता ही जाता है, डूबता ही जाता है, और फिर बिजली-सा प्रज्ज्वलित हो उठ रहा है। वह अपने मातृत्वके अधिकारको हार बैठी है। पर वही तो है यह पवन, आप ही ललककर तो मांकी गोदकी शरण आया है। गोद फड़क उठती है कि अभी पास खींचकर छातीसे लगा लेंगी। कि उसी अविभाज्य क्षणमें हिम्मत टूट गई है--भुजाएं ढीली पड़ गई हैं। पुत्रके ऊपर होकर पुरुष,--दुर्जेय, दुर्निवार, दुरंत पुरुषका आतंक सामने एक चट्टान-सा आ जाता है।

गहरी निःश्वास छोड़कर माताने सारी शक्ति बटोर, भर्राये कंठसे पूछा——

"पवन, मांसे छुपाओगे ? बोलो . . . मेरे जीकी सौगंध है तुम्हें !"

पवनने पहली बार आंखें मांकी ओर उठा दीं। उन आंखोंमें कुहरा छाया है; वे थमी है अपलक। बयाबानोंकी भयावनी शून्यता है उनमें, दुर्गम कांतारोंकी बीहड़ता है और पत्थरोंकी निर्ममता। बेरोक खुली है वह दृष्टि, पर उसे भेदकर उस बेटेके हृदयतक पहुंचना मांके बसका नहीं है।

कुछ क्षण सन्नाटा बना रहा। पवनंजयने चित्तके स्वस्थ होनेपर ज़रा कंठका परिष्कार कर कहा——

"अपने बेटेको नहीं पहचानती हो मां ? अपने ही अंतरंगमें झांक देखो, अपनी ही कोखसे पूछ देखो——मुझसे क्यों पूछ रही हो ?"

"बेटा, अभागिनी मांकी ऐसी कठोर परिक्षा न लो। तुम्हें जन-कर ही यदि उससे अपराध हो गया है तो उसे क्षमा कर दो ! शायद तुम्हारी मां होने योग्य नहीं थी मैं अभागन, इसीसे तो नहीं समझ पा रही हूं।"

पवनंजयकी आंखोंमें जो रहस्यका कुहरा फैला था, वह मानों धीरे-धीरे लुप्त हो गया है। और आंखोंके किनारोंपर पानीकी लकीरें चमक रही हैं——जैसे विद्युल्लेखाएं वर्षाके आकाशमें स्थिर हो गई हों।

"मां, बेटेको और अपराधी न बनाओ। उसे यों ठेले दे रही हो ? फिर एक बार चूक गया। इस गोदमें शरण खोजने आया था——पर शरण कहां है ? वह झूठ है——वह मरीचिका है। सत्य है केवल अशरण ! नहीं, इस गोदमें शरण पाने योग्य अब मैं नहीं रहा हूं मां। मुझे क्षमा कर देना, कहनेको मेरे पास कुछ नहीं है——।"

कहकर पवनंजय छतको फटी आंखोंसे ताकते रह गये। पानीकी वे विद्युल्लेखाएं आंखोंके किनारोंपर अचल थमीं थीं।

"पवन यह क्या हो गया है मुझे ? तुझे पहचान नहीं पा रही हूँ। मेरी कोख कुंठित हो गई है—मेरा अंतरंग शून्य हो गया है। अपनी मांके हृदयपर विश्वास करो, पवन। वहां तुम्हारे मनकी बात अंतिम दिनतक छुपी रहेगी। *कहीं भी जाओ—चाहे मौतसे खेलने जाओ,* पर मुझसे कहकर जाना; जीत सदा तेरी होगी।"

क्षणैक चुप रहकर माताने फिर सजल आंखोंसे पवनकी ओर देखा; उसके कंधेपर हाथ रख दिया और बोली—

"अपना दुख मांसे कहनेमें हार नहीं होगी बेटा, कहो, कहो, कह दो, पवन"

कहते-कहते पवनंजयका कंधा झकझोड़ डाला और भर्रा आये कंठमें वाणी डूब गई। एक बार पवनंजयके जीमें एक वेग-सा आया कि कह दे, पर फिर दबा गया। ज़रा स्वस्थ होकर बोला—

"इसे प्रबल भोगांतरायका उदय ही मानो, मां, मनका रहस्य तो केवली जानते हैं। अपने इस अभागे मनको मैं ही कब ठीक तरह समझ पाया हूं ? यह जीवन ही अंतरायकी एक दीर्घ रात्रि है, और क्या कहूं। और अपने बेटेके वीर्य और पुरुषार्थपर भरोसा कर सको तो यह मान लो कि उसके लिये भोग्य लावण्य इस संसारमें नहीं जन्मा है और नहीं जन्मेगा। अपनेसे बाहरके किसी पदार्थका यदि उपकार मैं नहीं कर सकता हूं, तो उससे खिलवाड़ करनेका मुझे क्या हक़ है।....अपने उस चरम भोग्यकी खोजमें जाना चाहता हूं, मां। आशीर्वाद दो कि उसे पा सकूं और तुम्हारे चरणोंमें लौट आऊं।"

कहकर पवनंजयने माथा मांके चरणोंमें रख दिया। मांकी आंखोंसे चौंसठ-धार आंसू बह रहे हैं। बेटेके माथेपर हाथ रख, उन अलकोंको सहलाती हुई बोलीं—

"त्रिलोकजयी होओ बेटा, पर मुझसे कहते जाओ'।

पवनंजयने फिर एक बार पैर छू लिये, पर कहा कुछ नहीं। मां

उमड़ती आंखोंसे आंसू पोंछती ही रह गई। कुमारने संकेतसे जानेकी आज्ञा मांगी, और निःश्वास छोड़कर बिना एक क्षण ठहरे, निर्मम भावसे चल दिये।

घोड़ेपर चढ़कर जब अकेले, अपने महलकी ओर उड़े जा रहे थे, तब राहके अंधकारमें दो आंसू टपककर बुझ गये। बिजलियां पानी हो गईं।

[११]

आषाढ़का अपराह्ण ढल रहा है। विजयार्द्धके सुदूर पूर्व शिखरोंपर मेघमालाएं झूम रही हैं। गिरि-वनोंमें होकर बादलोंके यूथ मतवाले हाथियोंसे निकल रहे हैं। गुलाबी बिजलियां कुमारी-हृदयकी पहली मधुर पीर-सी रह-रहकर दमक उठती हैं।

अंजना अपनी छतके पश्चिमीय वातायनमें अकेली बैठी है। इन दिनों प्रायः वह अकेले ही रहना पसंद करती है। इसीसे वसंत भी पास नहीं है। ये युवा बादल उड़ते ही चले जा रहे हैं—चले ही जा रहे हैं। कहां जाकर रुकेंगे—कुछ ठीक नहीं है। इसी तरह जीवनके ये दिन मास, वर्ष बीतते चले जा रहे हैं—विराम कहां है—कौन जानता है ?

उन्हीं बादलोंके आवरणमें जीवनके बीते वर्षोंकी सारी स्मृतियां स्वप्न-चित्रों-सी सजल होती गईं। कहां हैं महेंद्रपुरके वे राज-प्रासाद ? कहां है माता-पिताकी वह वात्सल्यमयी गोदी ? अंजनाकी एक-एक उमंगपर स्वर्गोका ऐश्वर्य निछावर होता था। सुर-कन्याओं-सी सौ-सौ सखियां उसके एक-एक पद-निक्षेपपर हथेलियां बिछातीं। और वे बाला-पनके मुक्त आमोद-प्रमोद और क्रीड़ाएं ! दंति-पर्वतकी तलहटीवाले 'ऐंद्रिला' उद्यानमें वे बादल-बेलाएं, वह कोयलकी टेरोंके पीछे दौड़ना, वह बादलोंमें प्रीतमका रथ खोजनेकी सखियोंमें होड़ें, वह वापिकाओंके पालित हंसोंके पंखोंपर वाहन, वे वर्षा, वसंत और शरदोत्सवके विस्तृत

आयोजन, वह वसंतकी संध्याओंमें दंति-पर्वतके किसी शिखरपर अकेले बैठकर मुक्त हवाओंके बीच वीणा-वादन, वह 'मादन-सरोवर'के प्राकृतिक मर्मर-घाटोंमें स्नान-केलिके आनंद ! . . . . सपनोंका एक जुलूस-सा आंखोंमें तैरता निकल गया। दूर—कितनी दूर चला गया है वह सब; लगता है, विस्मृतिके गर्भमें सोये, जाने किन विगत भवांतरोंकी कथाएं हैं वे। प्रमादके रिक्त क्षणकी एक छलना भर है वह। उससे अब कहीं उसका कोई संबंध नहीं है। पर उस सारे अपनत्वको त्यागकर, जिसके पीछे-पीछे वह इस परिचित अनात्मीय देशमें चली आई है—वह कौन है, और वह कहां है ? वह उसे ठीक-ठीक पहचानती भी नहीं है, पर सुना है उस प्रीतमने उसे त्याग दिया है। लेकिन इस क्षणतक भी इस बातकी प्रतीति उसे नहीं हो रही है। भीतरकी राह वह आ रहा है और अंतरके वातायनपर उसकी आती हुई छबि कभी ओझल नहीं हुई है. . . . !

कि एकाएक अंजनाकी दृष्टि अपनी देहपर पड़ गई। वे सुगोल चंपक भुजाएं परसके रससे ऊर्मिल हैं। उस वक्षके उभारमें वे आकाशकी गुलाबी बिजलियां बंदिनी होकर कसक उठी हैं। घिरते बादलोंकी श्यामतामें एक विशाल पुरुषाकृतिके आविर्भावने चारों ओरसे उसे छा लिया है। अंग-अंग रभसकी एक विकल उत्कंठामें टूट रहा है।

और न जाने कब कौन उसे हाथ पकड़कर कक्षमें ले गया। वह उन मर्मरके हंसोंकी ग्रीवासे गाल सहलाती हुई मुग्ध और बेसुध हो रही है। बिल्लौरी सिंहासनके कासके उपधानोंको वक्षसे दाबकर कस-कस लेती है। कक्षकी दीवारों, खंभों, खिड़कियोंके पर्दोसे अंगोंको हलके-हलके छुहला-सहलाकर वह सिहर उठती है। और जाने कब वह उस पर्यंककी शय्यापर जा लेटी, जिसे उसने आजतक छूआ नहीं था। वक्षको दाबकर वह औंधी लेट जाती है। समूचे विश्वका देह-पिंड एक बारगी ही मानों अपने पूर्ण आकर्षणसे उसे अपने भीतर खींचता है। एक प्रगाढ़ आलिंगनकी मोह-मूर्छामें वह डूब गई है। और वल्लभकी भुजाओंके आलोड़नका अंत नहीं

है। कि देखते-देखते स्पर्शका वह अतल सुख विछोहकी अशेष वेदनामें परिणत हो गया। वक्षकी मांसल काराको तोड़नेके लिये प्राण छटपटा उठे। उसकी शिरा-शिरा, रक्तका बिंदु-बिंदु, विद्रोही चेतनकी इस चिनगीसे अंगार हो उठा और देखते-देखते देहकी संपूर्ण मांसलता मानों एक पार-दर्शी अग्नि-पिंडमें बदल गई। पर वह जो खींच रहा है----सो खींचता ही जा रहा है। उसमें पर्यवसित होकर वह शांत और निस्तरंग हो जाना चाहती है।

निरंतर बह रहे आंसुओंके गीलेपनसे उसे एकाएक चेत आया। वक्षके नीचे कोमल शय्याका अनुभव किया। पाया कि वह कक्षमें है---वह उस विलासके पर्यंकपर है। कौन लाया है उसे यहां? ओह, वंचक माया! वह अपने ही आपसे भयभीत हो उठी। वह उठकर भागी और फिर उसी वातायनपर जाकर बैठ गई।

कि लो, वे पर्वत-पाटियां उन घटाओंमें डूब गई हैं। वन-कानन खो गये हैं। अंजनाने पाया कि वह पृथ्वीके छोरपर अकेली खड़ी है, और चारों ओर मेघोंका अपार सिंधु उमड़ रहा है। उस महा जल-विस्तारमें श्वेत पंछियोंकी एक पांत उड़ी जा रही है। अंजनाकी आंखें जहांतक जा सकीं---उन पंछियोंके पीछे वे उड़ती ही चली गईं। और देखते-देखते वे दृष्टि-पथसे ओझल हो गये। आंखोंमें केवल शून्यके बबूले उठ-उठकर तैर रहे हैं। उस अतलांत शून्य सजलतामें वह डूबती ही गई है कि उन पंछियोंको पकड़ लाये। अपनी बाहोंपर बिठाकर वह उनसे देश-देशकी बात पूछेगी, जन्मांतरोंकी वार्ता जानेगी। अरे वे तो मुक्तिके देव-दूत हैं---इसीसे तो इस दुर्निवार बादल-बेलामें वे ऐसे हलके पंखोंसे उड़े जा रहे हैं!

अंजना अपने भीतर जितनी ही गहरी डूब रही है, बाहर वह उतनी ही अधिक फैल रही है।....वह विजयार्द्धकी बादल-भरी उपत्यकाओंमें खेलने चली आई है। वह उसके रत्नमय कूटोंकी वेदियोंमें

बैठकर गान गा रही है। वह एक शृंगसे दूसरे शृंगपर छलांग भरती चल रही है। अनुल्लंघ्य झरनोंको वह चुटकी बजाते लांघ जाती है। अगम्य खाइयों, खंदकों और घाटियोंको वह लीला मात्रमें पार कर रही है। वह विजयार्द्धकी मेखलामें अबाध परिक्रमा देती चल रही है। चित्र-व्याघ्र, सिंह, भालू और अष्टापद आकर उसके पैर चाटने लगते हैं—अपनी सुनहरी-रुपहरी अयालोंसे उसके अंग सहलाते हैं। अनेक जीव-जंतु, पशु-पक्षी, उस देहसे लिपटकर—उसका दुलार पा चले जाते हैं। पलक डालने और उठानेमें कितनी ही विद्याधरोंकी नगरियां दृष्टि-पथमें आती हैं और निकल जाती हैं। और रह-रहकर वे पक्षी उसे याद आते हैं। उसकी आकुलता अंतहीन हो जाती है। और वह अपनी यात्रामें आगे बढ़ती ही जाती है। कितने पर्वत, पृथ्वियों, सागरों और आकाशोंको पार कर वे पंछी जाने किस दिशाके नील नीड़में जाकर छुप गये हैं ?

....मुक्त केश-राशि कपोलोंपर छाती हुई वक्षपर लोट रही है। अंजनाका माथा वातायनके खंभेपर ढुलका है। मुंदी आंखें बाहरकी उस बादल-राशिकी ओर उन्मुख हैं। ओठोंपर एक मुग्ध स्मित ठहरी है। एक हाथ रेलिंगपरसे ऊपरको अंजुली-सा उठा है—और दूसरा हाथ सहज वक्षपर थमा है।

"अंजन....!"

अंजनाने चौंककर आंखें खोलीं, और स्वप्नाविष्ट-सी वह सामने वसंतको देख उठी। एक अलौकिक मुस्कराहट उसके ओठोंपर फैल गई—जिसमें गहरी अंतर्वेदनाकी छाया थी।

"....अ....हां, कबसे बैठी हो जीजी, ज़रा आंख लग गई थी, पर जगा क्यों नहीं लिया ?"

कहते-कहते वह शर्मा आई और उसने एक गहरी अँगड़ाई भरी। उन तंद्रिल आंखोंमें उड़ते पंछियोंके पंखोंका आभास था!

अंजनाकी दृष्टि अपने कक्षकी ओर उठी। शिलाओं और रत्नोंकी ये दीवारें, यह ऐश्वर्यका इंद्र-जाल, यह वैभवकी संकुलता; उसकी यह मोह-कता, यह सुखोष्मा, यह निबिड़ता! . . .असह्य हो उठा है यह सब। जीवनका प्रवाह इस गह्वरमें बंदी होकर नहीं रह सकता। और वह उफनाती हुई शून्य शय्या, जिसपर अनंत अभाव लोट रहा है।. . . . प्राणकी अनिवार पीड़ासे वक्ष अपनी संपूर्ण मांसल मृदुलता और माधुर्यमें टूट रहा है, टूक-टूक हुआ जा रहा है। एक इंद्रियातीत संवेदन बनकर संपूर्ण आत्मा मानो दिगंतके छोरोंतक फैल गया है।

कहीं उद्यानकी वृक्ष-घटाओंके पारसे मयूरोंकी पुकार सुनाई पड़ी। बादल गुरु मंद्र स्वरमें रह-रहकर गरज रहे हैं। घनीभूत जलांधकारमें रह-रहकर बिजली कौंध उठती है।

"जीजी, यह मयूरोंकी पुकार कहांसे आ रही है? देखो न, वे हमें बुला रहे हैं। अपने वहां चल नहीं सकती हैं, जीजी? चलेंगी, जरूर चलेंगी। तुम भी मेरे साथ आओगी न? दूर, बहुत दूर, महल और राजो-द्यानके पार—विजयार्द्धकी उपत्यकामें! मुझे अभी-अभी सपना आया है जीजी, वे वहीं मुझे मिलेंगे, घन काननकी पर्ण-शय्यापर!—इस कक्षमें नहीं, इस पद्म-राग-मणिके पलंगपर नहीं!"

वसंत खिलखिलाकर हंस पड़ी और बोली—"अंजन, देखती हूं अभी भी तेरा बचपन गया नहीं है। जब बहुत छोटी थी तब भी ऐसी ही बातें किया करती थी। जो भी उम्रमें तुझसे एक ही दो बरस बड़ी हूं, फिर भी तेरी ऐसी अद्‌भुत बातें सुनकर मुझे हंसी आ जाती है। बीचमें तू गंभीर और समझदार हो गई थी। पर कई बरस बाद तुझे फिर यह विचित्र पागलपन सूझने लगा है।"

"तो जीजी बताओ न ये मोरोंकी पुकारें कहांसे आ रही हैं?"

"पुंडरीक सरोवरके पश्चिमी किनारेपर जंबू वनमें खूब मोर हैं। घटाओंको देखकर वहीं वे शोर मचा रहे हैं।"

"तो जीजी, मुझे ले चलो न उस जंबूवनमें। मेरा जी अब यहां बहुत ऊब गया है। चलो न, उस जंबू-वनतक जरा घूम ही आयें।"

अंजनाकी इस अनुनयमें बड़ी ही अवशता है। इस प्रस्तावको सुनकर वसंतके सुख और आश्चर्यकी सीमा नहीं थी। कई दिनोंसे अपने आपमें बंद और मूक अंजना सरल बालिका-सी खुल-खिल पड़ी है। विषादका वह घनीभूत कोहरा मानों फट गया है। अंजना निर्मल जलधारा-सी तरल और चंचल हो उठी है। वसंतने प्रस्तावको सहर्ष स्वीकार कर लिया। चलते-चलते कुछ सखियों और दासियोंको और भी साथ ले लिया। अबतक अंजना केवल प्रातः-सायं सुमेरु चैत्यमें देव-दर्शनके लिये जाती और लौट आती थी। आज पहली ही बार उसने राजोद्यानकी सीमाको पार किया।

वानीर, वेतस और जामुनोंकी सघन वनानीमें होकर एक नल्ला बहता था, जो पुंडरीक सरोवरमें दूरकी पार्वत्य नदियोंका जल लाता था। इसके किनारे झूम रहे दीर्घकाय वानीर-वनोंकी छायामें नल्लेका जल सदा पन्नेसा हरा रहता। दोनों किनारोंके मिलनातुर वृक्षोंके बीच आकाशका पथ आँख-मिचौनी खेलता। उसमें तैरते प्रवासी बादल नल्लेके हरित-श्याम जलमें छाया डालते।

जंबू-वनकी संकुल घटाओंमें बादलोंकी अँधेरी स्तब्ध खड़ी है। मयूर और मयूरियोंके झुंड चारों ओर बिखरे हैं। उनमेंसे कुछ किनारेके हरियाले प्रकाशमें पंख फैलाकर नाच रहे हैं। और एकाएक वे शीतल स्वरोंमें पुकार उठते हैं। वनकी अँधेरी गूंज उठती है। फिर बादल घुमड़ उठते हैं।

मानवोंका पद-संचार और आवाज़ सुनकर वे झुंड थोड़े चौकन्ने हो गये। तितर-बितर होकर वे चारों ओर भागने लगे। अंजना बालिका-सी उनसे खेलनेको मचल पड़ी। वह उन्हें भयभीत नहीं करना चाहती—पर उसका प्यार जो आज उन्मुक्त हो गया है।

किनारेकी एक खजूर नल्लेके जलपर झुक आई थी। उसपर खड़ा एक मयूर पंख फैलाये, अपनी संपूर्ण शोभाकी नीलाभा खोलकर नाच रहा है। अंजना उस खजूरके तनेपर जा पहुंची। उन पैरोंकी अछूती कोमलतामें वे खजूरके कांटे गड़ नहीं रहे हैं। सब कुछ उस मार्दवमें मानों समाया ही जा रहा है।

एक हाथसे, पास ही झुके हुए एक वृक्षकी डाल पकड़कर अंजना बैठ गई और दूसरी बांह उसने उस नाचते मयूरकी ओर फैला दी। वह डरा नहीं––वह सहमा नहीं। फिर एक बार एक अपूर्व निगूढ़ उल्लाससे नवीनतम भंगिमामें नाच उठा। और नाचते-नाचते वह अंजनाकी बांहपर उतर आया। उन पंखोंमें मुंह छुपाकर अंजनाने आंखें मूंद लीं; मयूरोंके झुंड फिर विह्वलतासे पुकार उठे। वसंतकी आंखोंमें सुखके आंसू आ जाना चाहते हैं। सभी सखियां आनंद, क्रीड़ा और हास्यमें मग्न हो गई। मयूरोंके पीछे वे दौड़ती हैं––पर वे हाथ नहीं आते हैं।

अंजना तनेपरसे उस मयूरको अपने बाहुमें भरकर नीचे उतार लाई। सखियोंके आश्चर्य कौतुहलकी सीमा नहीं है। अंजना शिलापर आ बैठी है। वह मयूर उसके वक्षपर आश्वस्त है। आस-पास सखियां पैर फैलाये बैठी हैं। मयूर-मयूरियोंका झुंड चारों ओर, प्रफुल्ल नील कमलोंके वन-सा, पूर्ण उल्लसित और चंचल होकर नाच उठा।

अंजनाके जीमें आया, उसने क्यों इस मयूरको बंदी बना रखा है? ओह, यह उसका मोह है। उसने उसका आनंद छीन लिया है! अंजनाने तुरंत उस मयूरको छोड़ दिया। पर वह उड़ा नहीं–– अपना नीला मसृण कंठ अंजनाके गलेके चारों ओर डालकर उस वक्षपर चंचु गड़ा दी। जाने कितनी देर उस ग्रीवालिंगनमें वह पक्षी विस्मृत, विभोर हो रहा। चारों ओर सखियां ताली बजा-बजाकर बादल रागके गीत गाने लगीं। केकाओंकी पुकारें फिर पागल हो उठीं।

कि एकाएक अंजनाकी गोदसे वह मयूर उतरकर नीचे आ गया

और अपने संगियोंके बीच अनोखे उन्मादसे नाचने लगा। उसके आनंद-लास्यको देख दूसरे मयूर-मयूरी भी अंजनाकी ओर दौड़ पड़े। सखियां उन्हें पकड़ना चाहती हैं पर वे हाथ नहीं आते हैं। अंजना उन्हें पकड़ना नहीं चाहती—पर वे उसके शरीरपर चढ़नेमें ज़रा नहीं हिचक रहे हैं। उसके आस-पास घिरकर अपनी ग्रीवासे उसकी जंघाओं, उसकी भुजाओं, उसके वक्षसे दुलार करते हैं—और फिर नीचे फुदककर नाचने लगते हैं।

कि इतनेहीमें पुर्वैया हवा प्रबल वेगसे बहने लगी। स्तब्ध बनाली हिल उठीं। झाड़ झांय-झांय, सांय-सांय करने लगे। और थोड़ी ही देरमें वृष्टि-धाराओंसे सारा वन-प्रदेश मर्मरा उठा। मयूरोंकी पुकारें पागल हो उठीं—वे चारों ओर फैलकर मुक्त लास्यमें प्रमत्त हो गये। देखते-देखते मूसल-धार वर्षा आरंभ हो गई। हवायें तूफ़ानके वेगसे सनसनाने लगीं। झाड़ोंकी डालियां चूं-चड़ड़ बोलने लगीं, मानों अभी-अभी टूट पड़ेंगी। वेणु-वनकी बांसुरीमें सूं-सूं करता हुआ मेघ-मल्लारका स्वर बजने लगा। बादल उद्दाम, तुमुल घोषकर गरज रहे हैं,—बिजलियां कड़कड़ाकर दूरकी उपत्यकाओंमें टूट रही हैं। एक अग्नि-लेखा-सी चमककर वनके अंधेरेको और भी भयावना कर जाती है।

वसंत-मालाके होश गुम हो गये। आज उससे यह क्या भूल हो बैठी है। ऐसे दुर्दिनमें वह अंजनाको कहां ले आई है? महादेवीको पता लगा तो निश्चय ही अनर्थ घट जायगा। अंजना अब महेंद्रपुरकी निरंकुश राज-कन्या नहीं है, वह अब आदित्यपुरकी युवराज्ञी है। और तिसपर त्यक्ता और पद-च्युता है। उसके लिये ये मुक्त क्रीड़ा-विहार? और वह भी इस भयानक निर्बंध ऋतुमें? राजोपवनकी सीमाके बाहर? क्षण मात्रमें ही ये सारी बातें वसंतके दिमाग़में दौड़ गईं।

और अंजना? वह शिलापर दोनों ओर हाथ टिकाकर और भी खुलकर बैठी है। वह निर्द्वंद है और निरुद्वेग है। इस भयानकताके प्रति वह पूर्ण रूपसे खुली है। आत्माका चिर दिनका रुद्ध वज्र-द्वार

मानों खुल गया है। ये झंझाएँ, ये वृष्टि-धाराएँ, यह मेघोंका विप्लवी घोष, ये तड़पती बिजलियां, सभी उस द्वारमेंसे चले जा रहे हैं। इस महामरणकी छायामें हृदयका पद्म अपने संपूर्ण प्रेमको मुक्तकर खिल उठा है। प्रलयकी बहियापर मानों कोई हँसता हुआ वन-कुसुम बहा जा रहा है। पानीकी बौछारों और हवाओंकी चपेटोंमें वह सुकुमार देह-लता सिकुड़ना नहीं चाहती। वह तो पुलकित होकर खुल-खिल पड़ती है। वह तो सिहरकर अपनेको और भी बिखेर देती है। आंखें प्रगाढ़तासे मुँदी हैं——और ऊपर मुख उठाये वह मुस्करा रही है——मौन, मुग्ध, महानंदसे विकल, आवेदनकी मुक्त वाणी-सी।

और साथकी सभी अन्य बालाएं भयसे थर्रा उठी हैं। ऋतुके आघातोंमें वे अपनेको सम्हाल नहीं पा रही हैं। और फिर युवराज्ञीकी चिंता सर्वोपरि हो उठी है। अंजनाको पता नहीं कब वे सब आकर उसके आस-पास लिपट-चिपटकर बैठ गई हैं। भय-चिंता और उद्वेगसे वे कांप रही हैं। उन्होंने चारों ओरसे अपने शरीरोंसे ढांपकर अंजनाकी रक्षा करनी चाही।

अंजना उस अवरोधको अनुभव कर घबड़ा उठी। माथेपर छाई हुई वसंतकी भुजाओंको और चारों ओर घिर आई सखियोंके शरीरोंको झकझोर कर वह उठ बैठी——

"अरे यह क्या कर रही हो? ओ वसंत जीजी! ओह, समझ गई, चारों ओरसे ढांपकर इस ऋतु-प्रकोपसे तुम मेरी रक्षा करना चाहती हो? पर आज तो वर्षाका उत्सव है——भीगनेका दिन-मान है, आज क्यों कोई अपनेको बचाये? देखो न, ये मयूर लास्यके आनंदमें अचेत हो गये हैं। इस वर्षाके अविराम छंद-नृत्यसे भिन्न इनकी गति नहीं। चारों ओर एक विराट आनंदका नृत्य चल रहा है। मेघोंके मृदंगोंपर बिजलियां ताल दे रही हैं। ये झाड़ियां हवाके तारोंपर अश्रांत थिरक रही हैं। ये झाड़ झूम-झाम रहे हैं——लताएं, तृण-गुल्म, सभी तो नाच-नाचकर लोट-पोट

हो रहे हैं---सभी भीग रहे हैं रसकी इस धारामें। कोई अपनेको बचाना नहीं चाहता। आओ, इनसे मिलें-जुलें, प्यारका यह दुर्लभ क्षण फिर कब आनेवाला है?"

अंजनाने दोनों हाथोंसे अपने केश-भारको उछाल दिया। बालिका-सी दुरंत और चपल होकर वह चारों ओर नाच उठी। सखियां उसके पीछे दौड़-दौड़कर उसे पकड़ना चाहती हैं---पर वह हाथ कब आनेवाली है। शरीरपर वस्त्रकी मर्यादा नहीं रही है, और वनके तनोंमें वह बेतहाशा आंख-मिचौनी खेल रही है। वसंतके प्राण सूख रहे हैं---पर वह क्या करे---यह अंजना उसके बसकी नहीं है। जो भी वह जानती है, यह राजोपवनका ही सीमांत है और यहां कोई आ नहीं सकता है। फिर भी समय-सूचकता आवश्यक है। अंजनाके स्वभावमें यह लीला-प्रियता नई नहीं है। पर बहुत दिनोंसे गंभीर हो गई अंजना, तिरस्कृता, परित्यक्ता अंजनाको आज यह क्या हो गया है?

और वह भागती हुई अंजना झाड़के तनोंसे लिपट जाती है---उन्हें बाहुओंमें कस-कस लेती है। झाड़की कठोर छालसे गालोंको सटाकर हौले-हौले रभस करती है। डालोंपर झूम जाती है---और झूमते हुए तरु-पल्लवोंको पलकोंसे दुलराती है। वन-वल्लियों, तृणों और गुल्मोंके भीतर घुसकर धप्‌से उनमें लेट जाती है---गालोंसे, भुजाओंसे, कंठसे, लिलारसे, उन वनस्पतियोंको छुहलाती है---सहलाती है, चूमती है पुच-कारती है---वक्षमें भर-भरकर उन्हें अपने परिरंभणमें लीन कर लेना चाहती है। विराट स्पर्शके उस सुखमें वह विस्मृत, विभोर होकर चारों ओर लोट रही है। और जाने कबतक यह लीला चलती रही---

× × × ×

सांझ हो रही है। वर्षासे धुले उजले आकाशमें अंगूरी और दूधिया बादलोंके चित्र बने हैं। अंजनाने कक्षमें इष्टदेवके बिम्बके सम्मुख घीका

प्रदीप जला दिया। धूपायनमें थोड़ा धूप छोड़ दिया। वसंतके साथ जानुओंपर बैठकर उसने विनीत स्वरमें अरहत्‌का स्तवन किया। अंतमें वंदनमें प्रणत हो गई और बोली—

"हे निष्प्रयोजन सखे! हे अशरण आत्माके एकमेव आत्मीय! तुम चराचरके प्राणकी बात जानते हो, अणु-अणुके संवेदन तुम्हारे भीतर तरंगायित हैं। बोलो, तुम्हीं बताओ, क्या मुझसे यह अपराध हुआ है? किस भवका यह अंतराय है और किस जन्ममें किसको मैंने दारुण विरह दिया है—इसकी कथा तो तुम जानो। मैं अज्ञानिनी तो केवल इतना ही जानती हूं, कि मेरा प्रेम ही इतना क्षुद्र था कि वह 'उन'तक पहुंच ही न सका; वह उन्हें बांधकर न ला सका, इसमें उनका और किसीका क्या दोष है?

"पर अपने इस चराचरके निःसीम साम्राज्यमें भी क्या मेरे इस क्षुद्र प्रेमको मुक्ति नहीं दोगे, प्रभु? देखो न, ये छोटी-छोटी वनस्पतियां, तृण-गुल्म, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, जड़-जंगम सभी अपना प्रेम देनेको मुक्त हैं। फिर मैं ही क्यों आत्म-घात करूं, तुम्हीं कहो न? मनुष्यकी देहमें नारीकी योनि पाकर जन्मी हूं, कोमल हूं, अवलंबिता हूं और देना ही जानती हूं, क्या यही अपराध हो गया है मेरा? क्या पुरुष नारीके अस्तित्वकी शर्त है?—और उससे परे होकर क्या उसका कोई स्वतंत्र आत्म-परिणमन नहीं? यही धृष्ट जिज्ञासा बार-बार मन-प्राणको बींध रही है। अंतर्यामिन्, मुझ अज्ञानिनी बालाके इस पागल मनका समाधान कर दो!"

अंजनाकी अधमुंदी आंखोंमेंसे आंसू चू रहे हैं। वसंत स्तब्ध है, अंजनाके साथ वैसी ही एकात्म्य होकर, साश्रु-नयन प्रार्थनामें अवनत है। तब आह्लादित होकर अचानक अंजना बोल उठी—

"उत्तर मिल गया जीजी! आंखें खोलो. प्रभुने. . . . . .मुस्करा दिया है!"

वसंतने देखा—दीपके मंद आलोकमें प्रभुके मुखपर वही त्रिलोक-मोहिनी मुस्कान खिली है—मानों जीवनका उन्मुक्त प्रवाह आंखोंके आगे बह रहा है, निर्मल और अबाधित। उसमें बहनेको सभी स्वतंत्र हैं—वहां मर्यादाएं नहीं हैं, शर्तें नहीं हैं, अंतराय नहीं है, योनि-भेद नहीं है; विधि-निषेध नहीं हैं;—है केवल आत्माके अकलुष प्रेमकी स्रोतस्विनी !

[१२]

आंधी-वर्षाकी रुद्र, प्रलयंकरी रातोंमें पवनंजय भयभीत हो उठते। बाहरके सारे भयोंपर वे पैर देकर चले हैं, पर यह आत्म-भीति सर्वथा अजेय हो पड़ी है। इन बिजलियोंकी प्रत्यंचाओंपर चढ़कर जो तीर इन तूफ़ानकी रातोंको चीरते हुए आ रहे हैं, उनके सम्मुख कुमारका सारा ज्ञान-दर्शन, शौर्य, वीर्य और उनकी आयुध-शालाके सारे शस्त्र कुंठित हो गये हैं! सूक्ष्म, अमोघ और अंतर्गामी हैं ये तीर, जो मर्ममें जाकर बिंधते ही जाते हैं।

उनका प्रेत ही छायाकी तरह उनके पीछे-पीछे दौड़ रहा है। उनके रोम-रोम एक निदारुण भयसे आकुल हैं। अपने ही सामने होनेका साहस उनमें नहीं है। वे अपनेसे ही विमुख और विरक्त हो गये हैं; पर अपनेसे भागकर वे जायें तो कहां जायें....?

कई अखंड दिनों और रातों घोड़ेकी पीठपर चलकर वे योजनों पृथ्वी रौंद आये हैं। ऐसे महा-विजनोंकी वे ख़ाक छान आये हैं, जहां मानव-पुत्र शायद ही कभी गया हो। अलंघ्यको उन्होंने लांघा है, और दुर्निवारको हठ पूर्वक पार किया है। घोड़ा जब तीरके वेगसे हवामें छलांग भरता, तो उड़ानके नशेमें उनकी आंखें मुंद जातीं। उन्हें लगता कि उनका घोड़ा आकाशकी नीलिमाको चीरता हुआ चल रहा है। पर आंखें खुलते ही

पाया है कि वे धरतीपर ही है ! इसी तरह पराभवसे कातर और म्लान वे सदा अपने महलको लौट आये हैं।

इस महावकाशमें वे कहीं भी अपने लिये स्थान नहीं खोज सके हैं। माना कि वे चिरंतन गतिके विश्वासी हैं, और ठहरना वे नहीं चाहते; स्थितिपर उन्हें विश्वास नहीं है। पर वर्षाकी इन दुर्दाम रात्रियोंमें क्यों वे इतने अरक्षित और अशरण हो पड़ते हैं ? ऐसे समय अवस्थिति और प्रश्रयकी पुकार ही क्या उनमें तीव्रतम नहीं होती है ? वे अपनेको पाना चाहते हैं। पर अपने ही आपसे छलकर, वे अपनेसे ही आंख-मिचौनी जो खेल रहे हैं। अपनी ही पकड़ाईमें वे नहीं आया चाहते। अपनी दिन-दिन गहरी होती आत्म-व्यथाको वे अनदेखी कर रहे हैं। फिर अपनेको पायें तो कैसे पायें ?

समय-असमय, जब-जब भी ऐसी बेचैनी हो जाती है, वे महलके नवों खंडोंके एक-एक कक्षमें घूम जाते हैं। वहांके चुँधिया देनेवाले चित्र-विचित्र सिंगारों, परिग्रहों और वस्तु-पुंजोंकी मायाविनी विविधतामें वे अपनेको उलझाये रखना चाहते हैं। पर चित्तका उद्वेग बढ़ता ही जाता है। दूरसे एक मरीचिका पूर्ण आवेगसे खींचती है। पास जाते ही वह सब फीका पड़ जाता है—नीरस, निस्पंद, अगतिशील, जड़ !

नौवें खंडके कक्षोंमें अनेक लोकों, पृथ्वियों, समुद्रों और पर्वतोंकी रचनायें हैं। वे मान-चित्रोंकी परिमाण-सूचकताके साथ तैयार की गई हैं। उन्हें देखकर फिर वे एक नवीन ताज़गी, उत्साह और उत्कंठासे भर आते हैं। वे अपनी महा-यात्राकी योजनाएं बनानेमें संलग्न हो जाते है। वर्षोंके प्रसारमें वह योजना बढ़ती जाती है, योजनोंकी संख्या लुप्त होने लगती है। उनका नक़्शा बनते-बनते उलझ जाता है; रेखाओंके जाल संकुल हो उठते हैं। यात्राका पथ अवरुद्ध हो जाता है। विफलताके शून्य काले धब्बों-से उनकी आंखोंमें तैरने लगते हैं। वे नक़्शों-

को फाड़कर फेंक देते हैं; जितने बारीक टुकड़े वे कर सकें, करते ही जाते हैं--और फिर उन्हें दृष्टिसे परे कर देना चाहते हैं।

फिर एक नया आवेग नस-नसमें लहरा जाता है। तब वे महलके गर्भ-देशमें बनी अपनी आयुध-शालामें जा पहुंचते हैं। तांबेके विशाल नीरांजनमें एक ऊंची जोतका दीप वहां अखंड जलता रहता है। कुमार पहुंचकर अलग-अलग आलयोंके सभी दीपोंको संजो देते हैं। शस्त्रास्त्रोंकी चमकसे आयुध-शाला जग-मगा उठती है। परंपरासे चली आई आदित्यपुरकी अलभ्य और महामूल्य आयुध-संपत्ति यहां संचित है। फिर कुमारने भी उसे बढ़ानेमें बहुत प्रयत्न और धन खर्च किया है। अचिंत्य और अकल्पित शस्त्रास्त्र यहां संग्रहीत हैं। आयुधोंके फल दर्पणों-से चमकते हैं; उनमें अपने सौ-सौ प्रतिबिंब एक साथ देखकर कुमार रोष और विरक्तिसे तिक्त और क्षुब्ध हो उठते हैं। वहां शस्त्रोंको धार देनेके लिये बड़ी-बड़ी शिलाएं और चक्र पड़े हुए हैं। अपने अनजानमें ही अपने ठीक सामनेके शस्त्रकी चमकको बुझा देनेके लिये, वे उसे सानपर चढ़ा देते हैं। उसमेंसे चिनगारियां फूट निकलती हैं। कुमारके भीतरकी अग्नि दहक उठती है—वह नंगी होकर सामने आया चाहती है। शिलाएं कसक उठती हैं—देखते-देखते वे हिलने लगती हैं, जैसे भूकंपके हिलोरे आ रहे हों। सानके सारे चक्र कुमारकी आंखोंमें एक साथ पूर्ण वेगसे घूमने लगते हैं—उन सबमें चिनगारियां फूटने लगती हैं। वे सानपरसे शस्त्रको हटा लेते हैं। उसकी चमक और भी पार-दर्शी हो उठती है। उसमें कुमारके प्रतिबिंब कई गुने हो उठते हैं। वे झल्लाकर शस्त्र फेंक देते हैं। सारी आयुध-शाला झन-झना उठती है। ऊपर प्रतिहारियोंके प्राण सूख जाते हैं। आयुध-शालाके शस्त्रागारोंपर लगी सिंदूर विकराल, रुद्र हास्यसे मूक अट्टहास कर उठती है!

कुमार झपटकर शंखोंके आलयकी ओर चले जाते हैं। अद्-भुत हैं वे शंख! भिन्न-भिन्न दिशाओंके स्वामियोंको ललकारने और

चुनौती देनेकी भिन्न-भिन्न शक्तियां उनमें अभिनिहित हैं। वे अभी-अभी शंख फूंक देनेको आतुर हो पड़े हैं। वे एक शंख उठा लेते हैं। पर वे किस दिशाके स्वामीको जगायें? उन्हें कुछ भान नहीं हो रहा है, कुछ सूझ नहीं पड़ रहा है। उन्होंने अपने हाथके शंखको गौरसे देखा—उस-पर एक ध्वजामें मकरकी आकृति चिह्नित है! ओह,—मकर-ध्वज! कुमारने फूंक देना चाहा वह शंख पूरे ज़ोरसे। पर सांस मानों रुद्ध हो गया है या कि शंख ही मूक हो गया है? कुमारके अंग-अंगमें बिजली-सी तड़-तड़ा उठी। उन्होंने दूरके एक खंभेको लक्ष्य कर वह शंख ज़ोरसे दे मारा। पर वह खंभेपर न लगकर कांसेके एक विशाल घंटेपर जा लगा। अप्रत्याशित ही घंटेका गुरु-घोष पृथ्वी-गर्भमें गूंजकर लहराने लगा।

बहुत दिनोंकी प्रपीड़ित और छट-पटाई हुई कषाय प्रमत्त हो उठी। अहंकी मोहिनी नंगी तलवारोंसी चमचमा उठी। जाने कब कुमारने पानी-सा लहरीला एक खड्ग उतारकर शून्यमें वार करना शुरू कर दिया। सूं....सूं करती—तलवारकी विकलता पृथ्वीकी ठंडी और निविड़ गंधमें उत्तेजित होती गई।....शरीरकी स्नायुएं मस्तिष्कके केंद्रसे जैसे च्युत हो गई हैं। तलवार खंभोंके पत्थरोंसे टकराकर उस अकाट्यतासे कुंठित हो, और भी कटु, और भी विषाक्त हो जाती है। वह नहीं मानेगी....जबतक वह उस निरंतर कसक रहे, दिन-रात पीड़ित करनेवाले मर्मको चीर नहीं देगी! वह तलवार प्रबलतर वेगसे बेक़ाबू सन-सनाने लगी। शून्यमें कहीं भी घाव नहीं हो सका है—मात्र यह निर्जीव खंभेके पत्थरोंका अवरोध टकरा जाता है—ठन्न.... ठन्न....!

और खच्चसे वह आ लगी बाएं पैरकी पिंडलीपर।....कोई मांसल कोमलता विंध गई है। कुमारके चेहरेपर एक प्रसन्नता दौड़ गई। और अगले ही क्षण पसीनेमें तर-ब-तर हांफते हुए पवनंजय, चक्कर

खाकर धप्से धरतीपर बैठ गये। घावपर निगाह पड़ी—खूनकी एक पिचकारी-सी छूट गई है।

ओह, अपनी ही तलवारसे अपना ही घात ? उफ्....शस्त्र.... हिंसक, बर्बर शस्त्र ! कितनी ही बार शस्त्रोंमें उन्हें अविश्वास हुआ है। ये हिंसाके उपकरण ? कितनी ही बार उन्हें इनसे घोर ग्लानि और विरक्ति हुई है। पर कौनसी मोहिनी है जो खींच लाती है ? वे फिर-फिर इनसे खेलनेको आतुर हो उठते हैं। हिंसाकी विजय, विजय नहीं, वह आत्म-घात है ! वे निःशस्त्र जय-यात्राके राही हैं; इसीसे न क्या उन्होंने उस दिन उस पर्वतकी अतलांत अंधेरी खाईमें, कौतुक मात्रमें, अपनी तलवार खड्ग-यष्टिसे निकालकर फेंक दी थी ?

....खून जख़्मसे बेतहाशा बहने लगा। कुमारको अपने ऊपर तरस आ गया—दया आ गई।....छिः दया ? और वह भी अपने ऊपर ? नहीं, वे नहीं करेंगे कोई उपचार इस जख़्मका। दया वे नहीं करेंगें अपने ऊपर। दया कायरताकी पुत्री है ! पवनंजय और कायर हो, इस ज़रासे आघातपर ?

वे सन्नाते हुए आयुध-शालासे ऊपर निकल आये। सिंहासनकी सीढ़ीपर मुंह हाथोंमें ढककर बैठ गये। खून निकलकर पैरको लथ-पथ करता हुआ चारों ओर फैल रहा है।

आंख उठाकर उन्होंने देखा, एक प्रतिहारी साहस-पूर्वक उस जख़्मको एक हाथसे दबाकर उसपर व्रणोपचार किया चाहती है—पट्टा बांधा चाहती है। कोमलता ?....ओह, कायरताकी जननी ! वह असह्य है उन्हें। न....न....न हर्गिज़ नहीं—यह सब वे नहीं होने देंगे।

"हट जाओ प्रतिहारी, इस व्रणका उपचार नहीं होता !" झुंझलाकर कुमारने पैर हटा लिया।

"देव, तुम्हारे ये अत्याचार अब नहीं सहे जाते !"

कांपते आवाज़में साहसपूर्वक प्रतिहारी आवेदन कर उठी। उप-चारोन्मुख ख़ाली हाथ उसके शून्यमें थमे रह गये हैं—और आंखोंमें उसकी, आंसू झल-झला रहे हैं। कुमारके हृदयमें जहां जाकर प्रतिहारीका यह वाक्य लगा है, वहांसे वे उसके इस दुःसाहसका प्रतिकार न कर सके! वे अवाक् उसका मुंह ताकते रह गये।

ओह नारी....कोमलता....आंसू? फिर वही मोह-जाल.... फिर वही माया-मरीचिका? फिर दोनों हाथोंमें बड़े ज़ोरसे मुखको मींच लिया। सारी इंद्रियोंको मानों उन्होंने अपने भीतर सिकोड़ लिया। नहीं, इस कोमलताके स्पर्शको वे नहीं सह सकते। यह कातरता है....यह दया है।....और कौन है यह प्रतिहारी, तुच्छ....जो पवनंजयपर दया करेगी? वे अपने आपमें अपनेको अस्पृश्य शून्य अनुभव करने लगे। पर उन्हें लगा कि वह कोमलता हार नहीं मान रही है। वह सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर होकर उनकी सारी स्नायुओंको बींधती हुई, शिरा-शिराको परिप्लावित करती हुई उनकी समस्त आत्मामें सिंच गई है—परिव्याप्त हो गई है। वह अक्षत माधुर्य-धारा है, वह अमोघ अमृत है। नहीं....उससे वे अपनेको बचा नहीं पा रहे हैं!

और जाने कब, जब आंख खुली तो देखा—सामने रक्तकी एक भी बूंद नहीं है। है केवल फेन-सा रूईका एक पट्टा, जो उस पैरकी पिंडलीपर चमक रहा है।

एक गहरी निःश्वास छोड़कर पवनंजय उठ बैठे। अपने ही आपमें उद्वेलित होकर, वे उस विशाल दीवानख़ानेमें बड़े-बड़े डग भरते हुए चक्कर काटने लगे।

[१२]

अंजनाने पाया, अंतरके क्षितिजपर एक नवीन बोधका प्रभात फूट रहा है। ममत्वके इस नीड़में अब वह प्रश्रय नहीं खोज सकेगी। इस

नीड़के सुनहले तिनकोंमें दुःख और विषादके पुंज घनीभूत हो रहे थे। मोहकी वह रात्रि अब तिरोहित हो गई है। नवीन प्रकाशके इस अनंतमें उड़नेको अब वह स्वतंत्र है। प्रेम ममत्व नहीं है। दुःख और वेदनाकी यह मोहिनी ममत्वकी प्रसूता है।

पर अंजना तो उत्सर्गिता है, अपनेको यों बांधकर वह नहीं रख सकेगी। और अपनेको वह रक्खेगी किस लिये? किस दिनके लिये और किसके लिये? क्या अपने ही लिये? पर वह अपनत्व शेष कहां रह गया है? वह तो छाया है, वह भ्रांति है। यह दुःख और यह विषाद और ये आंसू, यह सब अपने ही को लेकर तो था। अचेतनके खोखलेपनमें मिथ्याकी प्रेत-छायाएं खेलने लगी थीं।

और मर्यादा किस लिये? मर्यादा तो वे आप हैं, जहां जाकर अपनेको लय कर देना है। इस राजमंदिर और इस लोकालयकी मर्यादा उसके दृष्टि-पथमें नहीं आ रही है। इन किनारोंमें जीवनको थामनेका क्या प्रयोजन है? और कौन है जो थाम सकेगा? वह जीवन जो हाथसे निकल चुका है और जिसकी स्वामिनी वह आप नहीं है!

उसे लगा कि अपने अनजाने ही अबतक वह मृत्युका वरण करनेमें लगी थी। प्रेमका वह निसर्ग स्रोत रुद्ध हो गया था। प्रेम आप ही अपनी मर्यादा है—उससे ऊपर होकर और कोई शील नहीं है। शील क्या दुरावमें है? वहां तो शीलकी ओट पाप पल रहा है।

सो, न देव-मंदिर ही और न कक्षमें ही अब उसका सामायिक (आत्म-ध्यान) संभव रह गया है। प्रातः-सायं सामायिककी बेला होते ही वह चली जाती है, राजमंदिरका सीमांत लांघकर, दूरके उस मृग-वनमें।

पुंडरीक सरोवरके उस पार बड़ी दूरतक चंदनका एक वन फैला है। और ठीक उसके बाहर निकलते ही एक वन-खंड आ गया है, जिसमें मृगोंके झुंड उन्मुक्त विचरते हैं। काफ़ी दूरतक मैदान समतल है, उसके बाद कुछ पहाड़ियां और टीले हैं।

सबसे परे जो पहाड़ी है, उसका नाम अरुणाचल है। उसपर ऊंचे तनेवाले नील-गिरिके झाड़ोंकी एक क़तार खड़ी है। पहाड़ीके ढालोंमें कुछ झाड़ी-जंगल है, तो कहीं-कहीं चट्टानों और पत्थरोंकी आड़में वृक्षोंसे छाये मृगोंके आवास हैं। मैदानके बीच-बीचमें जो टीले इधर-उधर बिखरे हैं, वे ही मृगोंके क्रीड़ा-पर्वत हैं। मैदान, टीले और पहाड़ियोंपर हरियालीका स्निग्ध, शाद्वल प्रसार फैला है। समतलमें इधर-उधर नीलम-खंडों-से जलाशय चमक रहे हैं; किनारे जिनके ऊंची-ऊंची घास और जल-गुल्मोंके पुंज हैं। विचरते हुए मृग वहां पानी पीते दिखाई पड़ते हैं।

कहीं-कहीं वन-लताओंसे छाई स्निग्ध, श्यामल वन्य-झाड़ियां फैली हैं, जिनमें खरगोश रहते हैं। उन जलाशयोंके किनारे कासके वन-पुंजोंमेंसे कभी दुबके-से निकलकर सर्रसे वे अपनी झाड़ियोंमें जा छुपते हैं। अरुणाचल पहाड़ीके उस पारसे कभी-कभी नील गाय, सांभर और बारह-सिंगे भी नीलगिरिके झाड़ोंके अंतरालसे उतरकर इधर आया करते हैं।

दूर-दूरपर टीलों और पहाड़ियोंकी हरियालीमें आकाशके किनारे वे मृग चरते दिखाई पड़ते हैं। उनके पीछेके बादल-खंड उनके पैरोंमें आते-से लगते हैं।

लगता है, सौंदर्य और प्रेम यहां गल-बाहीं डाले हैं। यहां संघर्ष नहीं है, घात नहीं है, कोई स्थूल शोषण नहीं है। अबोध प्रेमका यह दिव्य विहार है। जीवनाचरणमें यहां वैर नहीं है। समताका विपुल बोध यहां दिशांतों तक प्रसरा है, मानो किसी सिद्धकी यह निर्वाण-भूमि रही हो।

अंजना प्रातः-सायं यहीं सामायिक करने आती है—अचूक। वर्षोंपर वर्ष बीतते गये हैं, पर यह साधना उसकी अभंग रही है। आयुष्यके अतीत होते तटोंपर उसने पद-चिह्न नहीं छोड़े हैं। अनागतकी कोई विकल प्रतीक्षा अनायास किसी बादलकी दुपहरीमें दूर वनांतके केका-सी पुकार उठती, किसी वसंत-संध्याकी डालपर कोयल-सी टेर उठती! वह प्राणको समयातीत कर खींचती ही ले जाती, ऋतुओंके पार—जीवन-समुद्रके

छोरोंपर। किसी अनादि उद्गमसे कामनाकी एक मुक्त तरंगिणी हहराती
, ली आ रही है, जो उन छोरोंमें आकर विसर्जित हो जाती है। वही एक
आकर्षण है, जो सतहपर निर्वेद और प्रशांत है—पर भीतर निखिलके
साथ एकतान होनेकी परम आकुलता है।

कायोत्सर्गकी यह साधना, उसकी हिमाचल-सी अचल है। 'देहसे
नहीं पा सकी हूं, तो विदेह होकर पाऊंगी तुम्हें!'—उसके भीतर रह-
रहकर गूंज उठता। सामायिकमें कभी-कभी वह गंभीर आवेदन-
संवेदनसे भर आती। इंद्रियोंके बंध मानों अनायास आंसू वन-बनकर
ढलक पड़ते, जैसे शृंखलाकी कड़ियां पिघलकर बिखर पड़ी हों। स्पर्श,
रूप, रस, गंध, स्वरके भिन्न-भिन्न द्वार टूट-टूटकर खुल जाते, और एक
प्रोज्ज्वल, निराकुल, अविकल्प सुखानुभूतिका सागर-सा खुल पड़ता।
उसमें ज्योतिकी तरंगें उठ रही हैं, और वह लहरोंपर आनेवाला चिर-
परिचित आलोक-पुरुष देखते-देखते आकर अंजनामें अंतर्धान हो जाता।

और आंख खोलते ही वह पाती, आस-पास खड़े मृग उसकी देह-
अंग सहला रहे हैं, उसके केशोंको सूंघ रहे हैं। उस केश-राशिमें
वे उस गंधको पा गये हैं, जिसके लिये उनके प्राण चिर-कालसे विकल
भटक रहे हैं। अबतक उस गंधके लिये कितनी ही बार वे छले गये हैं।
प्राणोंकी बाज़ी लगाकर भी वे उसे नहीं पा सके हैं। पर इस देहकी
ऊष्मा, इन केशोंकी गंधमें वे अभय तृप्ति पा रहे हैं, आत्म-पर्यवसित हो
रहे हैं। यहां छल नहीं है, मृत्यु नहीं है। यहां परम शरण है।

चाहे कैसी ही दुर्निवार बादल बेला हो, कैसा ही दुर्धर्ष शीतकाल हो,
कैसी ही बेधक हवायें चल रही हों, कैसा ही प्रचंड ग्रीष्म तप रहा हो, और
चाहे फिर वसंतकी कुसुम-बेला हो, इस सीमांतरपर आत्म-ध्यानके लिये
अंजनाका आना ध्रुवकी तरह अटल था।

वे खरगोश-शिशु अंजनाकी बाहोंके सहारे, उस सर्व-काम्य वक्ष-
पर लिपटकर आश्वस्त हो जाते। एक आकर्षणकी हिलोर-सी आती।

वह चल पड़ती मृगोंके उस लीला-काननमें। मृग-शावक उसकी कटिपर झूमते, अन्य मृग-मृगियां उसके उड़ते हुए दुकूलको खींचते। अंजना खर-गोशोंको आंचलमें ढांप लेती। आस-पास झूमते मृग-मृगियोंके गल-बहियां डालकर, उनकी गर्दन और पीठपर अपनी गर्दन डाल देती; गालों और आंखोंसे उनके शरीरके मृदु रोओंका रभस करती। अंग-अंग उनपर निछावर होता। उनकी आंखोंमें आंखें डालकर देखती—जाने किस चिरकाम्य रूपका दर्शन उनमें हो जाता। निराकुल, विदेह सुखमें मूर्छित होकर वह मुस्करा देती। निगूढ़ लज्जासे अंग-अंग पुलक-सजल हो उठता। आह, कौन छू गया है....? अननुभूत है यह स्पर्श—चिर दिनसे जिसकी चाह प्राणोंमें घनी होती गई है!

यों ही उन पशुओंके साथ निर्लक्ष्य भटकती, खेलती वह उस अरुणाचलतक चली जाती। कभी-कभी उस पहाड़ीपर, नील-गिरिकी वनानीमें पहाड़ीके उस पारके छुटुक-फुटुक बिखरे भिल्ल-ग्रामोंकी वन-कन्यायें मिल जातीं। वर्षाकी नदियों-सी वे श्यामला हैं। कच्चे रसालोंकी रस-भार-नम्र स्निग्ध घटाओं-सा उनका यौवन है—अनावृत और अबंध्य। गिरि-घाटियोंके हिंस्र-जंतु-संकुल प्रदेशोंमें वे अभय विचरती हैं। दुर्जेय और दुरंत है उनका कौमार्य। तीरके फलपर परखे जानेवाले वीर्यका वे वरण करती हैं। कटिपर वे नाम मात्रका वसन बांध लेती हैं—या फिर वल्कल। ऋतु-पर्वोंपर वे पत्तोंके वसन पहन आती हैं, कानोंमें कलियों और कच्चे फलोंके झुमके और माथेपर तथा गलेमें जंगली फूलोंकी माला। उनकी उद्दंड बाहोंमें पार्वत्य उपलोंके वलय पड़े रहते और पैरोंमें कांसेकी कड़ियां।

अनायास वे अंजनाकी सहेलियां बन गई थीं। कहानी भर जिसकी वे अपनी दादियोंसे सुनती, और निरंतर जिस वन-लक्ष्मीकी उन्हें खोज थी, उसे ही शायद वे एकाएक पा गई हैं—ऐसा उन्हें आभास होता। वह 'वन-लक्ष्मी' किस दिशासे कब आ जाती है, वे खोजकर भी पता नहीं

पा सकी हैं। आदित्यपुरकी युवराज्ञी उनकी कल्पनाके बाहर है, फिर उससे उन्हें प्रयोजन ही क्या हो सकता है। राजोपवनकी सीमा उनके लिये वर्जित प्रदेश है, सो उस ओरसे वे उदासीन हैं। कभी-कभी दूरसे ही कौतूहल भर करके वे रह जाती हैं।

थोड़े ही दिनोंमें अंजनाने उनकी प्रकृत भाषाको सहज ही अपना लिया। उनकी सारी अंतःप्रकृतिसे उसका निसर्ग परिचय होता चला। वे अपनी ही भाषामें अंजनाकी बातें सुनतीं। जन्मोंके अज्ञानकी अंधेरी गुहाओंका तम भिदने लगता। उसके भीतर अंजनाके शब्द प्रकाशके बिंदुओंकी तरह फूटने लगते। वाणी सिद्ध हो चली। अनादिकालके जड़ावरणोंमें, जिनसे आत्मा रुद्ध है, वह वाणी अव्यावाध प्रवेश करती चली।

उन्हें ज्ञान-दान देनेका कोई कर्तव्य-भाव बाहरसे अंजनामें नहीं जागा है। उसकी उन्मुखतामें ही सहज उन अज्ञानी मानव-प्राणियोंके लिये उसका सहवेदन गहरा होता गया है। उसके भीतरसे निरंतर पुकार आ रही है—वही उसका संकल्प है और वाचामें फूटकर वही कर्म-मय होता गया है। अक्षर-बद्ध और वचन-बद्ध किसी निश्चित ज्ञानकी शिक्षा देनेकी चेष्टा उसमें नहीं है। उस ज्ञानमें संघर्ष संभव है—वितर्क संभव है। पर प्रेमकी इस अजस्र वाणीमें केवल बोध ही फूटता है—एक सर्वोदयी, साम्य-भावी बोध—जीवन-मात्रका मंगल-कल्याण ही जिसका प्रकाश है। इस ज्ञान-दानमें बुद्धिका अहं-गौरव संभव नहीं है। 'मैं इन्हें ज्ञान दे रही हूं!' यह सतर्क प्रभुत्वका भाव नहीं है। यह दान तो अंजनाकी विवशता है—उसकी आत्म-वेदनाका प्रतिफल है, जो देकर ही निस्तार है। सिखाना उसे कुछ नहीं है—वह तो वह स्वयं सीखना चाहती है—स्वयं जानना चाहती है। उसीका नम्र अनुरोध मात्र है यह वाणी—जिसमेंसे ज्ञान झिरियोंकी तरह आप ही फूट रहा है।

निपट अकिंचन और उन्हीं-सी निर्बोध होकर अंजना उनसे अपनी बात कहती है। आस-पासकी यह विशाल प्रकृति, जिसकी कि वे

पुत्रियां हैं, उसीकी भाषा—उसीके संकेत और उपकरणोंके सहारे वह अपनेको व्यक्त करती है। पहाड़, नदियां, चट्टानें, गुफाएं, झरने-जंगल, जीव-जंतुओंको ही लेकर जाने कितनी न कथा-वार्ताएं कही जाती हैं—कितने न रूपकोंका आविष्कार होता है। वे भिल्ल-बालाएं अपने जंगली जीवनोंमें परंपरासे चली आई, कई दुःसाहसकी दंत-कथाएं सुनातीं। नाना पशु-पक्षियोंके और मानवोंके घात-प्रतिघात और संघर्षोंके वृत्त उनमें होते। उनके जीवनोंका गहन, प्रकृत परिचय पाकर अंजनाकी आत्मीयता सर्व-स्पर्शी हो फैल जाती। वह उन्हीं कहानियोंको उलट-पुलटकर—उनकी हिंस्र क्रूरताओंके बीच-बीचमें बड़ी ही स्वाभाविकतासे कोई प्रेमके वृत जोड़ देती। वे बालाएं जिज्ञासासे भर आतीं। उनकी निर्विकार चंचल आंखोंमें सहवेदनकी करुणा छल-छला आती। वे अंजनाके ही शब्दोंमें अनायास बोलकर प्रश्न कर उठतीं। क्रीड़ा-कौतुक मात्रमें अंजना समाधान कर देती। वे ज़ोर-ज़ोरसे खिलखिलाकर हंस पड़तीं। गुंजान हंसीसे वनस्थली गूंज उठती। वे बातें उन्हें कभी नहीं भूलतीं। वे तो मानव प्रकृतिके पटपर लिखे गये अक्षर हैं, जो सदा ध्वनित होते रहते हैं—इन झरनोंमें, इन हवाओंमें, इन झाड़ियोंमें।

किसी उत्सवके दिन यदि वे अंजनाको पा जातीं तो बनके फूल-पत्तियों-से उसका अभिषेक कर देतीं। पैरोंमें घूंघुर बांधकर आतीं और अंजनाके चारों ओर वृत्तमें झूमर देकर नाचतीं, हिंडोल भरे मदमाते रागोंमें अपने जंगली गीत गातीं। तब अंजनाको सुनाई पड़ता—उस जंगल-पाटीमें दूर-दूर तक फैले पुरवोंसे उत्सवकी गान-ध्वनियां आ रही हैं। बीच-बीचमें ढोलक और खंजड़ी अविराम बज रही है। पृथ्वीकी परिक्रमा देता हुआ यह स्वर आ रहा है। एक अनिवार आकर्षण अंजनाके शरीरके तार-तारमें बज उठता।...जीवन....जीवन....जीवन! उन पुरवोंमें होकर—उन दूर-सुदूरके अपरिचित मानवोंमें होकर ही उसका मार्ग गया है। अरे क्यों है यह अपरिचय, क्यों है यह अज्ञान—क्यों है यह

अलगाव ? असह्य है उसे यह आवरण, यह मर्यादा । इस सबको छिन्नकर उसे आगे बढ़ जाना है, उसे चले ही जाना है, जीवन पुकार रहा है !

और ठीक उसी क्षण उसे अपनी वस्तुस्थितिका भान हो आता । उन परिजनोंका क्या होगा ? उनके दुखोंकी बोझिल सांकलें उसके पैरोंमें बज उठती हैं । मोह है यह, क्यों वे अपने ममत्वसे घिरे हैं ? इसी कारण क्या नहीं है—यह दुखोंकी अभेद्य भव-रात्रि—यह मूर्छनाका अंधकार ? इसी कारण यह अज्ञता और अपरिचय है—इसी कारण यह राग-द्वेष और अपना-पराया है । पर उनके प्रति वह करुणा और सहानुभूतिसे भर आती है । उनका दुख उसे ही लेकर तो है—वे भी तो पर-दुख-कातर हैं । उनकी वेदनाको भी उसे झेलना ही होगा । उनके और अपने दुखोंकी संकुलताको चीरकर ही राह मिलेगी । नहीं, उन्हें छोड़कर वह नहीं जा सकेगी । वह शायद जीवनसे मुंह मोड़ना होगा—पराजितका पलायन होगा । वह स्वार्थ है—अपने ही स्वच्छंद सुखकी खोजमें औरोंकी उपेक्षा है । कर्तव्य और दायित्व उसका समग्रके प्रति है, लोक और लोकालय उससे बाहर नहीं है । वह जायेगी किसी दिन, उपेक्षा करके नहीं, उनके प्रेमकी अनुमति लेकर—आशीर्वाद लेकर । तब वह निश्चिन्त होगी, मुक्त होगी और सबके साथ होगी । यों टूटकर और छूटकर वह नहीं जायगी । एकाकारिताकी इस साधनामें वह अलगावका क्षत अपने पीछे नहीं छोड़ेगी । मनमें कोई फांस लेकर वह नहीं जायेगी । कोई दूरी, कोई विरह-वियोग, कोई अभावका शून्य वह नहीं रहने देगी !

....कि एक सुदीर्घ-विरह-रात्रिका प्रसार उसके हृदयमें झांक उठता....कौन आया चाहता है....?

योंही वर्षपर वर्ष बीतते जाते हैं । मृग-वनकी शिलापर जब प्रातः सामायिकसे निवृत्त हो वह आंख खोलती तो अरुणाचलपर बालसूर्यका उदय होता दीख पड़ता । सांझका कायोत्सर्ग कर जब वह आंख उठाती,

तो नील-गिरिकी बनालीमें पीताभ चंद्र उदय होता दिखाई पड़ता। वह जो सतत आ रहा है....परम पुरुष....उसीके तो आभावलय हैं ये बिंब! और उन बिंबोंमें होकर कोई मृग छलांग भरता निकल जाता है....योंही वर्ष भाग रहे हैं....काल भाग रहा है....और उसके ऊपर होकर अबाधित चला आ रहा है वह अतिथि!

[१४]

राजोपवनके दक्षिण छोरपर जो खेतोंका विस्तार है, उसके उस किनारे कृषकों और गोपोंके छोटे-छोटे गांव बसे हैं। वहीं थोड़े-थोड़े फ़ासलेसे राज-परिकरके सेवकोंकी बस्तियां हैं। सबकी अपनी स्वतंत्र धरती है, गोधन है। राज-सेवा वे स्वेच्छतया करते हैं। राजा और राजके प्रति उनमें सहज कर्तव्यका भाव है। उनका विश्वास है कि राजा प्रजाके माता-पिता हैं; जीवन, धन और धरतीके रक्षक हैं; पालक प्रजापति हैं।

कुछ वर्ष पहले एक गोप-बस्तीकी सीमापर, एक शिशिरके सवेरे, कुहरेमेंसे आती हुई एक साध्वी दीखी थी। सालवनके तले पनघट और वापिकाओंपर पानी भरती हुई गोप-वधुएं उसे कौतूहलकी आंखोंसे देखती रह गईं। निकट आकर वह साध्वी खेतमें बने एक चबूतरेपर बैठ गई। पहले तो वे बधुएं मारे अचरजके ठिठकी रहीं, फिर कुछ हंसकर परस्पर काना-फूसी करने लगीं। साध्वियाँ तो आती ही रहती हैं—पर ऐसा रूप? कोई देवांगना न हो!

एक दूसरीसे जुड़ी-गुथीं वे वधुएं पास सरक आईं। कुछ दूर खड़ी रहकर वे देखती रह गईं—अवाक् और स्तब्ध। विचित्र है यह साध्वी! बालिका-सी लगती है। गंभीर है, पर रह-रहकर चंचल हो जाती है। बरफ़-सी उजली देहपर, दूधकी धारा-सा दुकूल है; पीठपर विपुल केश-भार पड़ा है, जो गालोंको ढकता हुआ कंधों और भुजाओंपर भी छाया है।

वह बड़ी-बड़ी सरल आंखोंसे उनकी ओर देख मुस्करा रही है, जैसे बुला रही हो। पर न हाथ उठाकर संकेत करती है, न पुकारती है।

मुहूर्त भरमें ही वे सब वधुएं जाने कब पास चली आईं। भूमिपर सिर छुआकर सबने प्रणाम किया।

"अरे-अरे, छिः छिः—यह क्या करती हो! मुझे लजाओ नहीं। क्या मैं तुमसे बड़ी हूं? मैं तो तुमसे छोटी हूं, और तुम्हींमेंसे एक हूं—तुम्हारी छोटी बहन, क्या मुझे नहीं पहचानतीं....?"

सब अवाक् आश्चर्यसे उस ओर देख उठीं। सचमुच जैसे वर्षोंसे पहचानती हैं; कहीं देखा है कभी, पर याद नहीं आ रहा है। एक निगूढ़ स्मृतिके संवेदनसे रोम-रोम सजल हो आया। ये आंखें, यह पारदर्शी मुस्कराहट। और सबसे अधिक आत्मीय है इस कंठकी वाणी। पर विचित्र है यह साध्वी। अरे इसके हाथोंमें वलय हैं, और भालपर तिलक है! साध्वियोंके वलय और तिलक तो नहीं होता। पर मन इसे देखकर बरबस श्रद्धासे भर आता है, पता पूछनेका जी ही नहीं होता। केवल एक आश्वासन भीतर अनायास जाग उठता है।

"हां....हां....हां मैं समझ गई हूं, तुम्हारे मनोंमें क्या है!"
....पूछ देखो न, तुम्हारे मनकी बात जानती हूं कि नहीं!"

वधुओंको लगा, जैसे इससे कुछ छुपा नहीं है। पहले जिन प्रश्नों और जिज्ञासाओंको किसीसे नहीं पूछा था—अपने अभिन्न वल्लभसे भी नहीं—वे सब अंतिम प्रश्न मनमें खुल-खिल उठे। लज्जा मर्यादासे परे हैं वे अंतर की गोपन पहेलियां। एक-एककर उन्होंने पूछ डाले वे प्रश्न। वह साध्वी सुनकर मुस्करा आती है, उन प्रश्नोंके वह सीधे उत्तर नहीं देती है। वह छोटी-छोटी, सुगम और रंजनकारी कहानियां कहती है। लीला करती है, विनोद करती है, और जाने कब वधुएं समाधान पा जाती हैं।

हवा बात ले गई। कुछ ही दिनोंमें आस-पासकी सारी बस्तियों और गांवोंके किनारोंपर वह साध्वी दिखाई पड़ने लगी। अनिश्चित

कालांतरालसे अतिथिकी तरह कभी-कभी वह आती। ग्रामके बाहरकी किसी पांथ-शालामें, किसी मंदिरके चबूतरेपर, किसी शिलातलपर, या किसी वृक्षके तले पत्तोंपर वह एकाएक बैठी दिखाई पड़ती। देखते-देखते ग्राम-जन, स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध सभी जुट जाते। वह कब कहांसे आती और कहां चली जाती, यह जाननेका कुतूहल लोगोंका अब मिट चला था। वलय और तिलक भी नगण्य हो गये थे। निश्चित वह कोई साध्वी है, जो तत्त्वको पा गई है। क्योंकि वह उन सबोंके हृदयोंकी स्वामिनी हो चली थी——इन्हीं कुछ वर्षोंमें। और साध्वीका कौन स्थान, क्या पता और क्या समय? वह उन्हें सुप्राप्त थी। चली जाती और बहुत दिनोंमें आती, उसका कुछ ठीक नहीं था। पर वह उस लोक-जीवनका हृदय-स्पंदन बन गई थी। वह जीवनके केंद्रमें बस गई थी, सो सदा उनके साथ थी।

ग्राम-जन अपने सुख-दुखोंकी बात कहते। जीवनके बाह्य आधारोंमें सभी तुष्ट थे। रोटीका संघर्ष नहीं था——भौतिक जीवन-सामग्री सब स्वाधीन थी और अपार थी। सुख-दुःख थे मनके वैकारिक संघर्षोंको लेकर ही। जिज्ञासाएं जन्म-मरण, रोग-शोक, हर्ष-विषाद और मुक्तिको लेकर थीं। प्रति दिनके मानवीय संबंधोंमें जो राग और द्वेषकी रगड़ है, हार-जीत है, क्रोध, मान, माया, लोभका जो सूक्ष्म संघर्ष सर्वव्यापी हैं; जिसे जानते हुए भी उसकी जड़तक पहुंचकर हम उसे ठीक नहीं कर पाते; उसीको लेकर उनकी समस्यायें थीं। सबसे अधिक प्रबलता थी मानकी, प्रभुत्वकी, अधिकार और स्वामित्वकी।

साध्वीके उत्तर बहुत सरल और सीधे होते। वे सबकी समझमें आते। वह सूत्र-वाणी बोलती। एक उत्तरमें कई प्रश्नोंके उत्तर एक साथ मिल जाते। कमलकी पंखड़ीमेंसे पंखड़ी खुलती जाती। चेतनके अंतरालोंमें उजाला छा जाता। व्यक्तिकी सीमाएं मानो लोप होने लगतीं। जन-जनमें एक ही प्राणकी अविच्छिन्न धारा दौड़ने लगती। समस्त

चराचरकी विशाल एकताके बोधमें मन आप्लावित हो जाते। जन्मोंकी विच्छेद-वार्ता पुलकोंके आँसू बनकर झर जाती।

साध्वीके बोल लोक-कण्ठमें बस चले--

"अपनेको बहुत मत मानो, क्योंकि वही सारे रोगोंकी जड़ है। मानना ही तो मान है। मान सीमा है। आत्मा तो असीम है और सर्वव्यापी है। निखिल लोकालोक उसमें समाया है। वस्तु मात्र तुममें है--तुम्हारे ज्ञानमें है। बाहरसे कुछ पाना नहीं है। बाहरसे पाने और अपनानेकी कोशिश लोभ है। वह, जो अपना है उसीको खो देना है, उसीको पर बना देना है। मानने हमें छोटा कर दिया है, जानने-देखनेकी शक्तियोंको मंद कर दिया है। हम अपने हीमें घिर रहते हैं। इसीसे चोट लगती है--दुःख होता है। इसीसे राग है, द्वेष है, रगड़ है। सबको अपनेमें पाओ--भीतरके अनुभवसे पाओ। बाहरसे पानेकी कोशिश माया है, झूठ है, वासना है। उसीको प्रभुने मिथ्यात्व कहा है। स्वर्ग, नरक, मोक्ष सब तुम्हींमें है। उनका होना तुम्हारे ज्ञानपर क़ायम है। कहा न कि तुम्हारा जीव सत्ता मात्रके प्रमाण है; वह सिमटकर क्षुद्र हो गया है, तुम्हारे 'मैं' के कारण। 'मैं' को मिटाकर 'सब' बन जाओ। जानने-देखने-की तुम्हारी सबसे बड़ी शक्तिका परिचय इसीमें है।

"समग्रको जाननेकी इच्छाका नाम ही प्रेम है--वही धर्म है। जानने-की व्यथाको गहरी होने दो। जितनी ही वह गहरी होगी, आपा खिरता जायगा, सबके प्रति अपनापा बढ़ता जायगा। यही प्रेमका मार्ग है--धर्म-का मार्ग है। मुक्ति चाहनेकी चीज़ नहीं है। उसका ध्यान भुला दो। मुक्तिको लेकर ही हममें कांक्षा और गर्व जागेगा तो क्या मुक्ति मिलेगी? वह तो बंधन ही होगा। अपने को मिटाओ; मुक्ति आप ही मिल जायगी। मुक्ति कोई स्थान विशेष नहीं है--वह समग्रकी प्राप्तिमें है, सब-रूप हो जानेमें है...."

ग्राम-जन वात्सल्य-वश फल, दूध-दही, मक्खनकी मधुरकरी ले आते। साध्वीके पैर पकड़ लेते कि उनका उपहार लेना ही होगा। वह हाथकी अंजुलिमें लेकर उसे सिरसे लगा लेती—और आस-पासके बालकोंमें बांट देती। पीछेसे स्वल्प प्रसाद ग्रहणकर आप भी कृतार्थ होती। दोनों जुड़े हाथोंपर सिर नवाँकर ग्राम-जनोंको नमस्कार करती और चल देती—खेतके पथपर, मृग-वनकी ओर।

लोक-जनोंमें एक जिज्ञासा बनी हुई थी—कैसी है यह साध्वी, जो अज्ञानियोंको नमन् करती है? ऐसी साध्वी तो नहीं सुनी। सच-मुच विचित्र है वह!

[१५]

मृग-वनसे संध्याका सामायिक कर अंजना अपने महलको लौट रही है। बाहर रात अंधेरी है, शीत बहुत तीव्र है। अंजना अकेली ही चली आरही है।

ऊपर आकर उसने पाया, उसके कक्षमें महादेवी केतुमती बैठी हैं। पास ही वसंतमाला और जयमाला बैठी हैं। राजमाता गंभीर हैं और चुप हैं। कक्षमें एक क्षुब्ध खामोशी है। देखकर अंजना स्तब्ध रह गई...! आशातीत और अभूतपूर्व है यह घटना। जबसे वह इस महलमें राज-बधू बनकर आई है, इतने वर्ष निकल गये हैं, महादेवी यहां कभी नहीं आईं। यहां जो ज्वाला निर्धूम जल रही है, उसे देखनेकी छाती शायद राजमाताकी नहीं थी। दूरसे इस सौधका रत्न-दीप देखकर ही उनका हृदय दुखसे फटने लगता था। पर आज..? आज कौन ऐसी असाधारण स्थिति उत्पन्न हुई है, कि कलेजेपर पत्थर रखकर वे यहां चली आई हैं। देखकर अंजना भौंचक-सी रह गई। क्षणभर कक्षकी देहरीमें ठिठक गई।....सपना जैसे भंग हो गया। वस्तुस्थितिका

भान हुआ। अंतर्लोक लुप्त हो गया। उसने पाया कि वह बाहरके व्यवहार-जगतमें है।

दूसरे ही क्षण वह नम्र, विनत हो आई। आकर उसने महादेवी-के चरण छुए, और पास ही वह ढुलकी-सी बैठ गई। आंखें उठाने और कुशल-वार्ता पूछनेकी बात दूर, यहां होना ही उसे दूभर हो गया है। अपने आपमें वह मुँदी जाती है। जैसे सिमट कर शून्य हो जाना चाहती है—धरतीमें समा जाना चाहती है।

गंभीर स्वरमें महादेवीने स्तब्धता भंग की—

"देखती हूं बेटी, तुम्हारा चित्त महलमें नहीं है। कुलके परिजनोंसे नाता-नेह नहीं रहा? पर वह तो हमारे ही प्रारब्धका दोष है। घरका जाया ही जब अपना न हो सका, तो तुम तो पराये घरकी लड़की हो, कौनसा मुंह लेकर तुमसे अपनी होनेको कहूं? पर राजकुलकी मर्यादा लोप हो गई है! लोकमें अपवाद हो रहा है; तब तुम्हारे निकट प्रार्थिनी होकर आनेको बाध्य हुई हूं। बहुत दिन तुम्हारी राह देखी, संदेशे भेजे, पर तुम तक वे पहुंच न सके, तब और क्या चारा था?

"मृग-वनके सीमांतपर तुम सामायिक करने जाती थीं, सुना, तो सोचा कोई बात नहीं है, वह अंतःपुरका ही क्रीड़ा-प्रदेश है। पर वहां भी तुम्हारा सामायिक न हो सका! तब अरुणाचलकी पहाड़ी तुम्हें लांघनी पड़ी—भील-कन्यायें तुम्हारी सहचरियां हो गईं। यहांकी प्रतिहारियों और सखियोंका संग तुम्हें असह्य हो गया। तुम अकेली ही जाने लगीं। फिर तो गोप-बस्तियों, कृषक-ग्रामों और राज-सेवकोंकी वसतिकाओंमें भी तुम्हारा स्वच्छंद विचरण शुरू हो गया। सुनकर विश्वास नहीं हुआ—सब पीती ही गई हूं। पर आज समस्त आदित्यपुर नगरमें राज-वधूके स्वैर-विहारपर चर्चाएँ हो रही हैं! और इस वेषमें ....? तुम्हें कौन पहचानता कि तुम राजकुलकी वधू हो? इसीसे तो विचित्र कहानियां कही जा रही हैं। अपने लिए न सही, पर इस

घरकी लाज तुम्हें निभानी थी। कुलके शील और मर्यादाकी लीक तुमने तोड़ दी। आदित्यपुरकी युवराज्ञी ग्राम-जनों, भीलनियों और सेवकोंके बीच भटकती फिरे? क्या यही है उसका शील और मर्यादा? क्या यही है उसकी शोभा? तुम्हारे दुखसे मेरा दुख अलग नहीं है, पर कहे बिना रहा नहीं जाता। क्या यह भूल गई हो अंजना, कि तुम परित्यक्ता हो—पदच्युता हो? किसके गर्वपर तुम्हारे ये स्वच्छंद क्रीड़ा और विहार? जो चाहो करो, पर कुलकी मर्यादा नहीं लोपी जा सकेगी . . . . !"

दुखित कंठसे, परंतु अकुंठित तीव्रता और आवेशमें राजमाताने सब कह डाला, और चुप हो गई। अंजना अचल बैठी थी, पर भीतर उसके भूचाल था। उत्तर देनेकी चेतना उसमें नहीं थी।

जब अंजनाको चेत आया तो पाया कि राजमाता, वसंत, जयमाला और बाहर बैठी हुई प्रतिहारियां सब जा चुके हैं। वह अपने कक्षमें अकेली है। वसंत इन दिनों प्रायः उसके पास होती है—पर आज वह भी नहीं है। अपने तल्पपर जाकर वह औंधी लेट गई। नहीं है वसंत तो उसे शिकायत क्यों हो? उसके पति फिर आ गये हैं, उसके अपने बच्चे हैं, वह अपने घर गई होगी। और उसने कब किसीकी अपेक्षा की है? जिस दिन पहली ही बार वह राजोपवनकी सीमा लांघकर जंबू-वनमें गई थी, उसी दिन वहांसे लौटते हुए उसने पाया था कि वसंत अब उसके साथ नहीं है। अंजनाकी मुक्तता उसे सह्य नहीं है। वह चिर दिनकी सखी, जीजी भी बिछुड़ती ही गई। और उसे ठीक-ठीक याद नहीं कि वह कब पीछे छूट गई। फिर बीच-बीचमें वसंत महेंद्रपुर भी चली जाती। उसकी ससुराल वहीं थी—और पीहर भी वहीं था। पर अंजना . . . .? वह भी तो महेंद्रपुर जा सकती थी? पर वह नहीं गई। पिता और भाई, एक-एककर सभी उसे कई बार लिवाने आये—यहांतक कि मां भी आईं, उसके पैरतक

पकड़ लिये, रो-रोकर हार गई। पर अंजना अपनेको लौटा न सकी। उसे स्वयं इसके लिये मनमें कम संताप और ग्लानि नहीं थी। पर.... पर अब उसका पथ बदल चुका था, उसपर वह बहुत दूर निकल गई थी; वहांसे लौटना उसका संभव नहीं था। यह उसकी विवशता थी। और फिर कौनसा मुंह लेकर वह महेंद्रपुर जाती? अपनी जन्मभूमिको बार-बार उसने सजल आंखोंसे प्रणाम किया है—और तब अपने भाग्यको कोस-कोस डाला है। अपने कौमार्यकी वह स्वप्न-भूमि अब उसके लिए दूरसे ही वंदनीय थी। पर तब सामने कितने ही नवीन लोकोंके अंतराल जो खुलते जा रहे थे।

वेदनाका कुहासा एक दिन अनायास फट गया था, और वह नवीन सवेरे के प्रकाशमें बढ़ती ही चली गई। तब उसे यह ध्यान नहीं रहा कि कौन पीछे छूट गया है? उसने पाया कि उसकी यात्रा निःसंग है। उस पथका संगी कोई नहीं होता। प्रतिहारियों, दासियों और सखियोंको सहज ही उसने यह जता दिया था, कि बिना काम और बिना कारण उसके साथ किसीको रहनेकी बाध्यता नहीं है। और सामायिकमें सेविकाओं और संगिनियोंका क्या होता? और उसके वे भ्रमण? उसमें बाधा कहां थी? वह कहीं भी तो न अटक सकी। कोई रोक भीतरसे नहीं हुई। वसंतने एकाध बार कुछ संकेत किया था, पर वह सब उसकी समझमें न आ सका था। वह बहुत कुछ बाहरका स्थूल लोकाचार था—जो आत्माके मूल्योंपर आधारित नहीं दीखा। वसतिकाओं और ग्रामोंमें वह क्यों गई? इसका कोई उत्तर उसके पास नहीं है। यह सब वह अपने भीतर उपलब्ध करती गई है। अंतरकी पुकारने उसे वहां पहुंचाया है। 'शिरीष-कानन'के 'अशोक-चैत्य'के दर्शन करके वह लौटती—तब वे वसतिकाएं उसकी राहमें पड़ती थीं। कहां थी वे उसकी राहके बाहर?

लाज, कुल, शील, मर्यादा, प्रारब्ध, विवाह, परित्यक्ता, पद-

च्युता, लोकापवाद——एकके बाद एक सफ़ेद प्रेतोंकी एक श्रेणी-सी उठ खड़ी हुई, और वे सारे प्रेत आपसमें टकराने लगे। देखते-देखते एक भीमाकार अँधेरेकी प्राचीर-सी उसके सामने उठने लगी।....और अगले ही क्षण एक अनिर्वार विप्लवकी झंझाएँ जैसे उसके समस्त देह, मन-प्राणमें मँडराने लगीं....। और भीतरके तल-देशसे एक करुण प्रश्नकी चीत्कार-सी सुनाई पड़ी——"आह वे माता-पिता, वे भाई, ये सास-माता और श्वसुर-पिता, बसंत और ये सब परिजन——? क्या होगा इन सबका ? इन सबका ऋण वह कैसे चुकाये ? वे कितने विवश हैं ?——अपने सीमा-बंधनोंमें वे छट-पटा रहे हैं। वह कैसे उन्हें मुक्त करे इन रूढ़ताओंसे——इस मिथ्यात्वसे ? वह कैसे उन्हें समझाये ?.... पर, वह कब उन्हें छोड़कर गई है ? उन्हींका प्रेम और कृतज्ञता क्या बार-बार उसे खींचकर नहीं लौटा लाये हैं ?....एकाएक वे प्रलयके बादल फट गये। आंसुओंका एक अकूल पारावार सारे तटोंको तोड़कर लहरा उठा।....नहीं, आज वह नहीं पी सकेगी, ये आंसू ! यह अपने लिये रोना नहीं है। सर्वके प्रति उसका यह आत्म-निवेदन है। कहां है इस प्रवाहकी सीमा——वह स्वयं नहीं जानती....

"....ओ मेरे मर्यादा-पुरुषोत्तम ! तुम हो मेरी मर्यादा, और तुम्हीं उसकी रक्षा करो। मैं तो केवल बहना जानती हूं, टूट चुकी हूं लहर-लहरमें।....अब राहमें विश्राम कहां है....जबतक उन चरणोंमें आकर लीन न हो जाऊं ?....और बाहरका कोई शासन-अनुशासन मुझे मान्य नहीं, इसीसे अग्नि-परीक्षाएँ अब संमुख हैं। मुस्कराता हुआ मेरा सत्य इस ज्वाल-पथपर चला चले, वह बल मुझे दान करो, देव ! कुलकी लीक क्या तुमसे भी बड़ी है ? कौनसी मर्यादा है, जो तुमतक आनेसे मुझे रोक सकेगी ? प्रवाहकी इन लहरोंमें वह आप ही टूट जायेगी। उसमें मेरा क्या दोष है ? बोलो न, चुप क्यों हो ? तुम्हारी शरणमें सब सुरक्षित हैं। इह लोक, परलोक, स्वर्ग-नरक,

मुक्ति, सब वहीं चढ़ाकर अब निश्चित होकर चल रही हूं। कोई दुविधा नहीं है।....वे सतत आ रहे चरण कब आंखोंसे ओझल हुए हैं....?"

....और इसी बीच जाने कब उसकी आंख लग गई।

[१६]

सवेरे जब ब्राह्म-मुहूर्तमें अंजना जागी, तो मन उसका शरदके आकाश-सा स्वच्छ और हलका था। कोई दुविधा नहीं थी, कहीं भी कोई अर्गला नहीं थी। वह निर्द्वंद्व चली गई, अटल अपने पथपर।

मृगवनकी शिलापर जब उसने कायोत्सर्गसे आंखें खोलीं, तो अरुणाचलपर बाल-सूर्यका उदय हो रहा था। उसमें दीखा कि एक तरुण-अरुण विद्रोही चला आ रहा है; उसके उठे हुए दाएँ हाथकी उंगलीपर एक आग्नेय चक्र घूम रहा है। अपने पैरोंमें सांपों-सी लहराती अंधकारकी राशियोंको वह भेदता हुआ चल रहा है....!

एक अदम्य आत्म-निष्ठासे अंजना भर उठी। नहीं, वह असत्यको सिर नहीं झुकायेगी—वह मिथ्याको शिरोधार्य नहीं कर सकेगी। वह प्रतिषेध करेगी। वह दुराग्रह नहीं है, वह तो सत्यका पावन अनुरोध है। वह घात नहीं करेगा, वह कल्याण ही करेगा।

चित्तमें आज उसके अपूर्व चिन्मयता और प्रसन्नता है। वह मृगवनसे सीधी पुंडरीक-सरोवरके तीरपर चली आई। महलसे चलती बेर प्रतिहारीको आदेश कर आई थी कि वह देवी वसंतमालाको जाकर सूचित कर दे कि आज सरोवरके 'गंध-कुटि' चैत्यमें पूजाका आयोजन करें।

पुंडरीक सरोवरके बीचोंबीच अमृत-फेन-सा उजला मर्मरका 'गंध-कुटि' चैत्य है, जिसमें प्रभुके समवसरणकी बड़ी ही भव्य और दिव्य रचना है। सरोवरके किनारे जो दूरतक मर्मरका देव-रम्य घाट फैला है, उसपर थोड़े-थोड़े अंतरसे जलपर झुके हुए वातायन हैं। तीरसे चैत्य तक

जानेके लिये, एक सुंदर पच्चीकारीके रेलिंगवाला मर्मरका ही पुल बना है।

वसंत वेदीपर पूजार्घ्य सँजोये अंजनाकी राह देख रही थी। अंजनाके हृदयमें आज सुख नहीं समा रहा था। आई तो वसंतको हिये भरकर मिली, जैसे आज कोई नया ही मिलन है। नई है आजकी धूप, आजकी छाया, आस-पासका यह हरिताभासे भरा उद्यान, ये कुंज, ये घाट, ये झरोखे, जल, स्थल और आकाश, सब नया है। अणु-अणु एक अपूर्व, अद्भुत नावीन्यसे मुग्ध और सुंदर हो उठा है। दोनों बहनोंने बड़े तल्लीन भक्ति-भावसे पूजा की। शांति-धारा और विसर्जनके उपरांत अंजनाने बड़े ही संवेदनशील कंठसे प्रभुके संमुख आत्मालोचन किया और अंतमें अपने आपको निवेदन कर नत हो गई।

पूजा समाप्त होनेपर, दोनों बहनें चैत्यकी छतपर आकर, एक झरोखे-में बिछी सीतल-पाटियोंपर बैठ गईं। चारों ओर सुनील जल प्रसारकी ऊर्मिलता है। देखते ही अंजनाको जैसे चैतन्यके शुद्ध और चिर नवीन परिणमनका आभास हुआ!

अवसर पाकर वसंतने धीरेसे पूछा—'अंजन, कल रात जो महादेवीने कहा, उस संबंधमें तूने क्या सोचा है?"

प्रश्न सुनकर क्षणैक अंजनाकी आंखें मुंद रहीं, भृकुटिमें एक वलय-सा पड़ा और तब मर्मसे भरी वह वेधक दृष्टि उठी। बड़े ही धीर और गंभीर स्वरमें वह बोली—

"सोचकर भी उस सबका कुछ ठीक-ठीक अर्थ मैं नहीं समझ पाई हूं। कुलकी मर्यादा मैंने लोप दी है? यह कुलकी मर्यादा कौनसी ध्रुव लकीर है और वह कहां है, सो मैं ठीक-ठीक नहीं चीन्ह सकी हूं। प्राणि और प्राणिकी प्रकृत एकताके बीच क्या कोई बाधाकी लकीर खींची जा सकती है? . . . . और यह कुलीनता क्या है? माना कि गोत्रकर्म है और उससे ऊंच-नीच कुल या स्थितिमें जन्म होता है। पर कर्मोंके चक्रव्यूह तो भेदते ही चलना है। क्या कर्म पालनेकी चीज

है ? क्या वह संचय करनेकी चीज़ है ? आत्मामें यह जो पुरातन संस्कार-पुंज जड़ और मृण्मय हो गया है, उसे खिराना होगा। नवीन और उज्ज्वलतर कर्मोंके बीचसे मुक्तिका मार्ग प्रशस्त करना होगा। जो कर्म-परंपरा अपने और परके लिये अनिष्ट फल दे रही है, जो आत्मा-आत्माके निसर्ग ऐक्य संबंधका हनन कर रही है, वह मुक्ति-मार्गमें सबसे अधिक घातक है। वह गोत्र-कर्मकी बाधा शिरोधार्य करने योग्य नहीं है, वह भोग करने योग्य नहीं है। मिथ्या है वह अभिमान। वह त्याज्य और परिहार्य है। असत्यको ध्रुव मर्यादा मानकर नहीं चल सकूंगी, जीजी ! इस अहंकारको पद-पदपर तोड़ते हुए चलना है। वही जीवन-की सबसे बड़ी विजय है। जीवनका नाम है प्रगति। जो है, उसीको अंतिम मानकर नहीं चला जा सकेगा ? सतहपर जो दीख रहा है वही पदार्थका यथार्थ सत्य नहीं है--वह व्यभिचरित सत्य है। वह माया है, वह छलना है। उस यथार्थ तत्वतक पहुंचनेके लिये--मायाके इन आवरणोंको छिन्न करना होगा। इन क्षुद्र ममत्वोंको मेटना होगा। प्रगतिमान जीवनी-शक्ति पुरातन कर्म-परंपराओंसे टक्कर लेगी--उनका प्रतिषेध करेगी, उन्हें तोड़ेगी। निखिलके स्पंदनको अपने आत्म-परिणमनमें वह एकतान कर लेना चाहेगी। इस प्रगतिकी राहमें जो भी आये, वह प्रतिष्ठा करने योग्य नहीं है; वह तोड़ फेंकने योग्य है. . . ."

बोलते-बोलते अंजनाको लगा कि वह आवेगसे भर आई है। उसके स्वरमें किंचित् उत्तेजना है। कहीं इस कथनमें राग तो नहीं है ? वह चुप हो गई। अपने आपको फिर तौला और गहरे स्वरमें बोली--

". . . .हां यह जो तोड़ फेंकनेकी बात कह रही हूं--इसमें एक खतरा है। आत्म-नाश नहीं होना चाहिये। कषाय नहीं जागना चाहिये। सर्वहारा होकर हम चल सकते हैं, पर आत्म-हारा होकर नहीं चला जा सकेगा। मूलको आघात नहीं पहुंचाना है। संघर्षसे तो परे जाना है, उसकी परंपराको तो छेदना है। विषमको समपर लाना है, फिर

संघर्षसे विषमको विषमतर बनाये कैसे चलेगा ? देश-काल, युग, परि-स्थिति सबको हमें प्रतिरोध देना है—पर आत्माकी अव्याबाध कोमलतासे, कि जिसमें सब कुछ समा सकता है, संपूर्ण लोकको अपने भीतर समा लेनेका जिसमें अवकाश और शक्ति है।....तब आत्मोत्सर्गकी लौ बनकर हमें जलना होगा। सारे संघर्षोंके विषम और विषको पचाकर हमें सम और प्रेमका अमृत देना है। उसकी मर्यादा है आत्म-संयम। हमें चुप रहना है। दूसरेकी वेदनाको भी अपनी ही आत्म-वेदना बनाकर उसमें तपना है, सहन करना है। पर अपने सत्यके पथपर हमें अभय-निर्द्वद्व और अटल रहना है, फिर राहमें अंगार बिछे हों कि सूलियां बिछी हों। हमें विनीत और नम्र भावसे, बिना किसी अनुयोग-अभियोग या झल्ला-हटके, अपने उस पथपर चुप-चाप चले चलना है। हमारी आन है विनय, जीवन मात्रके प्रति आदर। हमारा शस्त्र है निखिलके प्रति सद्भाव और समता। आचरणमें उसे ही अहिंसा कहेंगे। हमें प्राणके मर्मपर आघात नहीं करना है—जब तोड़ना है तब जड़ मिथ्यात्वको ही तोड़ना है। तब भीतरकी आत्मीयता और प्रेमको और भी सघन करना होगा। अपने व्यक्ति-अस्तित्वकी बलि देकर निखिलके कल्याण, आनंद और मंगलके यज्ञको ज्वलित रखना होगा। बाहरके परिस्थिति-चक्र और भाग्य-चक्रोंको तोड़नेका अनुरोध हममें जितना ही तीव्र है, अपने आत्म-दुर्गको उतना ही अधिक अजेय बना देना है।....पर हां, यह आत्मोत्सर्ग आत्मघात नहीं होना चाहिये। भीतर प्रति-क्रिया नहीं पनपनी चाहिये, सम और आनंद जागना चाहिये। प्रेम बहना चाहिये...."

बीचमें धीरेसे वसंतने कहा—

"पर लोकमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका जिस रूपमें प्रवर्तन है, व्यवहारमें क्या लोकाचारके उन नियमोंको यों सहज तोड़ा जा सकेगा ?"

"द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भी क्या कोई ध्रुव चीज़ हैं ? और वे जैसे चले आ रहे हैं वैसे ही क्या सदा इष्ट हैं ? हमने निश्चय सत्यसे जीवनके

आचरण-व्यवहारको इतना अलग कर लिया है, कि हमारे व्यवहारके सारे नियम-विधानके आधार हो गये हैं हमारे स्वार्थ; और सत्य रह गया केवल तार्किकों और दार्शनिकोंकी तत्व-चिंताका विषय। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भी तो पदार्थ हैं। पदार्थ सत् है। और सत्का लक्षण ही है—नित्य परिणमन, गुण-पर्यायोंका नित्य परिवर्तन, प्रत्यावर्तन। उत्पाद, नाश और ध्रुवकी सक्रिय समष्टि ही जीवन है, सत् है। एक ही अविभाज्य क्षणमें कुछ मिट रहा है, कुछ उठ रहा है, कुछ अपने स्वभावमें ध्रुव होकर भी अपने आपमें प्रवाही है। फिर लोकाचार और उसकी मर्यादा सदा एक-सी कैसे रह सकती है, जीजी ? वह तो सत्की सत्तासे ही इनकार करना है। वह हमारे स्वार्थो और अभिमानोंकी पूजा-प्रतिष्ठा है। वह गर्हित है और अनिष्टकारी है।....और तब सोचती हूं, कुल, शील, मर्यादाके आधार क्या हैं? यह राजसत्ता, संपत्ति, ऐश्वर्य ? यह अपार परिग्रहका हमारा स्वामित्व ?....पर कौन उसे रख सका है ? कौन उसपर अपने अधिकारकी अंतिम मुद्रा लगा सका है ? वस्तु कोई किसीकी नहीं है। सत्ता मात्र स्वतंत्र है। यह हमारा ममत्व और स्वामित्वका भान ही तो मिथ्यात्व है। आत्माकी सम्यक्-दर्शनमयी प्रकृतिका घात यहीं होता है। मोहनी तीव्र होती जाती है, हमारा ज्ञान-दर्शन ममत्वसे आच्छन्न हो जाता है। यही ममत्व है हमारी समाज-व्यवस्था और हमारे नियम-विधानका आधार। इसीपर खड़े हैं हमारे कुल, शील, मर्यादा और प्रतिष्ठाके ये भव्य प्रासाद। कितना कच्चा और भ्रामक है इस लोकाचारके मूल्यका आधार ! लोकाचारको मुक्तिमार्गके अनुकूल करना होगा; प्रगति-शील जीवनकी मांगोंके अनुरूप लोकाचारके मूल्योंको बदलते जाना होगा। निश्चयके सत्यको, आचरण-व्यवहारके तथ्यमें उतारना होगा।"

कुछ देर चुप रहकर फिर अंजना बोली—

"....जो सबका है, उसका संचय यदि हमने अपने लिये कर लिया

है, तो इसमें गौरव करने योग्य क्या है ? परिग्रह तो सबसे बड़ा पाप है ! उसमें सारे पाप एक साथ समाये हैं। असत्य और हिंसा उसकी नींवमें हैं। माना कि अपने बाहुबलसे हमने इस ऐश्वर्य, राज्य, संपदाका अर्जन किया है। पर क्या हमारा यह स्वामित्वका अभिमान, आस-पासके जनोंमें, जिन्हें हमने उससे वंचित कर दिया है, सूक्ष्म हिंसा, ईर्ष्या, संघर्ष नहीं जगाता ? और क्या हम भी निरंतर उसी आत्म-हिंसाके घातसे पीड़ित नहीं हैं ? आस-पास मान और तृष्णाके संघर्ष सतत चल रहे हैं। क्या इस संघर्षकी परंपराको अपने क्षुद्र मान-ममत्वसे धार देना इष्ट है ? क्या वह मनुष्योचित है ? क्या इस हिंसाका संचय हम देखती आंखों करते ही जायेंगे ? . . . . नहीं, सत्य मार्गका पंथी इस बर्बरताके संमुख चुप नहीं रह सकता। मनुष्यके इस पीड़न और पतनको—इस आत्म-घातको—वह खुली आंखों नहीं देख सकेगा। संघर्षके इन दुश्चक्रोंको उलटना होगा—तोड़ना होगा। जीवनको इसके बिना परितोष और समाधान नहीं है। निखिलमें ऐक्यानुभव और साम्य-स्थापन करनेके लिये अपना आत्मोत्सर्ग हम करते जायें। यही प्राणका चिरंतन अनुरोध है। भीतर वही हमारी अनुभूति हो—और बाहर वही हो हमारा कर्म !"

"पर जो व्यवस्था है, वह तो अपने-अपने पुण्य-पापों और कर्मोंके अधीन है, अंजन। क्या हम दूसरोंके कर्मको बदल सकते हैं ?"

"कर्मकी सत्ताको अजेय और अनिवार्य मानकर चलनेको कह रही हो, जीजी ? तब मान लें कि मनुष्य उस कर्म-सत्ताका खिलौना मात्र है ? और यह भी कि, मनुष्य होकर उसका कृतित्व कुछ नहीं है. . . . ? फिर जड़के ऊपर होकर चेतनकी महानताका गुण-गान क्यों है ? फिर तो मुक्ति और ईश्वरत्वका आदर्श निरी मरीचिका है। हमारे भीतर मुक्तिका अनुरोध निरी क्षणिक छलना है। और असंख्य महामानव जो उस सिद्धिको पा गये हैं, उनकी ये गाथाएँ और ये पूजाएँ मिथ्या हैं ? तब निरर्थक है यह कर्मोंके नाशकी चर्चा ! . . . . असलमें विपर्यय यह

हो गया है कि अपने स्वार्थोंके वशीभूत हो हमने जड़ सत्ताका प्रभुत्व मान लिया है। परमार्थ और मुक्तिको भी हमने उसीके हाथों सौंप दिया है। उसीकी आड़में मनुष्यके द्वारा मनुष्यके निरंतर पीड़नका व्यापार अबाध चल रहा है। उस पीड़नको सामाजिक स्वीकृति भी प्राप्त है। पीड़ित बन गया है मात्र उस यंत्रका एक अचेतन पुर्ज़ा। कोटि-कोटि जीवनोंको अचेतन बनानेका अपराध हम प्रति दिन कर रहे हैं। पापका यह वृहदाकार स्तूप खड़ा कर, उसे ही पुण्यका देवता कहकर हम उसकी पूजा कर रहे हैं। हमारा सारा पुरुषार्थ और प्रतिभा खर्च हो रही है उसी स्वार्थके पोषणके लिये, जो उस जड़-सत्ताकी परंपराको बलवान बनाता है।

"....असलमें लोक-जीवनमें यह जो स्वार्थका मूल्य राज-मार्ग बनकर प्रतिष्ठित हो गया है, उसी मूल्यका उच्छेद करना होगा। स्वार्थका अर्थ ही बदल देना होगा। 'स्व'का सच्चा अर्थ है आत्मा, उसका 'अर्थ' यानी 'प्रयोजन', वही सच्चा स्वार्थ है। अर्थात् आत्मार्थ जो कि परमार्थ है, वही सच्चा स्वार्थ है। स्वार्थ और परमार्थके बीचसे यह मिथ्या भेदका पर्दा उठा देना होगा। यानी 'स्व' और 'पर'के भ्रामक भेद-विज्ञानको मेटकर 'स्व' यानी आत्मा और पर यानी अनात्माके सच्चे भेद-विज्ञानको स्थापित करना होगा। जीवनमात्रको आत्मवत् अनुभव करनेकी अवि-राम साधना ही हो हमारा पुरुषार्थ....।"

क्षणैक चुप रहकर फिर अजस्र उन्मेषकी वाणीमें अंजना बोलती ही चली गई—

'हां, तब निमित्तसे हम दूसरोंके कर्मोंको भी बदल सकते हैं। हम अपने कर्मको जब बदल सकते हैं, अपनी चेतनामें उसके अनिष्ट फलको अस्वीकार कर सकते हैं तो निश्चय ही हमारे आत्म-परिणाम समकी ओर जायेंगे। तब लोकमें हमसे संबंधित प्राणियोंसे जो हमारा जीवनका योग है, उनमें हमारे सम आत्म-परिणामोंके संसर्गसे कुछ सद्प्रक्रिया होगी।

और यों आत्म-निर्माणमेंसे लोक-मंगलका उदय होगा। तीर्थंकरके जन्म लेनेमें उस काल और उस क्षेत्रके प्राणि मात्रकी कर्म-वर्गणाएँ काम करती हैं। निखिल लोकके सामुहिक पुण्योदय और अभ्युदयके योगसे वह जन्म लेता है। उस कालके जीवन मात्रके शुभ परिणाम और शुभ कर्मकी पुंजीभूत व्यक्तिमत्ता होता है वह तीर्थंकर। वह सर्वका केंद्रीय अभ्युदय है। पर पुण्य और पाप दोनों ही अंततः संचय करनेकी चीज़ नहीं हैं। पहला यदि स्वर्णकी सांकल है तो दूसरा लोहकी; हैं दोनों ही बंधन। पुण्य कामनासे उपार्जित नहीं होना चाहिये, वह आनुषंगिक फल होना चाहिये। हमें अपने पुण्य-फलका अनासक्त भोक्ता होना है, उस पुण्य-फलको सबका बना देना है। तब अभिमान कटेगा और संघर्ष क्षीण होगा। जो सर्वके कल्याणकी कांक्षासे शुभ कर्म करता है, उसमें वैयक्तिक फलकी कामना नहीं होनी चाहिये। अपने ही लिये तीव्र पुण्य बांधकर, इस मिथ्या महत्ता और अभिमानका पोषण नहीं करना है। इस अज्ञानके विरुद्ध हमें लड़ना होगा....

"....'सबके सुख-दुख अपने-अपने पुण्य-पापके अधीन हैं'—कहकर अपने स्वार्थमें बंद और लिप्त हो रहनेकी छुट्टी हमें नहीं है। जिस कर्ममें हमारी आसक्ति नहीं होगी—उसका बंध हमारी आत्ममें नहीं होगा। तब वह शुभ कर्म हमें बंधनसे मुक्त करेगा—और सर्वके कल्याण और मुक्तिका मार्ग प्रशस्त करेगा। इसीसे कहती हूं जीजी, कि हमारे पाप-पुण्योंके ये मानाभिमान मानव-मानव, प्राणि-प्राणिके बीच नहीं आने चाहियें। जो व्यक्तियोंके उदयागत पाप-पुण्य हैं, उन्हें हम अचल मानकर नहीं चल सकते, उससे समाजका कोई शाश्वत नियम-विधान नहीं बन सकता। हम किसीके पाप-पुण्योंके निर्णायक नहीं हो सकते। जो उदयागत पुण्य हमारी आत्माके प्रेमगुणका घात कर रहा है, उससे जीवनका सिंगार नहीं किया जा सकता। वह पुण्य-फल फेंक देने योग्य है—और यदि हो सके तो उसे बांट देना चाहिये, सबका बना देना चाहिये।

तब उस बंधनसे मुक्ति मिल जायेगी। पुण्यके दुरभिमानमें मत्त होकर मनुष्य प्राय: नवीन दुर्धर्ष पापकर्मोंका बंध करता है तो वह पुण्य पूजा करनेकी चीज़ नहीं है—वह हेय है—तिरस्कार्य है। भरत चक्रवर्तिका जड़ पुण्य-फल चक्र ठेलनेपर भी बाहुबलिके पास न गया, पर भरतकी आत्मा बाहुबलिके चरणोंमें जा पड़ी! चक्रवर्तीका प्रेम उसके चक्र-रत्नसे बाधित न हो सका। यह है उस पुण्यका मूल्य जीजी, जिस पर हम अपने कुल, शील, मर्यादा, लोकाचार और सदाचारके मूल्य निर्धारित करते हैं। इस अज्ञानके अमांगलिक पाशको तोड़कर ही चलना होगा, जीजी। उसके प्रति हम निष्क्रिय आत्मार्पण नहीं कर सकते। उसके विरुद्ध अनिरुद्ध खड़े रहकर हमें लड़ना होगा। उस राहमें होनेवाले प्रहारोंको अचल रहकर, विनयपूर्वक, समभावसे सहन करना होगा। ....और आवश्यकता पड़नेपर निर्मम भी होना पड़ेगा। परिजनोंके मिथ्या दुखका मोह भी, हमारी करुणाको उकसाकर, हमें पथच्युत कर सकता है। पर, वह कर्तव्य-पालन नहीं है, वह पराभव है। अहिंसाका अर्थ दुर्बलकी दया नहीं है!"

"पर तुम्हारे दुखसे महादेवीका दुख अलग नहीं है, बहन। इस घोर आपद-कालमें वे तुम्हारा ही मुंह देखकर जीना चाहती हैं—और तुम्हारे दुखी मनके लिये भी उनकी गोद ही एक मात्र आश्रय है।"

"....दुखको बहुत पाल चुकी हूं, जीजी। रत्नकूट-प्रासादके उस ऐश्वर्य-कक्षमें, असंख्य रातें अपने अकेलेपनमें रो-रोकर बिता दी हैं। पर रुदनके वे दिन अब नहीं रहे, जीजी। उस रुदनसे मैं जीवनका सिंगार न कर सकी! लगा कि आत्माकी अवमानना हो रही है—लगा कि मृत्यु का वरण कर रही हूं। मैं आत्म-घात न कर सकी। आत्म-घातमें क्या उन्हें पा सकती थी? प्रेम मृत्यु नहीं है—जीवन है। प्रेम निष्क्रिय आत्म-क्षय नहीं है, वह अनासक्त योग है—वह प्रवाह है। शरण उन्हीं चरणोंमें है, और कहीं नहीं है। कुल-शील, मर्यादा, पाप-पुण्य, जन्म-

मरणके स्वामी वे आप हैं। वे आप अपनी मर्यादाकी रक्षा करेंगे। निश्चिंत होकर सर्वके प्रति अपनेको देते चलना है।....जाने कब, एक दिन वे निश्चित मिल जायेंगे--इस जन्ममें हों, कि पर जन्ममें हो....'

"इतना बड़ा विश्वास उस पुरुषके प्रति कर सकोगी, अंजन, जो क्षणकी उमंगमें तुम्हें त्यागकर चला गया; और जिसके कारण परित्यक्ता और पद-च्युता होनेका कलंक सिरपर धरकर तुम्हें जीवनमें चलना पड़ रहा है ?"

"त्याग करनेकी स्पर्धा कौन कर सका है, जीजी ? कौन किसीको त्याग सका है, जबतक किसीको अपनानेकी सामर्थ्य हमारी नहीं है। यह त्याग तो केवल दंभ है, आत्म-छल है। वह केवल अपने अहंकी झूठी तृप्ति है। अपनाया है, इसीसे तो त्यागनेके अधिकारका उपयोग उन्होंने किया है। कुछ दिन अपने मानको लेकर वे खेलना चाहते हैं तो खेल लें, इसके बाद जब मिलेंगे तो बीचमें कुछ आ नहीं सकेगा ! वे किसी असाधारण रास्तेसे मेरे पास आनेमें महत्ता अनुभव करते हैं तो इसकी उन्हें छुट्टी है। पर जीजी, बाधा पुरुषकी नहीं है, बाध्यता तो केवल प्रेमकी है। और उसी प्रेमकी परीक्षा भी है कि वह अपने प्रेयको प्राप्तकर अपनेको सत्य सिद्ध करे। वहां पुरुष गौण है, और विशिष्ट पुरुष तो अचिंतनीय भी हो सकता है। पर यदि प्रेम किसी विशिष्टपर ही अटका है तो उसमेंसे अपना द्वार बनाकर ही मुक्तिकी राह खुल सकेगी। इसमें लज्जा भी नहीं है और अपमान भी नहीं है। वह दासत्व नहीं है, वह अपनी ही सिद्धिके लिये सहन करना है। पुरुष, पुरुष है और बलवान है, और नारी कोमला है और सब कुछ सह सकती है, इसीलिये जब चाहे उसे त्यागनेका अधिकार पुरुषको है, यह मुझे मान्य नहीं है। नारीकी सर्व-ग्राही कोमलतामें एक दिन, दृप्त पुरुषका मिथ्याभिमान, निश्चित आकर गलित हो जायगा। स्त्रीके सर्वहारा प्रेमकी इस सामर्थ्यमें

मेरा अदम्य विश्वास है, जीजी। यदि कापुरुषको परम-पुरुष बना सकनेका आत्म-विश्वास हमारा टूटा नहीं है, तो किस पुरुषका अत्याचार है जो हमें तोड़ सकता है ? . . . . पर यह नहीं कह रही हूं कि हमें पुरुषकी होड़ करनी है। हमें अपने प्रेमकी मर्यादा नहीं भूल जानी है। हमारा जो देय है वह हमें देते ही जाना है। पुरुष सदा नारीके निकट बालक है। भटका हुआ बालक अवश्य एक दिन लौट आयेगा। बालकपर तो दया ही की जा सकती है। उसकी हिंसाके विषको पीकर भी नारीने उसे सदा दूध पिलाया है। नारी होकर अपने इस दायित्वको हमें नहीं भूल जाना है। पर इसीलिये अबला होकर वह असत्यको सिर नहीं झुका सकेगी। वह अपने प्राणपर असत्यसे टक्कर लेगी और उसे चूर्ण कर देगी। उसका आत्मार्पण भी निष्क्रिय और अज्ञ नहीं है, वह ससंज्ञ है ! उसके मुक्ति-मार्गमें पुरुष उसकी बाधा बनकर नहीं आ सकता।"

"पर महादेवीने जो कहा है, उसका क्या होगा, बहन ?"

". . . . उनका और तुम सब परिजनोंका ऋण चुकानेके लिये ही तो इस महलमें हूं, जीजी। और उनकी कृतज्ञ हूं कि परित्यक्ता वधूको उन्होंने यह रत्नोंका महल सौंप रखा है, और उसे वे इतना प्यार करती हैं, इतना आदर देती हैं। पर मेरा ही दुर्भाग्य है कि इस महलको मैं अब रख नहीं सकूंगी। उनकी इस कृपा और प्रेमके योग्य मैं अपनेको नहीं पा रही हूं। मैं तो बहुत ही अकिंचन हूं और बहुत ही असमर्थ हूं यह सब झेलनेके लिये. . . .

"इस राजमहलमें रहकर इसकी और इसके लोकाचारकी मर्यादाको मैं नहीं लोपना चाहूंगी। तब देखती हूं कि इस घरमें अब मेरे लिये स्थान नहीं है। यह छोड़कर मुझे चले जाना चाहिये। और कोई रास्ता मेरे लिये चुननेको नहीं है। इस महलमें रहना है, तो यहांकी मर्यादा तोड़नेका अधिकार शायद मुझे नहीं है। पर मेरे निकट वह असत्य है और उसे मैं शिरोधार्य नहीं कर सकूंगी. . . .

"महादेवीके चरणोंमें मेरे प्रणाम निवेदन करना और उन्हें कह देना कि परित्यक्ता अंजनाके इतने वर्षोंके गुरुतर अपराधको क्षमा कर दें। परित्यक्ता होना ही अपने आपमें क्या कम अपराध है ? फिर मुझसे तो मर्यादाका लोप भी हुआ है ! उसके लिये मनमें बहुत अनुताप है। अब मेरा यहां रहना सर्वथा अनुचित होगा, शायद वह पाप होगा, अपने लिये भी और उनके लिये भी। जितनी जल्दी हो सकेगी, शीघ्र ही मैं यहांसे चली जाऊंगी, उस राहपर जो मेरे लिये सदा खुली है....।"

आंसू भीतर ही झर रहे हैं—यह कंठ-स्वर ऐसा लग रहा है, जसे किसी गुफामें निर्झरका घोष हो। पर वसंतकी आंखोंसे तो टप-टप आंसू टपक रहे थे।

"....छिः जीजी, तुम रो रही हो....? अपनी अंजनापर अभिमान नहीं कर सकतीं, तो क्या उसे प्यार भी नहीं कर सकतीं ? इतनी अवशता क्यों ? अंजना अकिंचन है सही, पर उसे इतनी दयनीय मत मानों जीजी, उसके भाग्यपर और उसके कर्मपर अविश्वास न करो ....?"

अंजना चुप हो गई और मुंह फेरकर सरोवरके जल-प्रसारपर दृष्टि फैला दी। थोड़ी देर बाद चुप-चाप दोनों बहनें उठकर वहांसे साथ-साथ चल पड़ीं। राहमें बराबर चल रही हैं, पर एक-दूसरीकी ओर देखनेका साहस उन्हें नहीं है।

[१७]

पूर्वाह्नमें अपने रथपर, अकेला प्रहस्त, अजितंजय प्रासादके मार्गपर अग्रसर है। चारों ओर शरदकी नीलमी श्री फैली है। प्रकृति प्रसन्न है, शीतल और सजल, तरुणी धूप मुस्करा रही है। इस निर्मलताकी आरसी-में, प्रहस्तने पाया, कि उसकी सारी अंतर्भूत व्यथाएँ झलमला उठी हैं।

हां, वह जब भी पवनंजयसे मिलने आया है, उसका मन सह-वेदनसे बोझिल रहा है। वह हृदयका द्वार खोलकर पवनंजयके संमुख जाता, कि अवसर पाये तो उसे अपने भीतर ले ले। पर पवनंजयके सामने पहुंचते ही, उनकी तनी हुई गर्विणी भौंहोंपर जाकर सदा उसकी सह-वेदना बिखर गई है। उसके मनसूबे चूर-चूर होकर व्यर्थ हो गये हैं। उसके हृदयके द्वारको जैसे कोई अवहेलनाकी ठोकरसे बंद कर देता। ....और वह देखता कि देव पवनंजय बोल रहे हैं। ज्ञानकी प्रत्यंचा चढ़ी हुई है। हृदय मानों पैरों तले दबा है, और शून्यमें सनसनाकर शब्दोंके तीर व्यर्थ हो रहे हैं। उनकी वाणीमें बुद्धिका गौरव है। वे तत्वकी भाषामें जीवनका विश्लेषण कर उसे फेंक दे रहे हैं। इनकार उनका जीवन-सूत्र है। परको इनकार उन्होंने इसीलिये किया है, क्योंकि उन्होंने अपनेको ही इनकार कर दिया है। तब उनके निकट जीवन मात्र वस्तु है। व्यक्ति कुछ नहीं है, उसकी आत्म-चेतना कुछ नहीं है, उसकी आत्म-वेदना मिथ्या है।

प्रहस्तने सदा उनके संमुख साधारण मानव होकर अपनेको रखना चाहा। अपनी वेदना और करुणाके स्वरको दबाया नहीं। पर उस वेदना और मानवताको सदा कुंठित हो जाना पड़ा है। तब उसे अपने दायित्वका भी भान आया है।....उसीने एक दिन किशोर पवनके सपनों और मनके कवित्वमें, एक भव्य तत्वज्ञानकी प्रतिष्ठा की थी। उसीने पवनकी अपार सौंदर्य-जिज्ञासाकी ऊर्ध्व दृष्टिको, एक प्रबुद्ध दर्शनका तुंग वातायन प्रदान किया था। उसने देखा कि उस वातायनपर चढ़कर पवनंजय अपने अहं-दुर्गमें बंदी हो गया। वह जीवनके साथ चौसर खेल गया। उसने आत्माकी अवमानना की। तब वह बोला इनकार और तिरस्कारकी गर्विणी वाणी।

प्रहस्त सदा वेदना लेकर गया है और विवाद लेकर लौटा है। लौटते हुए सदा उसे अपने ऊपर रोष आया है और आत्मग्लानि

हुई है। पवनके लिये मानों वह दयासे आर्द्र और कातर हो उठता है। क्यों उसने उसे यों जाकर आघात पहुंचाया है? उसकी विषम वेदनापर क्यों उसने व्यंग किया है? पर क्या इसमें उसीका दोष है? जहां बुद्धि ही के शस्त्रोंपर जीवनको परखा जा रहा हो, वहां व्यंगके सिवाय और क्या निपजेगा? इसीसे जब अपने दायित्वसे प्रेरित होकर पवनके भटके हुए दर्शनको सही मार्ग-निर्देश करनेकी चेष्टा उसमें होती है, तब उसके पीछे हृदयका सारा सद्भाव रहते हुए भी, वह व्यंगसे कठिन और प्रखर हो गई है। पर पवनंजय तो जैसे चोटको निमंत्रण देता-सा ही मिलता है; मानों उसे प्रेम भी यदि किया जा सकता है तो चोट देकर ही....! पर प्रहस्तको हार अपनी ही दीख रही है। उसे बार-बार यही बात खाती रही है कि पवनके प्रति अपना देय वह नहीं दे पाया है। यह उसीकी असामर्थ्य है कि वह पवनको अपने विश्वासकी छायामें न ले सका है।

जो भी पवनंजयने साफ़ घोषित करके, प्रहस्तसे अपने आपको छीन लिया था, फिर भी क्या प्रहस्त रुष्ट हो सका है? क्या उसका हृदय कुंठित रह सका है?—पवनंजयके इनकारको झेलकर भी वह उसे अस्वीकार न कर सका है। उसने अपने आप ही समझौता करके राह निकाल ली थी। नियम उसका अचूक है कि दो-चार दिनमें बराबर वह यहां आ ही जाता है, पवनंजय हों या न हों। यदि मिले तो कैफ़ियत नहीं तलब करता, न अपनी हित-चिंताकी घोषणा ही किया चाहता है। यदि हो सके तो पवनका सेवक होकर, उसके छोटे-मोटे कामोंका सहयोगी हो जाना चाहता है।

प्रासादके नवम खंडके कक्षोंमें जहां लोकोंकी रचनाएँ हैं, वहीं इन दिनों पवनंजय अपने सपनोंको रूप-रंग देनेमें व्यस्त रहते हैं। वहां पहुँचकर प्रहस्त चुप-चाप उनके कामकी गति-विधिको समझ लेता है। अपने लायक़ कोई काम चुनकर मौन-मौन उसमें जुट जाता है। कभी उसे

पता लगता कि आज पवनंजय छतके किसी मेरु-कक्षमें बंद हैं, तो वह कभी ऊपर जानेकी चेष्टा न करता। बाहरसे ही लौटकर चुपचाप चला जाता। यदि उसके सामने ही पवनंजय कभी बाहरसे लौटते और वह प्रतीक्षामें होता, तो वह यह कभी न पूछता कि 'कहांसे आ रहे हो ?' पवनंजय कोई गंभीर तत्वकी बात कहते, तो वह मुस्कराकर, उसे सहज स्वीकार कर चुप हो रहता !

उसे बात-बातमें एक दिन पवनंजयसे यह भी पता लगा था कि विजयार्धकी मेखलामें कई विद्याधर नगरियोंके राज-कुमारोंसे उसकी मित्रता हो गई है। उनसे उसे कुछ दुर्लभ विद्याएं भी प्राप्त हुई हैं। और कभी-कभी एक प्रसन्न आत्म-तुष्टिका कटाक्ष करके वह आवेशमें कहता—"याद है न प्रहस्त, मैंने उस दिन मानसरोवरके तटपर तुमसे कहा था—कि वह दिन दूर नहीं है जब नाग-कन्याओं और गंधर्व-कन्याओंका लावण्य पवनंजयकी चरण-धूलि बननेको तरस जायगा ! . . . . उस दिनके स्वागतके लिये तैयार हो जाओ, प्रहस्त। अब उसी यात्राके लिये महा-प्रस्थान होनेवाला है।"

और आज प्रहस्त जब पवनंजयसे मिलने जा रहा है तो एक राज-कर्तव्य लेकर जा रहा है।—जंबूद्वीपके राज-घरानोंमें यह बात अब छुपी नहीं थी कि आदित्यपुरके युवराज पवनंजयने, परिणयके ठीक बाद ही नवपरिणीता युवराज्ञी अंजना का त्याग कर दिया था। कुछ दिनों प्रतीक्षा रही, पर देखा कि कुमारका मन फिरा नहीं है। तब अनेक दूर देशों और द्वीपांतरोंसे विवाहके संदेशे और भेंटें लेकर राजदूत आदित्य-पुरमें आने लगे। आये दिन आतिथ्य-शालामें एक-दो राजदूत इस प्रयो-जनके अतिथि अवश्य पाये जाते। लंबे अंतरालोंसे जब कभी पवनंजय माता-पिताके चरण छूने या उनसे मिलने आते, तो राजा और रानीने अकेलेमें और मिलकर, पवनके हृदयको पकड़नेके हर प्रयत्न कर देखे हैं। पर वे सफल नहीं हो सके हैं। या तो पवनंजय मौन रहते हैं, या

फिर कोई कौतुक करके, अथवा अन्योक्ति-दृष्टांत देकर बात बदल देते हैं। मांकी बातको तो वे विनोदमें ही उड़ाकर हँस भी देते हैं। मां इस गठीले बेटेको खुलकर हँसते देखकर ही मानों परितोष कर लेती है, और आगेका आग्रह-अनुरोध उसका मानों निर्वाक् हो जाता है।

तब आज प्रहस्तको महाराज और महादेवीकी आज्ञा हुई है कि वह इन आये हुए राजकुमारियोंके चित्रोंको लेकर पवनंजयके पास जाये। उसे दिखाकर उसके हृदयका भेद पाये। और अपना सारा प्रयत्न लगाकर वह, पवनंजयकी अनुमति, दूसरे विवाहके लिये ले आये। वह राज-कर्तव्य लेकर जा रहा है, पर वह अच्छी तरह जानता है कि वह हँसी कराने जा रहा है। पवनंजयकी कविताको उसने कौनसा दर्शन दिया था, वह रहस्य कौन जानता है? महाराज और महादेवीको भी उस सबका क्या पता है? उनके निकट तो वह तारुण्यका हठीला अभिमान ही अधिक है, जिसे किसी अनहोने लावण्यकी खोज है; और उम्रके बीतते हुए निरर्थक वर्षोंमें वह आप कहीं ढीला हो जायगा।

नवम-खंडपर कोनेके उस अठकोने कक्षमें आज पवनंजय काममें व्यस्त थे। वे कई दिनोंसे यहां अपने ही स्वप्न-कल्पनाके अनुरूप ढाई-द्वीपकी रचनाको सांगोपांग कर रहे हैं। सूचना पाकर पवनंजयने प्रहस्तको ऊपर ही बुला लिया। प्रहस्त इस कमरेमें पहली ही बार आया है। देखा तो, देखकर दंग रह गया। विशाल धातु-स्तवकोंमें कई प्रकारकी गूंधी हुई चिकनी मिट्टियाँ सजी हैं। चित्र-विचित्र पाषाणों, मणियों और उपलोंके ढेर चारों ओर फैले हैं। देश-देशकी रंग-बिरंगी धूलि और बालुका बिल्लौरके करंडकोंमें चमक रही है। शंख और सीपोंके बड़े-बड़े चपकोंमें अनेक रंगोंकी राशियां फैली हैं। जो रचना हुई है उसमें अद्भुत रंग-छटा और बारीक रेखाओंमें, बड़े ही कौशल और कारु-कार्यके साथ, प्रकृतिके विस्तारको, अवकाश और सौंदर्यको बांधनेका प्रयत्न अविराम चल रहा है। पृथ्वी, पर्वत, समुद्र और

आकाशोंकी सारी दुर्लंध्यता कुमारकी तूली और उँगलियोंके बीच खेल रही है।

मानों कोई बड़ा रहस्य एक बारगी ही खोल दिया हो, ऐसे गौरवकी मुस्कराहटसे पवनंजयने प्रहस्तका स्वागत किया। प्रहस्तके मनमें एकाएक प्रश्न उठा—यह महाशिल्प-व्यापार, यह कलोद्भावना किस लिये ? अहं-भोगमें बंदिनी होकर यह कला आखिर कहां ले जायगी ? ये रंग और रेखाएँ, मानों फैलकर जड़ित हो गई हैं—उनमें जीवनके प्रवाह-की सजीवता नहीं है। लोकका क्षेत्र-विस्तार इसमें बँध भी आये, पर क्या जीवनकी इयत्ताका मान इसमेंसे उपलब्ध हो सकेगा ? पर समय-समयपर आकर क्या उसने, इसी रचनाके वृहद् आयोजनमें मदद नहीं की है ?

प्रहस्त बोला कुछ नहीं, सोचा कि रास्ता कौतुकका ही ठीक है। उसने राजकन्याओंके वे चित्र-पट खोल-खोलकर, कमरेमें आस-पास आधारोंपर टँगे मान-चित्रोंके ऊपर फैलाकर टाँग दिये। अनायास एक कटाक्षसे पवनंजयने देख लिया, फिर आंखें तूलीकी गतिमें लीन हो गई। अपने बावजूद वे मुस्करा आये। प्रहस्तने मुंह मलकाकर धीरेसे कहा—

"लोककी इस विराट रचनाके बीच अब तुम्हें हृदय स्थापित करना है, पवन ! इस सबके स्रष्टा और द्रष्टाको केंद्रमें अपना झरोखा बांधना है। चुनो....! जीवनके इन प्रवाही रूप-रंगोंकी धारामें अपनी तूलिका डुबा दो, और उस केंद्रका अंकन कर दो"

पवनंजयकी वे तल्लीन आंखें उठ न सकीं। उसी तन्मयतामें ईषत् भ्रू उचकाकर वे बोले—

"स्रष्टा और द्रष्टा इस रचना में कहां नहीं है, जो किसी विशिष्ट विंदुपर वह अपनेको स्थापित करे ? और अपनेको उद्घोषित करनेका यह आग्रह ही क्या अपनी असामर्थ्य और सीमाका प्रमाण नहीं है ? पर अपने संतोषके लिये तुम चाहो तो देखो, प्रहस्त, वह दक्षिण विजयार्धकी सर्वोच्च श्रेणीपर है—अजितंजय कूट ! वह प्रासाद नहीं

है, प्रहस्त, और न वह वातायन है। वह कूट है, चारों ओरसे खुला, अरक्षित, प्रकृत ! आकाशकी अनंत नीलिमा उसके पाद-मूलमें लहरों-सी आकर टकरा रही है। वही है द्रष्टाके ध्रुवासनका प्रतीक !"

प्रहस्तने देखा कि फिर विवादकी भूमिका संमुख है। नहीं, अपनी बुद्धिपर आज वह धार नहीं आने देगा। वह तर्क नहीं करेगा। और हृदय....? नहीं, उसकी कुंजी उसके पास नहीं है। उसे कर्तव्यका सहारा है और वह उससे बँधा भी है। जो भी इस व्यावहारिकतामें वह औचित्य नहीं देखता, फिर भी बातको ठोस भूमिपर लाकर ही निस्तार है। पर कितना ज्वलंत और वेधक है वह यथार्थ। अपने बावजूद प्रहस्तके हृदयका उभाड़ फूट ही तो पड़ा--

"भैया पवन, अब और हमारे हृदयोंको मत कुचलो, अब और अपने आपको यों मत रोंदो।....नहीं, यह बर्बर व्यापार अब मैं नहीं चलने दूंगा। अपने ऊपर और किसीपर तुम्हें करुणा नहीं हुई, पर अपनी मांके हृदयको अपने इस मूक अत्याचारसे अब मत बींधो। वह दृश्य बहुत ही त्रास-दायक और असह्य हो गया है। और भैय्या, जीवनमें एकांत निश्चय-नयकी दृष्टि लेकर ही हम नहीं चल सकते। वह निश्चया-भास हो जायगा। तब तत्वके यथार्थ स्वभावकी ओटमें हम अपनी दुर्बलताओंको प्रश्रय देने लगेंगे। वह फिर एक आत्म-घातक छद्म-व्यापार हो जायगा। जीवनके तात्विक यथार्थको व्यवहारके सापेक्ष अर्थोंमें देखना होगा; और प्रसंगके अनुसार अपना देय देकर जीवनकी धाराको अविच्छिन्न रखना होगा।"

पवनंजयकी काममें लगी आंखें और भी विस्फारित हो गई हैं। उनके ओठोंकी मुस्कराहट और भी फैलकर अपने विस्तारमें प्रहस्तके कहेको शून्य-वत् कर देना चाहती है। वे बोले कुछ नहीं, अविचलित अपने काममें संलग्न रहे। प्रहस्तको लगा कि वह फिर अपनी दी हुई

राहमें जो भटकन आ गई है, उसे दुरुस्त करनेमें लग गया है। फिर उसने अपनेको रोका और सीधा प्रश्न किया—

"भैय्या पवन, तुम्हारी हँसी ही मेरे लिये बहुत है। हां, सुनो, मेरी तरफ़ देखो—कितने ही राजदूत आ-आकर लौट गये हैं, कितने ही अभी भी अतिथि-शालामें प्रतीक्षमाण हैं। मां और पिता तुम्हारे हृदयकी थाह न पा सके। तब वे क्या उत्तर देते....? इस बार उन्होंने फिर मुझे ही भेजा है। यही विश्वास करके कि मैं तुम्हारे हृदयके निकटतम हूँ; मैं ही तुम्हें मानसरोवर पर विवाहके लिये राज़ी कर लौटा लाया था, और इस बार भी दूसरे विवाहके लिये तुम्हारी अनुमति मैं ही ला सकूंगा। जो एक भूल मुझसे हुई है, उसका प्रायश्चित्त यह दूसरी भूल करके ही शायद मुझे करना होगा? उनके विश्वासको मैं क्या कहकर झटका दूं? वह निर्दयता भी तो मुझसे नहीं हो रही है। अब मेरा दावा तुम्हारे ही संमुख है, पवन, अब अपना हृदय मुझसे न छिपाओ। या तो मेरे इस अभागे हृदयको काटकर यहीं दो टूक करदो, या अपने मर्मकी व्यथा मुझसे कह दो।" पवनंजयका अकातर चित्त, इस आवेदनसे हिल उठा। उनका सारा अंतःकरण आर्द्र हो आया।..पर इस आर्द्रताका उन्होंने उपयोग कर लिया। खिड़कीमेंसे दृष्टि आकाशपर थमी है; अपनी उंगलियोंपर तूलिकाको नचाते हुए पवनंजय बोले—

"मेरे एकमात्र आत्मीय! क्या तुम भी मेरे मनकी व्यथाको इतने दिनों तक अनदेखी ही करते रहे हो? क्या तुम भी, प्रहस्त, उसे कोरा छल और खिलवाड़ ही समझते रहे हो? जो चरम जिज्ञासाकी वेदना तुम्हींने मेरे किशोर प्राणमें एक दिन सँजो दी थी, उसीको आज तुम अस्वीकार करोगे, प्रहस्त? जानता हूं, तुम्हें कितनी ही बार मैंने चोटें दी हैं, मैंने तुम्हें ठेला है, तिरस्कार और वेदना दी है; उसके पीछे क्या यही दावा और खीज नहीं थी, कि अरे तुम!...अपने ही दिये दुखको देकर भूल गये हो, और अब लोकाचारके रक्षक होकर उसे मिथ्या कहा चाहते

हो ? तो मुझे चुप हो जाना है, अपनी व्यथाको तुम्हें दिखानेका कोई नाटक मुझसे नहीं हो सकेगा, प्रहस्त !"

"जानता हूं, पवन, मेरा अपराध अक्षम्य है---पर छोड़ो उसे। उसका प्रायश्चित्त औरोंको दुख दिलवाकर तो मुझसे नहीं हो सकेगा। हां, तो महादेवीको तुम्हारा क्या मन्तव्य मुझे जाकर कहना है, वही तुमसे सुनना चाहता हूं।"

"पर तुम्हीं मेरी तकलीफ़को नहीं समझोगे ? तुम्हीं उसकी उपेक्षा करके मुझसे उत्तर चाहोगे ? खैर, जैसी तुम्हारी इच्छा।..मांसे कहना, प्रहस्त, कि अपनी व्यथा मैं अपनी मां तक नहीं पहुंचा सका, उसके लिये मुझे पर्याप्त दुःख है। पर मुक्तिके मार्गमें निर्मम होकर ही चला जा सकेगा। माता-पिताका मोह भी तब एक दिन त्याज्य ही हो सकता है ! कहना कि अपने अभीष्टकी खोजमें जा रहा हूं। वे दुखी न हों। उनका पुत्र उनके आशीर्वादको विफल नहीं करेगा, और उनकी कोंखको नहीं लजायेगा। वे उसे हर्ष-पूर्वक सिद्धिकी खोजमें जानेकी आज्ञा दें। कल रात मैं उनसे मिलने गया था। जीमें आया कि अपनी बात उन्हें कह दूं, पर कह न सका---उनका वह चेहरा देखकर....!"

"अब कहां जाना शेष रह गया है, पवन ?"

"इस प्रश्नका क्या उत्तर दूँ, प्रहस्त ? इसका उत्तर तो चले ही जाना है। और देख रहे हो इस रचनामें, वह है मानुषोत्तर पर्वत ! ढाई द्वीपोंको पारकर वहांतक मनुष्यकी गति है। कालोदधि समुद्रकी जगतीको चारों ओर मंडलाकार घेरे हुए वह पुष्कर-वर-द्वीप है, और उसके बीच पड़ा है वह मानुषोत्तर पर्वत। जानेकी बात क्या पूछ रहे हो, पृथ्वी तो उदयाचलसे लेकर अस्ताचलतक घूम आया हूं, प्रहस्त ! पर, क्या अभीष्ट मिल गया है ? और उसके पहले विराम कहां ? अब समुद्रोंका आमंत्रण है, उन्हें भी पार करना होगा। इस आकर्षणमें ही

प्राप्ति छुपी है, प्रहस्त ! दिशाओंमें मुक्ति स्वयं बाहें पसारकर मानों पुकार रही है। अब तीरपर कैसे रुका जा सकेगा ? अब मुहूर्त-क्षण आ पहुंचा है। मुझे जाना ही चाहिए, जाना ही होगा..."

"पहले इधर देखो, पवन, तुम्हारी योजनाके मान-चित्रोंके ऊपर होकर एक दूसरा ही लोक तुम्हारी राहमें आ गया है। उसे पार किये बिना क्या उन समुद्रोंतक तुम पहुंच सकोगे ?"

ओह, इन चित्रोंकी रूपसियोंकी कहते हो, प्रहस्त ? एक साथ सबको पाकर भी मेरा मन इनसे न भर सकेगा ! मेरी वासनाको इस रूप-सीमामें तृप्ति नहीं है, प्रहस्त ! नहीं, इन तटोंमें अब और मैं लंगर न डाल सकूंगा। शरीर-शरीरके बीच बाधा है, मायाकी चकाचौंध है, वंचना है और तृष्णाकी आर्त्तता है; हाथ पड़ता है केवल एक विफल पीड़न। जो इसमें है, वह उसमें नहीं है। हर रूपमें कहीं न कहीं 'कुछ' नहीं है। बस वह 'कुछ', जो विच्छिन्न हो गया है, उसीका एकाग्र और समग्र भोग मुझे एक समयमें ही चाहिये। मुझे अनंत सौंदर्य चाहिये, प्रहस्त, मुझे अक्षय प्रेम चाहिये,—वह कि जिसमें फिर बिछुड़न नहीं है ! शरीरकी तुच्छ तृप्तिके बादकी विफलता मुझे अपनानेको कहते हो ? जो क्षणिक तृप्ति, अनंत अतृप्तिको जन्म देती है, वह हेय है। वह मेरी तृप्ति नहीं है, और वह मुझे नहीं चाहिये। इसीलिये जाना है, प्रहस्त, उसी परम तृप्तिकी ओर—उसीका यह आकर्षण है। उसकी अवज्ञा कैसे हो सकेगी ?"

"तो क्या वह यों किसी बाहरकी यात्रासे पाई जा सकेगी ? और क्या, तुम्हारी कोई निश्चित यात्रा-योजना भी बन चुकी है, पवन ? यदि है, तो क्या वह मैं जान सकूंगा ?"

हँसते हुए पवनंजय उत्साहित हो आये—बोले—"उसीका आयोजन तो है यह रचना, पवन ! पर, हां तुम्हें नहीं पता था। वह देखो हिमवान पर्वतके मूलमें, वृषभाकार मणि-कूटके मुखमें होकर चंद्रमा-सी धवल

गंगाकी धारा गिर रही है। अनेक कूटों और सरोवरोंके तोरण पार करती, अनेक भू-प्रदेशोंको सौंदर्य-दान करती, विजयार्धके रजत-प्रदेशमें आकर ज़रा संकुचित होती हुई, विजयार्धके गुफ़ा-द्वारमें वह भुजंगिनी-सी प्रवेश कर गई है। रूपाचलकी गुफ़ाके वज्र-द्वारमें प्रवेश करते समय, वह आठ योजन विस्तार पा जाती है। और देख रहे हो, वे गंगा और सिंधु नदियां जहां जाकर लवणोदधि-समुद्रमें मिली हैं, उनके वे रत्न-तोरण और वे तट-वेदियां दीख रही हैं। भरत-क्षेत्र और जंबु-द्वीपके सभी भू-प्रदेशोंको प्रणाम करते हुए, उन तोरणोंतक पहुंच जाना है। और फिर हैं, लवण-समुद्रकी वे उत्ताल लहरें। उसमें कौस्तुभ-पर्वतको धारण किये हुए वह सूर्य-द्वीप है, और उससे भी परे चलकर वे मागध, वरतनु और प्रभास द्वीप हैं। देख रहे हो न प्रहस्त ?"

"हां, जो है वह तो नैसर्गिक है, पर वह है इसीलिये गम्य है और तुम्हारी तृप्तिका मार्ग उसीमें होकर है, यही नहीं समझ पाया हूं ! . . . . पर पवन, देख रहे हो वह उत्तर भरत-क्षेत्रके बहु-मध्य भागमें वृषभ-गिरि पर्वत खड़ा है, जहां आकर चक्रवर्तिका मान भी भंग हो जाया करता है। षट खंड-विजयके उपरांत, नियोगके अनुसार, जब चक्रवर्ती इस वृषभ-गिरि पर्वतकी शिलापर अपनी विजयके चिह्न-स्वरूप अपने हस्ताक्षर करने आता है, तो पाता है कि उस शिलापर नाम लिखनेकी जगह नहीं है ! उससे पहले ऐसे असंख्य चक्रवर्ती इस पृथ्वीपर हो गये हैं और वे सभी उस शिलापर हस्ताक्षर कर गये हैं। तब यह नया चक्री भी अपनेसे पहलेके किसी विजेताका नाम मिटाकर वहां अपने हस्ताक्षर कर देता है; और यों अपनी विजयके बजाय अपने मानकी पराजयकी ही हस्त-लिपि लिखकर वह चुप-चाप वहांसे लौट आता है। . . . .पर, ख़ैर, वह तो तुम जानो। . . . .लेकिन, तुम्हारा मार्ग मेरी कल्पना की पकड़में नहीं आ रहा है। हां, तो महादेवीको जाकर मुझे क्या यही सब कहना है, पवन ?"

'हां, प्रहस्त, यदि मेरी वेदनाको तुम इनकार नहीं करते हो—और

मेरे सखा हो, तो मेरे मनकी इस कथाको मां तक पहुंचा देना, और कहनेको कुछ शेष नहीं है...."

कहकर तुरंत पवनंजय, बिना कुछ कहे चुप-चाप वहांसे चल दिये। प्रहस्तने वे चित्रपट समेटे और म्लान-मुख अपने रथपर आकर बैठ गया! रास्तेमें वह सोच-सोच कर हार गया कि हाय, क्या कहकर वह मांके हृदय-को परितोष दे सकेगा?

[१८]

एक वर्ष बाद....

विजयार्धके पार्वत्य प्रवेश-तोरणपर युद्ध-प्रस्थानके दुंदुभि-घोष गूंज रहे हैं। आयुधशालाओंसे दिशा-भेदी शंखनाद रह-रहकर उठ रहे हैं। तुरही और भेरीके स्वर-संधानमें योद्धाओंको रणका आमंत्रण है....

अपराह्नकी अलसता एकाएक विदीर्ण हो गई। अभी-अभी शय्या त्यागकर पवनंजय उठ बैठे हैं। प्रासादके चतुर्थ खंडमें, पूर्वीय वरामदेके रेलिंगपर आकर वे खड़े हो गये। दीखा कि विजयार्धके अरिंजय-कूटपर आदित्यपुरकी राज-पताका वेग-पूर्वक फहरा रही है। प्रस्थानोन्मुख रथोंकी जो सरणिका दूरतक चली गई है, उनके मणि-शिखर और ध्वजाएं म्लान पड़ती धूपमें दमक रही हैं। उठते हुए धूलके बगूलोंमें अश्वारोहियों-की ध्वजाएं दीख-दीखकर विलीन हो जाती हैं। कवच, शिरस्त्राण और शस्त्रोंके फलोंसे एक प्रकांड चका-चौंध पैदा हो रही है। हस्तियोंकी चिंघाड़ और अश्वोंकी हिनहिनाहटसे पृथ्वी दहल रही है। भूगर्भमें कंप है, और आकाश आतंकित है।

तुरंत एक प्रतिहारीको बुलाकर, कुमारने इस अप्रत्याशित युद्ध घोषणाका कारण पूछा। मालूम हुआ कि पाताल-द्वीपके राक्षस-वंशीय राजा रावणने अपने देवाधिष्ठित रत्नोंके गर्वसे मत्त होकर वरुण-द्वीपके

राजा वरुणपर आक्रमण किया है। शुरूमें जब वरुणकी सेनाएं रावणकी सेनाओंसे पराङ्मुख होने लगीं, तो वरुण स्वयं युद्ध-क्षेत्रमें उतर पड़ा। उसने रावणके देवाधिष्ठित रत्नोंकी अवहेलाकर उसके बाहुवलको ललकारा है। रावण स्वयं उसके संमुख लड़ रहे हैं। युद्ध बहुत भीषण हो उठा है। आदित्यपुर वर्षोंसे पातालाधिपतिकी मैत्रीके सूत्रमें बंधा है। रावण-का राजदूत संदेश-पत्र लेकर आया है। आदित्यपुर और विजयार्धके अन्य कई विद्याधर राजा रावणके पक्षपर लड़नेके लिये आमंत्रित किये गये हैं। उसी युद्धपर जानेके लिये आज आदित्यपुरके सीमांतर पर सैन्य सज रहा है। महाराज प्रह्लाद स्वयं कल सैन्यके साथ संग्रामको प्रस्थान करेंगे आदि-आदि। कुमार सुनकर आतुर हो आये। संकेत पाकर प्रतिहारी चली गई।

....रण-वाद्योंका घोष चुनौती दे रहा है। शंखनाद और तूर्य-नादसे कुमारका वक्ष हिल्लोलित हो उठा। धमनियोंका जड़ित रक्त अदम्य वेगसे लहराने लगा। त्वरापूर्वक वे लंबे डग भरते हुए बरामदेमें टहलने लगे। शरीरकी शिरा-शिरासे गूंज उठा....युद्ध....युद्ध....युद्ध। मांस-पेशियां कस-मसा उठीं। रक्त-ग्रंथियोंमें एक खिचाव-सा हो रहा है। हृदयकी घुंडी तन रही है, मानों टूट जायेगी।....ओह, वर्षोंके प्रमाद और मोहसे विजड़ित और विषाक्त हो गया है यह रक्त। इसे टूटना ही चाहिये, इसे बहना ही चाहिये....

युद्धका प्रयोजन, उसका पक्ष, उसकी नैतिकता यह सब पवनंजयके लिये गौण है। प्रधान है युद्ध—युद्ध जो जीवनके संसरणकी मांग बनकर प्राणके द्वारपर टकरा रहा है।....नहीं, इस संप्रवाहका अवरोध जीवनकी अवमानना है, वह पाप है, वह पराभव है। इससे बचकर भागा नहीं जा सकता, इससे मुंह नहीं मोड़ा जा सकता। प्रगतिके शूल-पथपर वक्षका रक्त टपकाना होगा, उसीसे अभिसिंचितकर उसे पुष्पित करना होगा....

....हां, उसने दिग्विजयी भ्रमण किया है। समस्त जंबु-द्वीपकी पृथ्वी उसने लांघी है। गंगा और सिंधुके प्रवाहोंपर उसने उन्मुक्त संतरण किया है। लवणोदधिके प्रचंड मगर-मच्छोंको वश करते हुए उसकी उत्ताल तरंगोंपर उसने आरोहण किया है। सूर्य-द्वीपमें कौस्तुभ पर्वतकी चूड़ापर खड़े होकर उसने वलयाकार जंबु-वृक्षोंकी श्रेणियोंसे मंडित जंबुद्वीपको प्रणाम किया है!

पर मनकी विकलता बढ़ती ही गई है, वह और भी सघन और तीव्रतर होती गई है। मानों मिट जानेकी एक अनिवार और दुर्दाम लालसा प्राणोंको अहर्निश बींध रही है। कौस्तुभ पर्वतके शिखरपर जब वह खड़ा था, तो एक बारगी ही उसके जीमें आया कि एक छलांग भरकर वह कूद पड़े और लवणोदधिकी उन फेनोच्छ्वसित, भुजंगाकार लहरोंका आलिंगन कर ले!....उद्भ्रांत, दिङ्मूढ़-सा वह शून्यमें हाथ पसारकर जड़ हो रहा। नहीं, उसे चाहिये प्रति-रोध, संघर्ष, विरोध....। पर्वत, नदी, समुद्र, पृथ्वी और यह महाशून्य, कोई भी तो वह प्रतिरोध नहीं दे सका, जिससे टकराकर, संघर्षित होकर, हृदयकी यह दुर्दम्य पीड़ा शांत हो लेती। प्रगतिका मार्ग संघर्षमें होकर है, विरोधमें होकर है। अवरोधसे टकराकर ही प्रक्रियाकी वह चिनगारी, मर्मकी इस चिर पीड़ामेंसे फूट निकलेगी।....इस अंध पीड़ाको निर्गति देनी होगी; उसीमें छिपा है विकासका रहस्य।....उसे चाहिये आज कुछ ठोस, मांसल, जीवित प्रतिरोध-विरोध, जहां वह अपने इस उद्वेगको मुक्ति देकर, प्रगतिका उल्लास बनायेगा।

....और यह युद्ध संमुख है....। आज आया है वह भैरव निमंत्रण....हां-हां, पाशवका भैरव निमंत्रण। उसीको कुचलकर मानवत्व स्थापित और सिद्ध हो सकेगा।....युद्ध....हिंसा.... रक्तपात, निष्काम और निर्मम रक्तपात....केवल नग्न शक्तियोंका लोह-घर्षण?....माना कि अहिंसा है, पर क्या वह फूलोंका पथ

है ? मौतके मुंहमें, दुर्दांत हिंसाकी डाढ़में, असि-धाराके पानीपर उस अहिंसाको सिद्ध होना पड़ेगा। शस्त्रोंकी धारोंको कुंठितकर अहिंसाको अपनी अमोघताका परिचय देना होगा, अपनी सूक्ष्म आत्म-वेधकताको प्रमाणित करना होगा।....तब शस्त्रकी सीमा जान लेना जरूरी है। प्राण ले सकने और दे सकनेकी अपनी सामर्थ्यका स्वामी हमें पहले हो जाना है। तब हमें जीवनके मूल्यकी ठीक-ठीक प्रतीति हो सकेगी, और तभी हम उसके चरम-रक्षक भी हो सकेंगे। तब होगी अहिंसाकी प्रतिष्ठा, और तब शस्त्रोंके फल हमारी देहमेंसे पानीकी तरह लहराकर, कतराकर निकल जायेंगे!

....कर्म-चक्रको तोड़नेके पहले वाह्य शक्तियोंके विरोधी दुश्चक्रोंको तोड़ना होगा। क्षत्रियकी बाहु बहुत दिनोंसे अकर्मण्य पड़ी है, अब और भूलुंठित वह नहीं पड़ी रहेगी। हथेलियोंसे भुजाएं ठपकारकर कुमारने फड़कन अनुभव करनी चाही, पर पाया कि शून्य हैं; स्वाभाविक प्रस्फूर्तिकी कंपन और फड़कन वहां नहीं है। एक आत्म-नाशका हिल्लोल है, जो मथ रहा है—कुछ टूटना चाहता है, नष्ट होना चाहता है।....उन्नत वक्षपर योद्धाका हाथ गया; हृदयमें दीप्त, ज्वलंत उल्लास नहीं है। है एक हूल, एक पके हुए फोड़ेकी पीड़ा। एक आसुरी उत्साह से, उद्वेगसे, कुमार भर आये....ओह, दुःसह है यह, जाना ही होगा....

"कौन है....?"

पुकारा कुमारने। द्वारोंसे दो-चार प्रतिहारियां आकर नत हो गई।

'तुरंग वैजयंतको युद्ध-सज्जासे सजाकर तुरंत प्रस्तुत करो!"

आज्ञा पाकर प्रतिहारियां दौड़ गई। आयुध-शालामें जाकर योद्धाने कवच और शस्त्रोंसे अपना सिंगार किया!

और संध्याकी मंद पड़ती धूपमें दूरपर दीखा—वैजयंत तुरंगपर शस्त्र-सज्जित कुमार उड़े जा रहे थे। पिंगल-कोमल किरणोंसे शिरस्त्राणके हीरोंमें स्फुलिंग उठ रहे थे।

दिनभरसे महाराज अपने मंत्रियोंके साथ मंत्रणा-गृहमें बंद थे। युद्ध-संचालनपर गंभीर और अति गुप्त परामर्श चल रहा था। पवनंजय घोड़ेसे उतरकर ज्योंही द्वारकी ओर बढ़े, सेवक राजाज्ञाकी बाधा उनके संमुख न रख सके। द्वार खुल गये।

अगले ही क्षण कुमार महाराजके संमुख थे। देखकर राजा और मंत्रीगण आश्चर्यसे स्तब्ध, मुग्ध और निर्वाक् हो रहे। एक पैर सिंहासनकी सीढ़ीपर रखकर पवनंजयने पिताके चरणोंमें अभिवादन किया, फिर कर-बद्ध आवेदन किया—

"आज्ञा दीजिये देव, रणांगणमें जानेको सेवामें उपस्थित हूं। पवनंजय इस युद्धमें सैन्यका संचालन करेगा। अपने पुत्रके भुजबलका निरादर न हो देव, उसके पुरुषार्थकी लोकमें अवमानना न हो, यह ध्यान रहे। उसे अवसर दीजिये कि वह अपनेको आपका कुलावतंस सिद्ध कर सके, अपने क्षात्र-तेजपर वह समस्त जंबुद्वीपके नरेंद्र-मंडलका शौर्य परख सके! मेरे होते और आप रणांगणमें जायें? वीरत्वके भालपर कालिख लग जायगी। वंशका गौरव भू-लुंठित हो जायगा। आज्ञा दीजिये देव, इसमें दुविधा नहीं होगी...."

"साधु, साधु, साधु!" कहकर वृद्ध मंत्रियोंने गंभीर सिर हिला दिये। भीतर-भीतर गूंज उठा—'देव पवनंजयका बचन टलता नहीं है।' महाराजकी आंखोंमें हर्षके आंसू छलक आये। स्नेहके अनुरोधमें, रुँधे कंठकी अस्फुटित वाणी रुक न सकी—

"तुम्हारा अभी कुमार-काल है बेटा—और फिर तुम...."

बीच ही में पवनंजय बोल उठे—

"यह दुलारका क्षण नहीं है, देव, क्षत्रियके संमुख कठोर कर्तव्य-विचार है, और सब अप्रस्तुत है। आशीर्वाद दीजिये कि पवनंजयका शस्त्र अमोघ हो; वह अजेय हो मौतके संमुख भी....!"

और फिर झुककर पवनंजयने पिताके पाद-स्पर्श किये। पुत्रके

सिरपर हाथ रखकर सुखसे विह्वल पिता केवल इतना ही कह सके—

"समूचे विश्वकी जय-लक्ष्मीका वरण करो, बेटा !"

और बूढ़ी आंखोंके पानीमें अनुमति साकार हो गई ।

[१६]

वसंत ऋतुकी चांदनी रात खिल उठी है । अभी-अभी चांद तमालकी वनालीपरसे उग आया है । पूर्णिमाका पूर्ण चंद्र नहीं है, होगा शायद सप्तमीका खंडित और बंकिम चंद्र !

धूप-गंधसे भरे अपने कक्षमें, इष्ट-देवके संमुख जब अंजना प्रार्थनासे उठी, तो झरोखे की जालीसे वह चांद उसे अचानक दीखा । नीचे था तमालोंका गंभीर तमसा-वन । अंजना को लगा कि कौन गर्वीली, बंकिम चितवन अंतरमें बिजली-सी कौंध गई ....!

वह उठी और बाहर छतपर आ गई....। रात्रिके प्राण सुखसे ऊर्मिल हैं । रजनीगंधा, माधवी और मौलश्रीके कुंजोंसे फैलती सौरभमें जन्मांतरकी वार्ता उच्छ्‌वसित हो रही है ।—नारिकेल-वनके अंतरालोंमें पुंडरीक सरोवरकी लहरें वैसी ही लीला और लास्यमें लोल और चंचल हैं । दुरंत हैं वे—जल-कन्यायें । ऐसी कितनी ही वसंत, शरद, और वर्षाकी रात्रियां उनमें होकर निकल गई हैं, पर वे लहरें तो हैं वैसी ही चिर कुमारिकाएँ ! कौन छीन सका है उनका वह बालापन ?

अंजनाका मन, जो स्मृतियोंकी एक घनीभूत ऊष्मासे घिरकर आहत हो रहा था, अप्रतिहत भावसे उठकर चला गया उन वयहीन जल-कन्याओंके देशमें ।....नहीं, वह भवकी विगत मोह-रात्रिमें नहीं भटकेगी—नहीं ढोयेगी वह स्मृतियोंका बोझा । वह नहीं होगी अतीतसे

अभिभूत और आवृत । अमलिन, शुभ्र--वह तो वैसी ही रहेगी अबंध और अनावरण, अपने ही आत्म-रमणमें लीलामयी-लास्यमयी ।

कि एकाएक दृष्टि फिर चांद की ओर खिंच गई। कि उसी चितवनके मानने, उसी भंगिमाके गौरवने अंतरको बींध दिया । सौरभकी एक अंतहीन श्वास प्राणमेंसे सर-सराती हुई चली गई . . . .।

. . . .ओह, बाईस वर्ष बीत गये, तुमने सोये या जागते किसी आधी-रातमें भी द्वार नहीं खटखटाया । कभी खटका सुनकर मनकी हठको न टाल सकी हूं तो आतुर पैरोंसे आकर द्वार खोला है और पाया है कि बाहर हवायें खिल-खिला रही हैं और झाड़ हँसी कर रहे हैं । पर आज कौन हो तुम, जो इस एकांत साम्राज्यके द्वारकी अर्गलासे मन-माना खिलवाड़ कर रहे हो ? पर सम्राज्ञी स्वयं तुम्हारे इस ऐश्वर्य-साम्राज्यसे निर्वासित हो गई है । वह चली गई है परे, बहुत दूर, क्योंकि तुम्हारी इस महिमा और प्रतापको झेलनेके लिये वह बहुत क्षुद्र थी--बहुत असमर्थ । इसीसे उसे चले जाना पड़ा--अब क्यों उसका पीछा कर रहे हो ?

चारों ओर प्रसरे चांदनी-स्नात उद्यानमें अंजनाकी दृष्टि दौड़ गई । वन-घटाओं और कुंजोंका पुंजीभूत अंधकार चांदनीके उजालेमें अनेक रहस्योंकी अलकें खोल रहा था । पेड़ों तले बिछे छाया-चांदनीके रहस्य-लोकमें प्रतीक्षाकी एक कातर, व्यग्र दृष्टि भटक रही है। कोई आया चाहता है. . . .आनेवाला है. . . .! तभी कोई छायाकृति जाती हुई दीख पड़ती--केलिगृहके झरोखों और द्वारोंमें होकर, क्रीड़ा-पर्वतके गुल्मोंमें होकर, कृत्रिम सरोवरोंके कमल-वनोंमें होकर वह चला ही जा रहा है । श्वेत है उसका घोड़ा; भयानक वेगसे वह दौड़ता हुआ झलक पड़ता है । निर्मम पीठ किये, अचल है उसपर योद्धा ! पर उसका शिर-स्त्राण निश्चिह्न है. . . .?

एक गहरी चितासे अंजना व्याकुल हो उठी । . . . .नहीं पकड़

पा रही है वह उसे।....विजयार्धके कंगूरोंपर झपट रहा है वह श्वेत अश्वारोही....। पर उसका शिरस्त्राण क्यों नहीं सूर्य-सा प्रभामय और दीप्त है?....अंजनाने अनजाने ही दोनों हाथोंसे हृदयको दाब लिया....ओह, क्यों नहीं चल रहा है उसका वश, कि इसे तोड़कर एक चिंतामणि उस शिरस्त्राणमें टांक दे....!

और जाने कब अंजना भीतर आकर अपने तल्पपर लेट गई थी। तल्पकी पाषाणी शीतलतासे वह अपने दुखते हुए वक्षको दबाये ही जा रही है। मानों इसकी सारी स्वाभाविक शीतलता और कठोरताको या तो वह अपनेमें आत्मसात् कर लेगी, या आप उस पाषाणमें पर्यवसित हो जायगी!

"रूप....? कोई सांगोपांग स्वरूप तुम्हारा नहीं देखा है, न जानती ही हूं। पर देखी है तुम्हारी अजेय और उन्मुक्त गतिमयता, मानसरोवरकी उन विरुद्धगामिनी लहरोंपर! लौटकर जिसने नहीं देखा, वह पुरुषार्थ! उस सतत प्रवहमानको पाकर ही मुकर गई हूं रूपको—कि उस सौंदर्य और तेजको कालके हाथों क्षत होते नहीं देखूंगी! आज भी देख रही हूं कि तुम गतिमय हो।....आ नहीं रहे हो, तुम तो चले ही जा रहे हो। बाईस वर्षतक तुम्हारी उपेक्षाकी पीठको सहन किया है, सो इसीके बलपर। अनेक नव-नवीन मनमाने रूपों और भंगिमाओंमें तुम्हें अपने अंतरमें देखा है, पर वह एक और स्थिर कोई विशिष्ट रूप तुम्हारा नहीं जानती हूं।....आज मन नहीं मान रहा है।....एक बार तुम्हारी गतिकी बाधा बनकर, तुम्हारे अश्वकी चापको इस वक्षपर झेलना चाहती हूं—और जब अटक जाओगे, तभी उझककर एक बार वह रूप देख लूंगी....! फिर उसकी मिथ्या बाधा मेरे साथ छल नहीं खेल सकेगी।....और टांक दूंगी तुम्हारे शिरस्त्राणमें यह चिंतामणि....

दिनभर युद्धके वाद्योंके घोष गूंजते रहे हैं।....युद्ध-वार्ता जानी और सांझको सुना कि तुम जा रहे हो सेनानी बनकर....? पर इस

युद्धके प्रयोजनमें क्या तुम औचित्य देख रहे हो मेरे वीर ? निर्विवेक युद्ध क्षत्रियका कर्तव्य नहीं, वह उसकी लज्जा है; बर्बरता है। तुम असद्के पक्षमें, मदके पक्षमें लड़ने चढ़ोगे ? . . . . ओह, केवल युद्धके लिये युद्ध ? . . . . मानों कुछ काम नहीं है तो जीवित मनुष्योंके मुंडोंसे ही क्षत्रियका प्रमत्त शस्त्र खिलवाड़ करेगा ! . . . . तो पहले इस वक्षको भी रौंदते जाओ, एक प्रहार इसे भी देते जाओ, यदि तुम्हारा प्यासा वीरत्व, अणुमात्र भी तृप्ति पा सके. . . . !

. . . . ओ मेरे गतिमान, गतिका अभिमान भी बंधन ही है—वह मुक्ति नहीं है; वह पीछे किसी अतीतकी ध्रुव-मरीचिकासे हमें बांधे हुए है. . . . ।

और अंतरतममें कसक उठा—'तुम्हें रोकनेवाली मैं कौन होती हूं ? कितनी ही बार तुम्हारी दुर्गम और विकट यात्राओंके वृत्त सुने, और सुनकर चुप हो गई। कौतुक सूझा और हँसी भी आई है, पर प्रश्न नहीं किया ! पर आज तुम युद्धमें जा रहे हो और तुम्हारी गतिकी यह वक्रता—यह दुर्दामता मनमें भय और संदेह जगा रही है। भयानक और प्रचंड हो तुम ! तुम्हें एक बार पहचान लेना चाहती हूं—ओ स्वरूपमय—कि जाने कितने जन्मोंका यह बिछोह है, और कहीं तुम्हें भूल न जाऊं. . . . सिर्फ़ एक बार, एक झलक . . . .

× × ×

फूटती हुई ऊषाके पाद-प्रांतमें दुंदुभियोंके घोष और भी प्रमत्त हो उठे हैं। मानों प्रलयकालकी बहिया किसी पर्वतमें धँसनेके लिये पछाड़े खा रही है। दूर-दूर चले जाते प्रस्थानके वाद्योंमें दुर्निवार है गतिका आवाहन। शंख-नादोंमें चंडीकी रुद्र हुंकृति, त्रिशूल-सी उठ-उठकर हृदयको हूल रही है।

और उदय होते हुए सूर्य के संमुख स्वर्ण-रत्नोंसे अलंकृत धवल

वैजयंत तुरंगपर चले आ रहे हैं, कुमार पवनंजय। मांने अभी-अभी तिलककर उनकी कटिपर कृपाण बांधी है, तथा श्रीफल और आशीर्वाद देकर उन्हें युद्धके लिये बिदा किया है। वीर-सज्जामें कसे हुए योद्धाके अंग जहांसे ज़रा भी खुले हैं, वहांसे रक्ताभा फूट रही है। कवचपर वे केशरिया उत्तरीय धारण किये हैं; रत्न-हारोंकी कांतिको ढाँकती हुई शुभ्र फूलोंकी अनेक पुष्ट मालाएँ देहपर झूल रही हैं। कलशाकार शिरस्त्राण और मकराकृति कुंडलोंके हीरोंमें प्रभाकी एक मरीचिका खेल रही है।

युद्धारूढ़ कुमार अंतःपुरका प्रासाद-प्रांगण पार कर रहे हैं। झरोखोंसे फूलोंकी राशियां बरस रही हैं। प्रांगणमें दोनों ओर क़तार बांधे हुए प्रतिहारियां चंवर ढोल रही हैं। सौ-सौ स्वर्ण-कलश और आरतियां लेकर कुल-कन्यायें कुमारके वारने (बलैयां) ले रही हैं। गमनकी दिशामें एक श्रेणिमें उद्‌ग्रीव होकर कुमारिकाएँ मंगलके शंख बजा रही हैं। चारों ओर रमणी-कंठोंसे उठते हुए जय-गीतोंकी सुरावलियोंसे वातावरण आकुल-चंचल है।

रत्नकूट-प्रासादके सामनेसे निकलते हुए कुमारके भ्रू-भंग अनजाने ही धनुषकी तरह तन आये। जितना ही पीछे खिंच सके, खिंचकर तीरने अपना आख़िरी बल साधना चाहा। वह गर्व अपने तनावमें पूर्ण वृत्ताकार होता हुआ, आखिर अपने ध्रुवपर अवश जा ठहरा!

देखा पवनंजयने, प्रासादके द्वारपक्षमें एक खंबेके सहारे टिकी अंजना खड़ी है! दोनों हाथोंमें थमा है मंगलका पूर्ण कलश, जिसके मुखपर अशोकके अरुण पल्लव बंधे हैं। सुहागिनीकी शृंगार-सज्जा उस दूजकी विधु-लेखा-सी तरल-तनु देहमें लीन हो रही है। अकलंक गल रही हिमकी उस शुभ्र सजलतामें विषादकी एक गहरी रेखा बह रही है, घुल रही है और फिर ऊपर आ जाती है। अंजनाकी उस स्थिर सजल दृष्टिमें कुमारने निमिष भर झांका.... विश्वकी अथाह करुणाका

तल उन आंखोंमें झलक गया....! पर ओठोंपर है वही आनंदकी, मंगलकी अमंद मुस्कराहट !

....नहीं, वह नहीं रुकेगा....वह नहीं देखेगा....ओह, अशुभ-मुखी !....कुमारने झटकेके साथ कुहनी पीछे खींचकर वल्गा खींची; घोड़ेको एक सवेग ठोकरसे एड़ दी। हाथका श्रीफल झुंझलाहटमें हाथसे गिरते-गिरते बचा।....खड्ग-यष्टिमेंसे खिंचकर तलवार उनके हाथोंमें लप-लपा उठी। एक दीर्घ सिसकीके साथ आये हुए उच्छ्वासमें तीव्र किंतु स्फुट स्वर निकला--

"दुरीक्षणे....छि: !"

शब्दकी अनुध्वनि अपने लक्ष्यपर जा बिखरी। अंजनाकी मुस्कराहट और भी दीप्त होकर फैल गई। उसके अंतरमें अनायास स्वरित हो उठा--

"आह, आज आया है प्रथम बार वह क्षण, जब तुमने मेरी ओर देखा ....तुम मुझसे बोल गये !....हतभागिनी कृतार्थ हो गई, जाओ अब चिंता नहीं है।....अमरत्वका लाभ करो !....देश और कालकी सीमाओंपर हो तुम्हारी विजय ! पर मेरे वीर, क्षत्रियका व्रत है त्राण, उसे न भूल जाना। तुम हो रक्षक, अनाथके नाथ !.... जाओ, शत्रुहीना पृथ्वी तुम्हारा वरण करे....!"

और अगले ही क्षण वह मूर्छित होकर गिर पड़ी। कि नहीं रहेगी, वह शेष ! और आंसू अविराम और नीरव, उन बंद नेत्र-पक्ष्मोंमेंसे झर रहे थे।

रास्तेमें पवनंजयके हृदयकी घृणा तीव्रतम होकर मानो रुद्ध हो गई और देखते-देखते वह छिन्न-विच्छिन्न हो गई। युद्ध-सज्जाकी सारी कसावटोंके बावजूद स्नायु-बंध ढीले पड़ गये। अनायास एक असह्य, निगूढ़, अननुभूत, अतल वेदना देहके रोयें-रोयेंमें बज उठी। आस-पाससे उठ रही मंगल-ध्वनियां, सैन्य-प्रवाहकी जय-जय-कारें, वाद्योंके तुमुल घोष,

सभी मानों दूरसे आते हुए एक अरण्य-रोदनसे गूंजकर व्यर्थ हो रहे थे। और उस सबके बीच अकेले कुमार, अपने ही आपसे पराजित, भयभीत, हृतबुद्ध, कातर, वितृष्ण चले जा रहे थे।....

[२०]

योगायोग : सैन्यने मानसरोवरके तटपर जाकर ही पहला विश्राम किया। कटकके कोलाहलसे तटकी निर्जनता मुखरित हो गई। दूर-दूर तक सैन्यका शिविर फैल गया। —भोजन-पानसे निवृत्त होकर श्रांत और क्लांत सैनिक-जन अपने-अपने डेरोंमें विश्राम लेने लगे। हाथी, घोड़े और बैल बंधनोंसे छूटकर, तलहटीकी हरियाली घासमें चरनेको मुक्त हो गये।

पवनंजय अपने डेरेमें विश्राम नहीं पा सके। मार्गका श्रमक्लेश मानो उन्हें छू भी नहीं सका है। करवट बदल-बदलकर उन्होंने निद्रस्थ हो जाना चाहा है, कि मन और शरीर शांत और स्वस्थ हो लें। यह निरर्थक उलझनोंकी उधेड़-बुन मिट जाय, और सबेरे युद्ध ही हो उनका एक मात्र काम्य और उद्दिष्ट। पर अंग अनायास संचालित हैं— सिमट-सिकुड़कर अपने भीतर ही मानो लुप्त हो रहना चाहते हैं। लेकिन इस भीति और त्राससे जैसे रक्षा भीतर नहीं है। एक अवचेतन हिल्लोल-के वेगसे पैर चालित और चंचल हैं।

अकेले ही वे घूमने निकल पड़े, निष्प्रयोजन और निर्लक्ष्य। वे कितनी दूर और कहां निकल आये हैं, इसका उन्हें भान नहीं है।

वसंतके कोमल आतपमें पर्वतोंकी हिमानी सजल हो उठी है; स्फटिक और नीलम मानों पिघलकर बह रहे हैं। उपत्यकाओं और घाटियोंमें वन्य-सरिताएं और सरसियां प्रसन्न और स्वच्छ हैं। किनारे उनके मोतिया, कासनी, गुलाबी, आसमानी आदि हल्के रंगोंके कुसुम-वन सजल आभामें

चित्रित हैं। स्निग्ध किशलयों और पल्लवोंसे अंकुरित पार्वत्य पृथ्वी किशोरी-सी नवीन और मुग्धा लग रही है; मानो आमंत्रणसे भरी है। पर्वत-ढालोंपर सरल, साल और सल्लकीके छत्र-मंडलसे तनोंवाले उत्तुंग वृक्षोंकी मालाएं फैली हैं। बीच-बीचमें पग-डंडियां जंगली हाथियोंके दांतोंसे टूटी हुई मैनसिलकी धूलसे धूसर हैं। पाषाण-भेद वृक्षोंकी मंजरियोंसे शिलातल आच्छादित हैं। पर्वतके पाषाण-स्तरोंमें अनेक प्रकारके मद, रस और धातु-राग पिघल-पिघलकर दिन-रात बह रहे हैं....

....पवनंजयने अनुभव किया कि जैसे उनके भीतरकी कठिन ग्रंथियोंकी घुंडियां अनायास खुल पड़ी हैं। अरे यहां तो सभी कुछ द्रवीभूत है, नम्र है, परस्पर समर्पित है; सभी कुछ सरल, सुषम और प्रसन्न है!

अकुंठित औत्सुक्य और जिज्ञासासे वे आगे बढ़ते ही गये। पर्वतके अंतःप्रदेशोंमें जहांतक मार्ग जाता है, वे चले जाते हैं; और छोरपर जाकर किसी निभृत एकांतमें वे पाते हैं—सुरपुन्नागके अंधियारे वनतलमें झरी हुई पराग बिछी है, स्वर्णकी रज-सी दीप्त। .किस विजनवलीने, किस अनागत प्रवासीके लिये यह परागकी सौरभ-शय्या जाने कबसे बिछा रखी है? क्या वह प्रवासी कभी न आया और कभी न आयेगा? और क्या यह अभिसार अनंत कालतक यों ही निरर्थक चलता रहेगा? वनके अंधियारे विवरोंमें कुमार धँसते ही चले जा रहे हैं, मानो द्वारके बाद द्वार पार कर रहे हैं। ऐसे अनेक नैसर्गिक पुष्प-कुंजोंके तले पराग और कुसुमोंकी ऊष्म और शीतल शय्याएँ बिछी हैं। इस निभृतकी वह चिर प्रतीक्षमाणा बाला किस निगूढ़ पर्वत-गुफामें एकांत-वास कर रही है? अनेक वसंत-रात्रियोंके सुरभित उच्छ्वास यहां शून्य और विफल हो गये हैं। कहां छिपा है इस चिर दिनकी विच्छेद-कथाका रहस्य?

उपत्यकाके दोनों ओर आकाश-भेदी पर्वत-प्राचीरें खड़ी हैं। बीचके संकीर्ण पथमेंसे पवनंजय चले जा रहे हैं, कि अचानक ऊपरके खुले आकाशको देखनेके लिए उन्होंने गर्दन उठाई। उन्होंने देखा--एक ओरके पर्वत-शृंगकी एक चट्टान ज़रा आगेको झुक आई है--और उसपर खड़ा है एक श्वेत प्रस्तरका छोटा-सा मंदिर। आस-पास उसके घास और संकुल झाड़ियां उगी हैं। द्वार उसका रुद्ध है, और वहांतक जानेके लिये राह कहीं नहीं है। मंदिरके श्वेत गुंबद्पर सांध्य सूर्यकी एक रक्तिम किरण ठहरी है।..अरे, कौन है वह अभागा देवता, जो इस अरण्यकी सुन-सान और भयानक गुंजानतामें कपाट रुद्धकर समाधिस्थ हो गया है? क्यों उस उत्कट ऊंचाईपर जाकर वह अपने ही आत्म-संक्लेशमें बंदी हो गया है? उस अज्ञात देवताकी विषम पीड़ा, पवनंजयके वक्षमें जैसे कसमसा उठी।.और उसे लगा कि ये दोनों ओरकी पर्वत-प्राचीरें अभी-अभी मिल जायेंगी, और वह अभी एक अतलांत अंधकारकी तहमें सदाके लिये विसर्जित हो जायगा।

पवनंजय द्रुतगतिसे झपटते हुए बढ़ चले। जल-तरंगोंसे आर्द्र पवनका स्पर्श पाकर वे आश्वस्त हो गये। थोड़ी ही देरमें वे मान-सरोवरके एक विजन तटपर आ निकले। उन्हें लगा कि एक पूरी परिक्रमा ही कर आये हैं। झीलके सुदूर पूर्व तटपर दीख रहा है वह सैन्यका शिविर। यह तट सर्वथा अपरिचित और एकांत है। सामने झीलके पश्चिमी किनारेपर जो गुफ़ाओंकी श्रेणी है, उनमेंसे विपुल अंधकार झांक रहा है। उनके शीर्षपरकी झाड़ियोंमें अस्तगामी सूर्यकी लाल किरणें झर रही हैं। जल-तरंगोंके नीलमी कुहासेमें दीख रहा है वह गुफ़ाओंका राशि-राशि अंधकार। और उसके संमुख फैली है यह जल-विस्तारकी प्रशांत विजनता।.कौन योगी मौन और आत्म-विस्मृत होकर सहस्रावधि वर्षोंसे इस अंधकारकी शृंखलाओंमें बँधा, इन गुफ़ाओंके पाषाणोंमें जड़ीभूत हो गया है? किस जन्म-जन्मके दुरभिशापसे वह शापित है? किस

अविजानित अंतरायसे वह बाधित है ? क्या है उसके तरुण मनकी चाह ? क्या है उसकी चिंता और उसका स्वप्न.? उस अंधेरेकी चिर उन्निद्र अचेतनतामेंसे एक गंभीर पीड़ाका वाष्प आकर मानो पवनके हृदयमें बिंधने लगा ।.वह मुक्त करेगा उस योगीको, तभी जा सकेगा ।.... वह पार करेगा झील और भेदेगा गुफ़ाओंकी उस तमसाको....!

तभी उसकी दृष्टि उन गुफ़ाओंसे परे, मानसरोवरके सुदूर पश्चिमी जल-क्षितिजपर गई । विरल देवदारु वृक्षोंके अंतरालमें सूर्यका किरण-शून्य चंपक बिंब डूब रहा है । कोई गहरी नीली लहरी उसपर उझककर ढुलक जाती है । उसपर होते हुए हंसों और सारसोंके युगल रह-रहकर आर-पार उड़ जाते हैं । कुमारको लगा कोई तरुण योगी जल-समाधि ले रहा है । समस्त तेज उसका पर्यवसित हो गया है, उन उझकती लहरोंमें; और उनके तरल शीतल आलिंगनमें हो गया है वह निरे शिशु-सा कोमल और निरीह....

....तभी एकाएक पैरोंके पास पवनंजयको किसी पक्षीका आर्त्त स्वर सुनाई पड़ा । ज्यों ही उनकी दृष्टि वहां पड़ी तो उन्होंने देखा कि तटके कमल-वनमें तरंग-सीकरोंसे आर्द्र एक कमल-पत्रपर एक अकेली चकवी छट-पटा रही है । इस जलमय पत्रकी मृदु शीतलता भी मानो उसे शूल हो गई है ! वह त्रस्त नयनोंसे डूबते हुए सूर्यकी ओर देखती है, और आकुल होकर, पंख फैलाकर लोटने लगती है । वह झुककर जलमें अपना प्रतिबिंब देखती है और उसे लगता है कि वही है.... वही है उसका प्रीतम चकवा, इस जलके तलमें । वह करुण स्वरमें उसे पुकारती है, पर वह प्रीतम नहीं सुनता है, नहीं आता है । वह उन लहरोंमें चोंच डुबो-डुबोकर उसे खींच लेना चाहती है, पर वह खो जाता है ! हारकर वह चकवी श्लथ पंखोंसे तटके वृक्षोंपर जा बैठती है । सूनी आंखोंको फाड़-फाड़कर वह दसों दिशाओंको ताकती है । दूर कटकसे आ रहे कोलाहलके विचित्र स्वर उसे भ्रमित कर देते

हैं। वह हारकर, झींककर, वियोगके आक्रंदनसे विह्वल हो भूमिपर आ गिरती है। पंख हिला-हिलाकर, कमलोंकी जो सुरभित-कोमल रज लग गई है, उसे वह दूर कर देना चाहती है। डूबते हुए सूरजकी कोरपर चकवीका प्राण अटका है।....कि लो वह सूरज डूब गया, और चकवा अब नहीं आयेगा! और विरहकी यह रात्रि संमुख है आसन्न? निष्प्राण होकर चकवी भूमिपर पड़ गई!

....और आत्माके अशेष अंतरालोंको चीरकर दूरसे आती हुई जैसे एक 'आह' कुमारको सुनाई पड़ी। मूक और निस्पंद पड़ी है यह चकवी, फिर किसकी है यह करुण पुकार?

....कालका अभेद्य अंतराल जैसे एकाएक विच्छिन्न हो गया। ....वर्षों पहलेकी एक संध्यामें, सरोवरके इसी प्रदेशमें, लहरोंकी गोदमें लीलाका वह मुक्त क्षण!....और वहां सामने बना था वह उजला महल।....दिगंतमें वह 'आह' गूंज उठी थी, और उसीकी उसे खोज थी।....पर हाय भूल गया था वह अभागा, उसी पुकारको, जिसे अनजानमें खोजते ही ये सारे वर्ष विफल हो गये हैं। उस दिन पुरुषार्थके अभिमानने उसे लौटकर नहीं देखने दिया था। पर आज....? आज वह खड़ा है इस शून्यमें आंखें पसारकर....बेबस? ....पर नहीं है वह महल....नहीं है वह अटा....नहीं हैं उस मृदु मुखकी केश लटें....नहीं है वह उड़ता हुआ नीलांबर! केवल एक पुकार दिगंतोंके अंतरालमें बिछुड़ती ही चली जा रही है....!

सामनेके उस तटमें बनी थी, लहरोंसे विचुंबित वह परिणयकी वेदी। जलकी नीलाभापर वे होमकी सुगंधित अग्नि-शिखायें। धुएंके नील आवरणमें उस प्रवाही लावण्यकी ऊर्मिल आभा झलक जाती।....पर मनकी उस क्षणकी वह प्रतारणा, वह आत्मद्रोह....! वह नहीं देख सका था उसे, वह नहीं सह सका था सौंदर्यकी वह दिव्य श्री। ओ अभागे, किस जन्मकी विषम और दीर्घ अंतराय लेकर जन्मे थे? कैसा दुर्धर्ष था

यह अभिशाप ? कितने वर्ष बीत गये हैं....गिनती नहीं है....शायद दस-बीस....बाईस वर्ष....मैंने मुड़कर नहीं देखा....

यह तिर्यक् चकवी एक रातके प्रियके विरहमें हतप्राणा हो गई है। पर उस मानवीने उस रत्नमहलकी वैभव-कारामें बाईस वर्ष बिता दिये..बाईस वर्ष ! कोई अभियोग नहीं, कोई अनुयोग नहीं, कोई उपालंभ नहीं ? एक व्याधकी तरह मानसरोवरकी उस हंसीको मैंने सोनेके पिंजड़ेमें ले जाकर बंद कर दिया और फिर लौटकर नहीं देखा कि वह जी रही है या मर गई है ! देखना दूर, उसकी बात सोचना भी मुझे पाप हो गया था।

अकस्मात् एक सघन विषादके आवरणको चीरती हुई दीखी वह पूर्ण मंगल-कलश लिये, महलके द्वार-पक्षमें खड़ी अंजना। एक अवश आक्रंदनसे पवनंजयका सारा मन-प्राण विह्वल हो उठा....!'.... अरे तुम्हीं हो....तुम ! विच्छेदकी सहस्रों रातोंमें वेदनाकी अखंड दीप-शिखा-सी तुम बलती रही हो ?....और उस दिन चुप-चाप मुस्कराकर, मुझ पापीका पथ उजाल रही थीं ! क्या था तुम्हारा ऐसा अक्षम्य अपराध, कि मैंने तुम्हारा मुंहतक नहीं देखा, और डंकेकी चोट तुम्हें त्याग दिया ? मैंने त्याग दिया था, क्योंकि मैं पुरुष था, पर तुम ? क्या तुम मुझे नहीं त्याग सकती थी ? तुम भी तो दीक्षा लेकर अपने आत्म-कल्याणके पथपर जा सकती थी ?....पर तुम न गईं !.... क्यों कि मेरे युद्ध-प्रस्थानकी बेलामें, वह मंगलका कलश जो तुम्हें सँजोना था....!

....एक और आत्म-मोहका आवरण मानो सामनेसे हट गया। उसे दीखी एक मुग्धा किशोरी ! उसकी वह समर्पणसे आनत भंगिमा, जो अपने प्रियकी स्तुति सुनकर सुखमें विभोर हो गई है। आंखें उसकी निगूढ़ लाजसे मुँद गई हैं। माथा झुका है, और ओठोंपर है एक सुधीर गोपन आनंदकी मुस्कराहट। एकरस और अजस्र है वह प्रवाह। स्पर्शन,

दर्शन, वचनका विकल्प वहां नहीं है । स्वीकारकी अपेक्षा नहीं है, कामना-की आतुरता और व्यग्रता भी नहीं है । केवल है अपना ही विवश और विस्मृत निवेदन । वचन वहां व्यर्थ है, फिर कौनसी तिरस्कार, निंदा या गर्हाकी वाणी है, जो आनंदकी उस मुस्कराहटको भंग कर सकती है ? और कौनसा अपराध है जो इस मुग्धाको आज उससे छीन सकेगा. . . . ?

तभी अचानक तंद्रा टूट गई । पवनंजयने पाया कि उस विजन तीरपर, वह स्वयं परित्यक्त और अकेला है; . . . . वह स्वयं मूर्तिमान, नग्न अपराधके प्रेत-सा खड़ा है । झीलपर झलमलाती इस चांदनीमें उसकी एक दीर्घ, दानवाकार छाया पड़ रही है । वह अपने आपसे ही भयभीत होकर कांप-कांप उठा । वह बिल-बिला आया और दोनों हाथोंसे मुंह ढांपकर धरतीपर बैठ गया । राह भूला हुआ कोई बालक, दिनभर भटकनेके बाद, रातमें राह असूझ हो जानेपर कहीं कटे पेड़-सा आ गिरा है ।

एक आर्त कराहके साथ चकवी फिर तड़प उठी । पवनंजयने चिहुक-कर देखा । वे व्यथासे व्याकुल हो आये । वे क्या कर सकते हैं उसके लिये ? क्या देकर उसे धीरज दे सकते हैं ? परितापसे उफनाता हुआ यह अपराधी हृदय ? ओह, वह उसमें झुलस जायगी । वह कमल-पत्रका गीला स्पर्श भी उसे असह्य हो गया था. . . . ! और उनकी आंखोंमें झिर-झिर-झिर आंसू बह आये——उत्तप्त——मानो पिघलता हुआ लोहा हो; पाषाणोंके प्रकृत काठिन्यको बींधकर जैसे निर्झरिणी फूट पड़ी हो ! . . . .

× × × ×

डेरेके एकांतमें प्रहस्त और पवनंजय आमने-सामने बैठे हैं । अभी-अभी कुमार मनका सारा रहस्य खोलकर चुप हो गये हैं । सुनकर प्रहस्त आश्चर्यसे दिग्मूढ़ हो गया——हाय-हाय री मानव मनकी दुर्बलता, मानव भाग्यकी पराजय ! अहंकी इस जरा-सी फांसमें इतना बड़ा अनर्थ घट

गया। गोपनके इस नगण्यसे लगनेवाले पापमें दुखकी एक सृष्टि ही बस गई; अनेकों जीवन निरर्थक हो गये । कितने न ऐसे रहस्य आत्माके अंतरालमें लेकर यह संसारी मानव जन्म-मरणके चक्रोंमें आदिकालसे भटक रहा है ? बोले प्रहस्त—

"...तुम उस मुग्धा बालाको न पहचान सके, पवन ? ऐसे घिरे थे आत्म-व्यामोहमें ! तुम तो देश-कालाबाधित सौंदर्यकी खोजमें गये थे न ?..पर, कब पुरुषने नारीके अंतरंगको पहचाना है ? कब उसकी आत्माके स्वातंत्र्यका उसने आदर किया है ? अपने स्वमानके मूल्यपर ही सदा बर्बर पुरुषने उसे परखा है। और एक दिन जब उसका वही मान घायल होता है, तब वही देती है अपने क्रोड़में उसे शरण ! उस प्रमत्ततामें पुरुष अपने परायेका विवेक भी खो देता है। हृदयके समस्त प्यारकी क़ीमतपर भी, तुम यह भेद मुझसे छुपाये रहे। तुमने मुझे भी त्याग दिया। प्यारका द्वार ही तुम्हारे लिये रुद्ध हो गया। अपने ही हाथों अपने हृदयके टुकड़ेकर, अपने पैरोंके नीचे तुमने उसे कुचल डालना चाहा—उसे मिटा देना चाहा, पर क्या वह मिट सका..?"

अनुतापसे विगलित स्वरमें पवनंजय बोले—

"नहीं मिटा सका प्रहस्त, स्वयं मौतके हाथों अपनेको सौंपकर भी नहीं मिटा सका। अपने उसी अज्ञानका दंड पानेके लिये मरकर भी मैं प्रेतकी तरह जीवित रहा।..पर प्रहस्त, अब प्राण मुक्तिके लिए छटपटा रहे हैं ! साफ़ देख रहा हूं भैय्या, रक्षा और कहीं नहीं है। उसी आंचलके तले नव जन्म पा सकूंगा। यह घड़ी अनिवार्य है; मेरे जन्म और मरणका निर्णायक है यह क्षण, प्रहस्त ! मुझे मृत्युसे जीवनके लोकमें ले चलो। जल्दी करो प्रहस्त, नहीं तो देर हो जायेगी।....युद्ध मुझे नहीं चाहिये प्रहस्त, वह धोखा है, वह आत्म-छलना है। मैं अपने ही आपसे आंख-मिचौनी खेल रहा था। युद्ध मुझसे न लड़ा जायगा।

देखो न प्रहस्त, मेरी भुजाएँ कांप रही हैं, पैर लड़-खड़ा रहे हैं, छाती उफना रही है—जीवन चाहिए प्रहस्त, मुझे जिलाओ। पापकी ये ज्वालाएँ मुझे भस्म किये दे रही है, मुझे ले चलो उस जल-धाराके नीचे, उस अमृतके लोकमें . ."

"पर पवन, युद्धको पीठ देकर क्षत्रियको लौटना नहीं है। कर्तव्यसे पराङ्मुख होकर उसे जीवनकी गोदमें भी त्राण नहीं मिलेगा। कर्तव्य यदि अकर्तव्य भी है तो उसे सुलटना होगा, पर लौटना संभव नहीं है—!"

"पर इस क्षण ये प्राण मेरे हाथमें नहीं हैं, प्रहस्त! तुमसे जीवन-दान मांग रहा हूं, ओरे मेरे चिर दिनके आत्मीय, जीवनकी मेरी अँधेरी रातोंके निस्पृह दीपस्तंभ! तुम भी, युगोंके बाद, बिछुड़कर आज मिले हो। पर अपराधकी यह ज्वाला लेकर गति कहां है. . .?"

"तो एक ही रास्ता है, पवन, अभी-अभी आकाश-मार्गसे चलकर चुपचाप रत्नकूट प्रासादकी छतपर जा उतरना होगा। गुप्त रूपसे वहां रात बिताकर दिन उगनेके पहले ही यहां लौट आना है। और फिर सवेरे ही सैन्यके साथ युद्धपर चल देना होगा।"

पवनंजयने कुछ भी उत्तर नहीं दिया × × ×

थोड़ी ही देरमें, दोनों मित्र विमानपर चढ़े, चांदनीसे फेनाविल दिशाओंके आंचलमें खोये जा रहे थे।

[२१]

तारोंकी अनंत आंखें खोलकर आकाश टक-टकी लगाये है। ग्रह-नक्षत्रोंकी गतियां, इस क्षणकी धुरीपर अटक गई हैं. . . .

रत्नकूट प्रासादकी चांदनी-धौत छतपर यान उतरा। पवनंजय उतरकर कोनेके एक गवाक्षके रेलिंगपर जा खड़े हुए। दोनों हाथोंसे खंबे पकड़कर वे देखते रह गये . .। अपूर्व खिली है यह रात, सौरभ

और सुषमामें मूर्छित। कालका सहस्र-दल कमल विगत, आगत और अनागतके सारे सौंदर्य-दलोंको खोलकर मानो एक साथ खिल आया है। नया ही है यह देश! अपनी महायात्रामें अद्भुत और अगम्य प्रदेशोंमें वह गया है। सौंदर्यका विराटतम रूप उसने देखा है। अभेद्य रहस्योंको उसने भेदा है। पर अलौकिक है यह लोक! आस-पास सब कुछ तरल है और तैर रहा है। आलोककी बांहोंमें अंधकार और अंधकारके हृदयमें आलोक। सब कुछ एक दिव्य नवीनतामें नहाकर अमर हो उठा है। क्या वह सपना देख रहा है?

प्रहस्त अपने कर्तव्यमें संलग्न थे। उन्होंने कक्षके द्वारपर खड़े रहकर स्थितिका अध्ययन किया। देखा, सब शांत है; निद्राके श्वासका ही धीमा रव है। द्वारके पास ही, उन्होंने पहचाना कि, वसंतमाला सोई है। धीमे परंतु निश्चित आवाजमें पुकारा—

"देवी—देवी वसंतमाला!"

नींद अभी लगी ही थी। चौंककर वसंत उठी। द्वारमें देखा, कुछ दूरपर चांदनीके उजालेमें कोई खड़ा है। उसने प्रहस्तको पहचाना! वह सहमकर खड़ी हो गई। विस्मित पर आश्वस्त वह बाहर चली आई। पास आकर बहुत धीमे कण्ठसे पूछा—

"आप?....इस समय यहां कैसे?"

"देव पवनंजय आये हैं! इसी क्षण देवीसे मिला चाहते हैं। उस ओरके कोण-वातायनपर प्रतीक्षामें खड़े हैं.."

"देव पवनंजय..? क्या कहते हैं आप?..वे......यहां ....इस समय कैसे..?"

वसंतके विस्मयका पार न था। मति मूढ़ हो गई और प्रश्न बौखला गया।

"हां, देव पवनंजय! कटकको राहमें छोड़ गुप्त यानसे आये हैं। अभी-अभी युवराज्ञीसे मिला चाहते हैं। विलंब और प्रश्नका अवसर नहीं है।

देवीको जगाकर सूचित करो और तुरंत उनका आदेश मुझे आकर कहो !"

वसंतकी मति गुम थी। यंत्रवत् जाकर उसने अंजनाको जगाया।

"कौन, जीजी—क्यों ?"

"उठो अंजन, एक आवश्यक काम है। लो, पहले मुंह धोओ, फिर कहती हूं"

कहते हुए उसने पास ही तिपाईपर पड़ी झारी उठाकर सामने की। अंजना सहज 'अर्हंत' कहकर उठ बैठी और मुंह धोते हुए पूछा—

"ऐसी क्या बात है, जीजी ?"

वसंत क्षणभर चुप रही। अंजनाके मुंह धो लेनेपर धीरेसे कहा—

"देव पवनंजय आये हैं। वे अभी-अभी तुमसे मिलना चाहते हैं। उस ओरके कोण-वातायनपर प्रतीक्षा कर रहे हैं। बाहर प्रहस्त खड़े हैं; वे तुरंत तुम्हारा आदेश सुनना चाहते हैं !"

अंजना सुनकर नीरव और निस्पंद खड़ी रह गई। कुछ क्षण एक गहरी स्तब्धता व्याप गई।

"वे आये हैं ?...जीजी, यह क्या हो गया है तुम्हें.....?"

"मुझे कुछ नहीं हो गया अंजन, प्रहस्त स्वयं बाहर खड़े हैं। उन्होंने अभी-अभी आकर मुझे जगाया है। कहा है कि कटकको राहमें छोड़ देव पवनंजय गुप्त यानसे आये हैं—केवल तुम्हें मिलने ! अवसरकी गंभीरता-को समझो, बोलो उन्हें क्या कहूं ?"

"वे आये हैं......युद्धकी राहसे लौटकर मुझे मिलने...?"

और मानो नियतिपर भी उसे दया आ गई हो ऐसी हँसी हँसकर वह बोली—

"भाग्य देवता को कौतुक सूझा है—कि नींदसे जगाकर वे अभागिनी अंजनाके वर्षोंके सोये दुखका मज़ाक़ किया चाहते हैं..!...समझी.. अब समझी, जीजी,...क्या तुम्हें ऐसे ही सपने सताते रहते हैं, मेरे कारण ?"

द्वारपर प्रकट होकर सुनाई पड़ी प्रहस्तकी विनम्र वाणी—

"स्वप्न नहीं है, देवी, और न यह विनोद है। प्रहस्तका अभिवादन स्वीकृत हो! देव पवनंजय उस ओर प्रतीक्षामें खड़े हैं। वे देवीसे मिलने आये हैं और उनकी आज्ञा चाहते हैं!"

संदेहकी गुंजायश नहीं रही। फिर एक गहरा मौन व्याप गया।

"मुझसे मिलने आये हैं वे?..और मेरी आज्ञा चाहते हैं? पर मेरे पास कहां है वह, वह तो उन्हींके पास है। वे आप जानें।.... सारी आज्ञाओंके स्वामी हैं वे समर्थ पुरुष!..अकिंचना अंजनाका, यदि विनोद करनेमें ही उन्हें खुशी है, तो वह अपनेको धन्य मानती है..!"

और कोई पांच ही मिनट बाद दीखा, चांदनीके उजालेमें वह पूर्णकाय युवा राजपुरुष! सिरकी अवहेलित अलकोंमें मणि-बंध चमक रहा है। देहपर युद्धकी सज्जा नहीं है; है केवल एक धवल उत्तरीय। द्वारकी देहलीपर आकर वे ठिठक गये।..फिर सहज माथा झुकाकर भीतर प्रवेश किया। कक्षमें कुछ दूर जाकर फिर वे ठिठक गये। आगे बढ़नेका साहस नहीं है। सामने दृष्टि पड़ी—तल्पके पायताने वह कौन खड़ी है? सिरसे पैर तक पवनंजय कांप-कांप आये। सारे शरीरमें एक सन-सनी-सी दौड़ गई—मानो किसी दैवी अस्त्रका फल रोंये-रोंयेको बींध गया। अपना ही भार सम्हालनेका बल पैरोंमें नहीं रह गया है। घुटने टूट गये हैं, कमर टूट गई है। दृष्टि जो ढुलक पड़ी है तो ठहरनेको स्थान नहीं पा रही है। वीरका अंग-अंग पत्तोंसा थर-थरा रहा है। अभी-अभी मानो भागकर लौट जाना चाहते हैं। पर पैर न भाग पाते हैं, न खड़े रह पाते हैं और न आगे ही बढ़ पाते हैं..!

नीची दृष्टि किये ही अपने बावजूद वे गुन रहे हैं। नहीं है यह विलासका कक्ष। नहीं बिछी है यहां सुहागकी कुसुम-सज्जा। सामने वह पाषाणका तल्प बिछा है और उसपर बिछी है वह सीतलपाटी।

सिरहानेकी जगह कोई उपधान नहीं है; तब शायद सोनेवालीका हाथ ही है उसका सिरहाना। पास ही तिपाईपर पानीकी दो-तीन छोटी-बड़ी झारियां रक्खी हैं।....और पायतानेकी ओर जो वह खड़ी है ....क्या उसीकी है यह शय्या? कोनेमें स्फटिकके दीपाधारमें एक मंद दीप जल रहा है। निष्कंप है उसकी शिखा। आस-पास दीवारोंके सहारे, कोनोंमें वैभव स्वयं अपने आवरणोंमें सिमटकर, परित्यक्त हो पड़ा है! छतके मणि-दीप आवेष्टनोंसे ढके हैं—निरर्थक और अनावश्यक।

और जाने कब अंजनाने आकर कुमारके उन कांपते, असहाय पैरोंको अपनी भुजाओंमें थाम लिया। पुरुषकी नसोंमें जड़ और शीतल हो गया रक्त उस ऊष्मासे फिर चैतन्य हो गया। विच्छिन्न हो गई जीवनकी धाराको आयतन मिल गया; वह फिरसे बह उठी। पवनंजयने चौंककर पैरोंकी ओर देखा, और परसकी उस अगाध और अनिर्वचनीय कोमलतामें उतराते ही चले गये।..गरम-गरम आंसुओंसे भीगे पलकोंका वह गीलापन, ऊष्म श्वासोंकी वह सघनता, प्राणकी वह सारभूत, चिर-परिचित, संजीवनी गंध..। पवनंजयका रोयां-रोयां अनंत अनुतापके आंसुओंसे भर आया। पैरोंमें पड़ी उस विपुल केश-राशिमें अस्तित्व विसर्जित हो गया।

आंसुओंमें टूटते कंठसे पवनंजय बोले—

"जन्म-जन्मके अपराधीको..और अपराधी न बनाओ!.... उसके अपराधको मुक्ति दो,...उसके अभिशापका मोचन करो .."

फिर बोल रुँध गया। क्षणैक ठहरकर कंठका परिष्कार कर फिर बोले—

"कई जन्म धारण करके भी, इस एक पापका प्रायश्चित्त शायद ही कर सकूं! ऐसा निदारुण पापी, यदि हिम्मत करके शरण आ गया है..तो क्या उसपर दया न कर सकोगी..?"

एकाएक अंजना पैर छोड़कर उठ खड़ी हुई, और बिना सिर उठाये ही एक हाथकी हथेलीसे पवनंजयके बोलते ओठोंको दबा दिया। और अनायास वे मृदुल उंगुलियां उस चेहरेके आंसू पोंछने लगीं।

"मत रोको इन्हें..मत पोंछो...बह जाने दो..जन्मोंके संचित दुरभिमानके इस कलुषको चुक जाने दो..आह, मुझे मिट जाने दो.."

कहते-कहते पवनंजय फूट पड़े और बेतहाशा वे अंजनाके पैरोंमें आ गिरे! अंजना धप्से नीचे बैठ गई और दोनों हाथों से पकड़कर उसने पवनंजयको उठाना चाहा। पर वह सिर उसके दोनों पैरोंके बीच मानो गड़ा ही जा रहा है—धँसा ही जा रहा है। और उसके हाथोंने अनुभव किया, पुरुषकी बलशालिनी भुजाओं और वक्षमें भीतर ही भीतर घुमड़ रहा वह गंभीर रुदन!

भर्राये और गंभीर कंठसे अंजना बोली—

"अपने पैरोंकी रजको यों अपमानित न करो देव! उसका एक मात्र बल उससे छीनकर, उसे निरी अबला न बना दो!....सब कुछ सह लिया है, पर यह नहीं सह सकूंगी....उठो, देव...!"

और भी प्रगाढ़तासे पुरुषकी वे सबल भुजाएं उन मृदु चरणोंको बांध रही हैं। पर वह कोमलता मानो बंध्य नहीं है,—वह फैलती ही जाती है। उसमें कुमारकी वह विशाल देह मानो सिमटकर एक क्षुद्र धूलिकण हो जानेको विह्वल है। पर वह कोमलता तो अपने अंदर समाती ही जाती है—अवरोध नहीं देती। वज्र-सी काया टूटे तो कैसे टूटे, बिखरे तो कैसे बिखरे?

अंजनाने उठानेके सारे प्रयत्न जब निष्फल पाये, तो एक गहरी निश्वास छोड़, मानो हारकर बैठ गई। दोनों हाथोंकी हथेलियोंसे पवनंजयके दोनों गालोंको उसने दबा लिया। उनकी आंखोंसे अजस्र बह रहे आंसुओंके प्रवाहको जैसे सीमा बनकर बांध लेना चाहा—थाम लेना चाहा। फिर अंतरके मृदुतम स्वरमें बोली—

"....मेरी सौगंध है.....क्या मुझे नहीं रहने दोगे..? ....उठो देव,....मेरे जीकी सौगंध है तुम्हें....उठो....!"

पवनंजय उठे और घुटनोंके बल बैठे रह गये। आंसुओंके बहनेका भान नहीं है। वे प्रलंब बाहें और सशक्त कलाइयां धरतीपर सहारा लेती-सी थमी हैं। एक बार झरती आंखोंसे सामने देखा। खड़े घुटने किये हारी-सी बैठी है अंजना। अरे ऐसी है इस हारकी गरिमा! विश्वकी सारी विजयोंका गौरव क्षण मात्रमें ही जैसे मलिन पड़ गया। अपार वात्सल्यके मुक्त द्वार-सी खुली हैं वे आंखें—अपलक, उज्ज्वल, सजल। उस—पारदर्शिनी सरलतामें मनके सारे द्वंद्व, द्वैत सहज विलय हो गये! अपने बावजूद पवनंजय, मानो अज्ञात प्रेरणाका बल पाकर अपनेको निवेदन कर उठे—

"....जानता हूं कि धरित्री हो, और चिरकालसे अबतक हमें धारण ही करती आई हो! पर ओ मेरी धरणी, दुर्लभ सौभाग्यका यह क्षण पा गया हूं, कि तुम्हें अपने दुर्बल मस्तकपर धारण करनेकी स्पर्धा कर बैठा हूं....! इस दुःसाहसके लिये मुझे क्षमा न कर सकोगी..?"

फिर एक बार आंखें उठाकर उन्होंने अंजनाकी ओर देखा। उठे हुए जानू एक दूसरेसे सटकर धरतीपर ढुलक गये थे। उन दोनों जुड़े हुए जघनोंके बीच दीखी—मानव-पुत्रकी वही चिर-परिचित गोद! उसका वह अशेष आश्वासन!

"हाय, फिर भूल बैठा! सदाका छोटा हूं न, इसीसे अपने छोटे हृदयसे तुम्हें माप बैठा। सदासे धारणकर सदा क्षमा ही तो करती आई हो। और अभी-अभी इस जघन्यतम अपराधीको शरण दी है। फिर भी उस साक्षात् क्षमाके संमुख खड़ा हो क्षमा मांगनेकी धृष्टता कर रहा हूं?....तुम्हें नहीं जान पा रहा हूं....नहीं पहचान पा रहा हूं.... मैं फिर चूक रहा हूं....तुम जानो....अपनी थाह मुझे दो...."

कहते-कहते निरवलंब होकर उन्होंने दोनों हाथोंमें अपना मुंह डाल दिया ।

अंजनाने झुककर एक बांहसे उस विवश चेहरेको धीरेसे पास खींच लिया और वक्षसे लगा लिया । मुकुलित गोद सहज ही फैल गई. . . . । भयभीत खरगोश-से उस वीरकी वह विशाल काया, उस छोटी-सी गोदमें आकर मानो दुवक गई; सहज आश्वस्त हो गई । पर वह गोद क्या छोटी पड़ सकी है ? वह तो भव्यतर ही होती गई है ! उस अव्यावाध मार्दवमें चारों ओरसे घिरकर उसने पाया कि उसका प्राण अब अबध्य है, वह अघात्य है । उस अशोककी छायामें वह अभय है ।

अंजनाके उस जल-से शुभ्र आंचलके भीतर, उस गंभीर, उदार और महिम वक्ष-युगलके बीचकी गहराईमें डूबा था पवनंजयका मुख । चिर दिनका आहत और आत्महारा पंछी इस नीड़में विश्राम पाकर मानो शांतिकी गहरी सुख-निद्रामें सो गया है । नींदमें शिशुकी तरह रह-रहकर वह पुराने आघातोंकी स्मृतिसे सिसक उठता है । प्राणकी एक अतल-स्पर्शी आदिम गंध उसकी आत्माको छू-छू जाती है । और जैसे वह सपना देख रहा है. . . . . आस-पास उसके खुल पड़ा है दूधका एक अपूर्व समुद्र ! दिगंतोंको आप्लावित करता वह लहरा रहा है । मधुर विश्वास-की अपरिसीम चांदनी उसपर फैली है । अभय वह उसके प्रसारपर उड़ रहा है, और साथ ही वह अपने नीड़में आश्वस्त है ! भीतर और बाहर सब उसका ही राज्य है । सब एक हो गया है । विकलता नहीं है, विराम ही विराम है । . . . .

. . . . और उसीपर एक दूसरा सपना फूट आया—वह सारी ससागरा पृथ्वी उस नीड़के चारों ओर फैली पड़ी है—जिसे वह लांघ आया था ! उस सारे महाप्रसारको पारकर भी क्या वह उसे पा सका था ? क्या वह उसे अपना सका था ? क्या उसे लब्धि मिल सकी थी ? क्या उसमें अपना घर खोजकर वह आत्मस्थ हो सका था ? नहीं. . . . !

पर, आज, इस क्षण ? सारी दूरियां, सारे विच्छेद सिमटकर इस केंद्रमें अपसारित हो गए हैं। और इस नीड़के आस-पास सर्वथा और सर्वकाल सुलभ और सुप्राप्त पड़ी है यह ससागरा पृथ्वी—अपनी तुंग और अलंघ्य गिरिमालाओं सहित। अपने आश्रित खिलौनेकी तरह छोटी-सी वह लग रही है। जानी-मानी और सदाकी अपनी ही तो है वह।.... और देखते-देखते अनेक लोकांतरोंके द्वार पवनंजयकी आंखोंके सामने खुलने लगे....। अनेक कालांतरालोंकी जैसे यवनिकाएं उठने लगीं ....। इन सबमें होकर विश्वस्त, निश्चित, निर्विघ्न और अभय चला गया है उसका राजमार्ग। कोई उसे रोकनेवाला नहीं। सिद्धि ही स्वयं रक्षिका बनकर साथ है। माथेपर अनुभव हो रहा है—सुरक्षाका वह परस।

पवनंजयको एकाएक जब चेत आया तो अनजाने ही उन्होंने सिर उठाया। पाया कि वे बंदी हैं उन कोमल बाहोंमें। पुचकारकर, दबाकर फिर शिशुको सहज सुला दिया गया। वहींसे आंखें उठाकर पवनंजयने ऊपरकी ओर देखा। उस सुगोल और स्नेहल चिबुकके नीचे, कंधों और वक्षपर चारों ओरसे घिर आये सघन केशोंके बीच खुली है वह उज्ज्वल ग्रीवा। उसपर पड़ी हैं तीन वलयित रेखाएं। अभी-अभी देखे वे सपने मानो उन्हीं रेखाओंमें आकर लीन हो गये हैं। उस भव्य-सौंदर्य-गरिमाको उन्होंने जैसे उझककर चूम लेना चाहा। ..पर ओह, क्यों है इतनी जल्दी ? यही आश्वासन क्या परम तृप्ति नहीं है कि वहां लिखा है—'मैं तुम्हारी ही हूं !'। फिर एक बार उस सुखकी मूर्छामें वह उसी नीड़में झांक उठा।

..पसीनेमें भीग आई पवनंजयकी भुजाओंको सहलाते हुए अंजना बोली—

"उठो, बाहर हवामें चलें, गरमी बहुत हो रही है !"

कहकर पवनंजयका हाथ पकड़ वह आगे हो ली। बाहर आकर

छतके पूर्वीय झरोखेमें, रेलिंगके खंबोंके सहारे वे आमने-सामने बैठ गये। परिमल और परागसे भीनी चांदनीमें उपवन नहा रहा है। आकाश-गंगामें जल-क्रीड़ा करती तारक कन्यायें खिल-खिलाकर हंस पड़ीं। सामने जा रहा पूर्ण युवा चांद, चलते-चलते रुक गया। चांदके बिंबमें आंखें स्थिर कर पवनंजय विस्मृतसे बैठे रह गये। पहली ही बार जैसे पूर्ण सौंदर्यकी झलक पा गये हैं। उसी ओर देखते हुए बोले——

"हां, बाईस वर्ष पूर्व, ऐसी ही तो वह रात थी मानसरोवरके तटपर। चांद भी ऐसा ही था और ऐसी ही थी चांदनी। और लगता है कि तुम भी वैसी ही तो हो; कहीं भी तो आयुका क्षत नहीं लगा है! पर उस दिन क्या तुम्हें पहचान सका था? उसी दिन तो भूल हो गई थी। चेतन और ज्ञानपर गहरे अंतरायका आवरण जो पड़ा था। इसीसे तो ऐसा आत्म-घात कर बैठा। संमुख आये हुए प्यारके स्वर्गको अपने ही अहंकी ठोकरसे मिट्टीमें मिला दिया।....और आज? ....आज भी क्या तुम्हें पहचान पा रहा हूं? फिर-फिर भूल जाता हूं....नहीं पा रहा हूं तुम्हें...."

अंजना चांदमें खोई पवनंजयकी स्थिर और पगली दृष्टिपर आंखें थमाये चुप बैठी है। उसे कुछ कहना नहीं है, कुछ पूछना नहीं है। कोई अभियोग नहीं है। कुमारको वह मौन असह्य हो उठा। दृष्टि फिराकर उन्होंने अंजनाकी ओर देखा——आवेदनकी आंखोंसे। अंजनाकी दृष्टि झुक गई। वह वैसी ही चुप थी। पवनंजय भीतर ही सिसकी दबाकर बोले——

"हुंअ....तो तुम्हें मुझसे कुछ भी पूछना नहीं है?....समझा, तुम्हारा अभियुक्त होनेका पात्र भी मैं नहीं हूं?....नहीं, तुम्हारे इस मूक और निरपेक्ष स्वीकारको सहनेकी शक्ति अब मुझमें नहीं है! उस दिन भी तो मेरी क्षुद्रता, इसी स्थलपर चूक गई थी। और आज फिर वैसी ही कठोर परीक्षा लोगी?"

फिर एक चुप्पी व्याप गई। जिसे प्यार किया है उसका न्याय-विचार अंजनाके निकट अप्रस्तुत है। और कहीं कोई प्रश्न उस वियोगके निमित्त-को लेकर मनमें होगा भी, तो इस क्षण वह उसके लिये अकल्पनीय है। वह वैसी ही गर्दन झुकाये प्रतिमा-सी बैठी है। पवनंजय व्यथित हो उठे। अधीर होकर तीव्र स्वरसे बोले—

"मेरे अपराधको मुक्ति दो, अंजन ? नहीं तो यह ज्वाला मुझे भस्म कर देगी। मेरे इस मर्मको बींध दो—तोड़ दो अपनी इन मृदुल पगतलियोंसे....। जन्म-जन्मके इस पापको अपने चरणोंमें विसर्जित कर लो, रानी....!"

कहते-कहते पवनंजय फिर भर आये और सामने बैठी अंजनाके पैरोंमें फिर सिर डाल दिया।

"....पूछो....एक बार तो मुंह खोलकर पूछो....अपने इस पाषाणके पतिदेवसे....कि ऐसा क्या था तुम्हारा अपराध.... जिसके लिये ऐसा कड़ा दंड उसने तुम्हें दिया है....?"

अंजनाने पवनंजयके सिरको एक ओरकी गोदपर खींच लिया। आंचलसे उनकी आंखें और चेहरा पोंछती हुई बोली—

"ऐसी बातें मनमें लाकर, अब और दूर न ठेलो, देव। मैं तो अज्ञानिनी हूं....इतना ही जानती हूं, कि तुम्हारी हूं....आदिकालसे तुम्हारी ही हूं !....इसीसे तो उस दिन उन लहरोंके बीच भी तुम्हें पहचान लिया था। कितने ही भवोंमें, कितनी ही बार वियोग और संयोग हुआ है....उसकी कथा तो अंतर्यामी जानें ! दुःख और अंतरायकी रात बीत गई—उसका सोच कैसा ? खोकर इसी जीवनमें फिर तुम्हें पा गई हूं, यही क्या कम बात है ? दोष किसीका नहीं है। आत्माके ज्ञान-दर्शनपर मोहनीका आवरण जबतक पड़ा है, तबतक तो यह आवा-गमन और संयोग-वियोग चलना ही है। पर मिलनका यह दुर्लभ क्षण यदि आ ही गया है, तो इसे हम खो न बैठें। विगत दुख-रागोंको, क्या इस

क्षण भी हम नहीं भूल सकेंगे? . . .और कलका किसे पता है. . . .? आज अपने बीच उस आवरणको मत आने दो! आज जो मुहूर्त आ गया है, उसीमें क्यों न ऐसे मिल जायें——ऐसे कि फिर बिछुड़ना न पड़े. . . ."

कहते-कहते अंजना झुककर पवनंजयपर छा गई——

"पर अपराध तो मेरा ही है न, अंजन! इसीसे तो वह मेरे आड़े आ रहा है। और तुमतक वह मुझे नहीं पहुंचने दे रहा है। तुम चाहे जितना ही मुझे पास क्यों न खींचो, पर मेरे पैरोंमें जो बेड़ियां पड़ी हैं! पहले उन्हें खोलो रानी, तभी तुम्हारे पास मैं पहुंच सकूंगा। उसके बिना छुटकारा नहीं है. . . ."

"स्वार्थिनी हूं, अपनी ही बात कहे जा रही हूं। . . . .बोलो, अपने जीकी व्यथा मुझसे कहो"

अंजनाके दोनों हाथोंको अपनी हथेलियोंसे अपने हृदयपर दाबकर, एक सांसमें पवनंजय उस अभागी रातकी कथा सुना गये। आत्म-निवेदनके शेषमें वे बोले——

". . . .मानसरोवरकी लहरोंपरसे, उस महल-अटापर तुम्हारी पहली झलक देखी, और मैं कालातीत सौंदर्यका अनुमान पा गया। वही अनुमान अभिमान बन बैठा! मैं आपेसे घिर गया। उस अहंकारमें उस सौंदर्यकी संदेश-वाहिकाको भी भूल बैठा। उसे ही मैं न पहचान सका। तुलनामें विद्युत्प्रभ था या और कोई पुरुष होता, उसके प्रति कोई रोष मनमें नहीं जागा। रोष तो तुमपर था——तुमपर!——इसलिये कि तुम्हें जो अपनी मान बैठा था, सर्वस्व जो हार बैठा था। तुमपर ही जब संदेह कर बैठा, तो अपना ही विश्वास नहीं रहा। फिर माता-पिता, मित्र-संगी, किसीमें भी आश्वासन कैसे खोजता? केवल अपने पुरुषार्थका अभिमान मेरे पास था। सामने था केवल अथाह शून्य——मृत्यु——और उसीमें भटकते ये सारे वर्ष बिता दिये. . . ."

कहकर पवनंजयने एक गहरी निःश्वास छोड़ी। अंजना बात सुनते-सुनते तल्लीन होकर वर्षों पारकी उस रातमें पहुंच गई थी। वह घटना उसकी स्मृतिमें पूर्ण सजल हो उठी। सुनकर उसके आश्चर्यकी सीमा न थी। मानव-भाग्यकी इस बेबसीपर, जीवके इस अज्ञानपर उसका सारा अंतःकरण एक सर्व-व्यापिनी करुणासे भर आया। गंभीर स्वरमें बोली---

"अपना ही प्यार जब शत्रु बन बैठा, तो वह मेरे ही तो कर्मका दोष था। मैं अपने ही सुखमें ऐसी बेसुध हो रही कि अपने ही सामने होनेवाले तुम्हारे ऐसे घोर अपमानका भानतक मुझे नहीं रहा।....वह मेरे ही प्रेमकी अपूर्णता तो थी। घटना तो वह निमित्त मात्र थी, पर आवरण तो भीतर जाने किस भवका पड़ा था। आज भाग्य जागा, कि तुम आये, तुमने पर्दा उठा दिया! नारी हूं---इसीलिये सदाकी अपूर्ण हूं न... आओ मेरे पूर्ण पुरुष, मुझे पूर्ण करो!....कल्प-कल्पकी बिछुड़ी अपनी इस आत्माको छोड़कर अब चले मत जाना...."

अंजनाने अपना एक गाल पवनंजयकी लिलारपर रख दिया। सुखसे विह्वल होकर पवनंजय बोल उठे---

"नारी होकर तुम अपूर्ण हो, तो पुरुष रहकर मैं भी क्या पूर्ण हो सकूंगा? पुरुष और नारीका योनि-भेद तोड़कर ही तो एक दिन हम पूर्ण और एकाकार हो सकेंगे!"

राज-द्वारपर दूसरे पहरका मंगल-वाद्य बज उठा!

इस बीच जाने कब चतुर वसंतने कक्षमें आकर, वहांकी सारी व्यवस्थाको रूपांतरित कर दिया। वर्षोंका ढका वैभव आज फिर निरावरण होकर अपनी पूर्ण दीप्तिसे खिल उठा! मणिदीपोंकी जग-मगने रंगोंका माया-लोक रच दिया। इस क्षुद्र, जड़ वैभवकी ऐसी स्पर्धा कि वह इस मिलनका क्रोड़ बननेको उद्यत हो पड़ा है? सब सरंजाम अपनी जगहपर ठीक है।

पद्म-राग-मणिके पर्यंककी वह कुंदोज्वल, उभारवती शय्या आज सूनी नहीं है। उपधानपर कोहनीके सहारे कुमार पवनंजय अध-लेटे हैं। पास ही चौकीपर स्तवकोंमें रजनी-गंधा, जूही और शिरीषके फूलोंके ढेर पड़े हैं। शैय्यापर कामिनी कुसुमके झूमखे बिखरे हैं। महकसे वातावरण व्याप्त है। पर्यंकके पायतानेकी ओर, पैर सिकोड़कर अंजना बैठी है। एक हथेलीपर मुख उसका ढुलका है। आंखें उसकी झुकी हैं—अंतरके सहज संकोचसे नम्र, वह एक बिंदुभर रह गई है। राग नहीं है, सिंगार नहीं है, आभरण भी नहीं है। चारों ओर लहराती घनी और निर्बंध केश-घटाके भीतरसे झांकती वह तपक्षीण, कल्प-लता-सी गौर देह निवेदित है। हिमानीसे शुभ्र दुकूलमेंसे तरल होकर, भीतरकी जाने किस गंगोत्रीसे गंगाकी पहली धारा फूट पड़ी है। कुमारिकाका हिम-वक्ष पिघल उठा है––उफना उठा है। देखते-देखते पवनंजयकी आंखें मुंद गई। नहीं देख सकेगा वह, नहीं सह सकेगा––इस हिमानी के भीतर छुपी उस अग्निका तेज। इन कलुषित आंखों की दृष्टि उसे छुआ चाहती है? ओह, कापुरुष, तस्कर, लुटेरा––अत्याचारी! तेरा यह साहस? भस्म हो जायगा अभागे? एक मर्मांतिक आत्म-भर्त्सनासे पवनंजयका सारा प्राण त्रस्त हो उठा––

पर वह छबि जो उसके सारे कल्मषको दबाकर उसके ऊपर आ बैठी है––और मुस्करा रही है! वही है इस क्षणकी स्वामिनी, उसीका है निर्णय! पवनंजयका कर्तृत्व इस क्षण मानो कुछ नहीं है।

मुँदी आंखोंके भीतर फिर उसने देखी वही निरंजना तन्वंगी। कलाइयोंपर एक-एक मृणालका वलय है, और सतीके प्रशस्त भालपर शोभित है सौभाग्यका अमर तिलक: जैसे अखंड जोत जल रही है। ढुलकी पलकोंकी लंबी-लंबी फैली बरौनियोंमें भीतरका सरल अंतस्तल साफ़ लिख आया है। अरे कौनसा है वह पुरुषार्थ, जो इसका वरण कर

सकेगा ? कौन सा वह सक्षम हाथ है, जो इसे छू सकेगा....? पवनंजयने मुंह अपना उपधानमें डुबा दिया।

पर गंगाकी धारा, जो चिर दिनकी रुद्धता तोड़कर फूट पड़ी है, उसे तो बहना ही है।

पवनंजयने अनुभव किया—पगतलियोंपर एक विस्मरणकारी, मधुर दबाव! रक्तमें एक सूक्ष्म सिहरन-सी दौड़ गई। मुंह उठाकर उन्होंने सामने देखा।....मुस्कुराती हुई अंजनाकी वह घनश्याम पक्ष्मोंमें पूर्ण खिली स्नेहकी विशाल दृष्टि!—अचंचल वह उनकी ओर देख रही है। पहली ही बार आया है शुभ-दृष्टिका यह क्षण। हाथ उसके चल रहे हैं—एक गोदपर पवनंजयकी एक पगतली लेकर वह दाब रही है। पवनंजय सहम आये। शिराओंमें एक गहरा संकोच-सा हुआ। पर पैर खींच लें, यह उनके बसका नहीं है। अंजना मंजरियों-सी हँस आई—धीमे-से बोली—

"डरो मत, मैं ही हूं! युद्धकी राहसे लौटकर आये हो न, और जाने कितनी-कितनी दूरकी यात्राएं कर आये हो! सोचा थक गये होंगे....तुम नहीं....बेचारे ये पैर....!"

एक मार्मिक दृष्टिसे पवनंजयकी ओर देख अंजना खिल-खिला-कर हँस पड़ी। पवनंजय गहरी लज्जा और आत्मोपहाससे मर मिटे। पर आघात कहां था? अगले ही क्षण एक अप्रतिहत आनंदकी धारामें वे डूब गये। बाल-सुलभ चंचलतासे बोल पड़े—

"हां हां—सब समझ गया! अपनी सारी मूर्खताओंपर अभी भी मैंने पर्दा ही डाल रक्खा है। पर तुम्हारे सामने कौनसी मेरी माया टिक सकेगी? तुमसे क्या छिपा रह सका है? यहां बैठकर भी अनुक्षण, मेरे पीछे छायाकी तरह जो रही हो। मेरे सारे छिद्रोंपर स्वयम् जो पर्दा बनकर पड़ी हो। जानती हो, उन यात्राओंमें मुझे किसकी खोज थी?"

"हम अंतःपुरकी वासिनियां, तुम्हारी खोजका लक्ष्य क्या जानें ? आप पुरुष हैं--और समर्थ हैं। बड़े लोग हैं न, बड़े हैं आपके मनसूबे, आपके संकल्प और लक्ष्य ! आप लोगोंके परे जाकर हमारी गति ही कहां है, जो आपके रहस्योंकी थाह हम पा सकें। अनुगामिनियां जो ठहरीं...."

पवनंजय सुनते-सुनते हँसी न रोक सके। अंतरमें उलझी-दबी सारी पीड़ाओंको, यह सरल लड़की, इन स्नेहल आंखोंसे, हँस-हँसकर, कैसी सहज सुलझाये दे रही है ! अशेष दुलारका ज़ोर पाकर पवनंजय अल्हड़ हो पड़े और बोले--

"हां, सच ही तो कह रही हो, तुम्हारी खोज तो अवश्य ही नहीं थी ! यों ना कहकर, सोचती हो, कि मुझे ठगकर मेरा लक्ष्य बननेका गौरव ले लोगी, सो नहीं होने दूंगा !....हां, तो लो सुनो, अच्छी तरह तैयार हो जाओ और कान खोलकर सुनो; बताता हूं, मुझे किसकी खोज थी।"

फिर एक मार्मिक दृष्टिसे, अपनी ही ओर भरपूर खुली अंजनाकी आंखोंमें गहरे देखते हुए खिल-खिलाकर हँस पड़े और बोले--

"मुझे मुक्तिकी खोज थी....! आदि प्रभु ऋषभदेवकी निर्वाण-भूमिपर जाकर भी मनको विराम नहीं था। मुझे चाहिये था निर्वाण ! लहरोंके मरण-भंवरोंपर मैं बेसुध खेल रहा था। इसी बीच पीछेसे तुमने पुकारा। तुमने फेंका वह लावण्यका पाश। मैं देश-कालातीत सौंदर्य-की कल्पनासे भर उठा। तुम्हींने दिया था वह अभिमान। मैं प्रमत्त हो उठा। तुम्हें जब भूल बैठा, जिसने दी थी वह कामना, तो फिर कहां ठिकाना था ? ओ कामनाओंकी देवी ! कामना दी है, तो सिद्धि भी दो ! अपने बांधे बंधन तुम्हीं खोलो, रानी ! मेरे निर्वाणका पथ प्रकाशित करो !....तुम्हींने जो पुकारा था उस दिन....!"

"मुक्तिकी राह मैं क्या जानूं ? मैं तो नारी हूं, आप ही जो बंधन

हूं और सदा बंधन ही तो देती आई हूं।——मुक्ति-मार्गके दावेदार और विधाता हैं पुरुष ! वे आप अपनी जानें...."

अगाध विसर्जन और सुखातिरेकसे भर आये पवनंजय इस क्षण अपने स्वामी नहीं थे। एकाएक वे उठ बैठे और उन पैर दाबते दोनों मृदुल हाथोंको अपनी ओर खींचते हुए गद्गद् कंठसे बोले——

"नहीं चाहिये मुक्ति——मुझे बंधन ही दो, रानी ! ओ मेरे बंधन और मुक्तिकी स्वामिनी....!" × × ×

भाषाकी सीमा अतीत हो गई। ढलती रातके अलस पवनमें बासंती फूलोंकी गंध और भी गहरे और मधुर मर्मका संदेशा दे रही थी। आत्माके अंतरतम गोपन-कक्ष आलोकित हो उठे। अनाहत मौनमें सब कुछ गतिमय था ! ग्रह-नक्षत्र, जल, स्थल, आकाश और हवायें, सभी कुछ इस एक ही सत्यकी धुरीपर एक तान और एक-सुर होकर नृत्यमय है। कहां है इस अनंत आलिंगनके सिंधुका कूल ? इंद्रियोंकी बाधा निमज्जित हो गई। देहके सीमांत पिघल चले। पर आत्माओंको कहां है विराम ? नग्न और मुक्त, वे जो एक-दूसरेमें पर्यवसित हो जानेको विकल हैं।

पुरुषकी वे दिग्विजयकी अभिमानिनी भुजाएं नहीं बांध पा रही हैं उस तनु, सूक्ष्म कल्प-लताको। जितना ही वे हारती हैं, आकुलता उतनी ही बढ़ती जाती है। अखंड और अपराजिता है यह लौ, जितना ही वह बांधना चाहता है, वह उतनी ही ऊपर उठ रही है, वह हाथ नहीं आ रही है ! अपरिसीम हो उठा है पुरुषका अपराध——और उसका अनुताप। पर वह नारी देनेमें चूक नहीं रही है। दान-दाक्षिण्यका स्रोत अक्षत धारासे बह रहा है। पुरुषने हारकर पाया कि व्यर्थ और विफल है इसे बांधनेकी उत्कंठा; इस प्रवाहके भीतर तो बह जाना है, स्वयं ही विसर्जित हो जाना है। निर्वाण आप ही कहीं राहमें मिल जायगा ! अतीत है वह इन सारी कामनाओंसे। पुरुषने छोड़ दिया अपनेको, उस बहावकी मर्जीपर....

× × × चौथे पहरका मंगल-वाद्य राज-द्वारपर बज उठा !

अंजनाकी नींद खुली। अकल्पनीय तृप्तिकी गहरी और मधुर नींदमें पवनंजय सो रहे थे। पर अंजना जानती है अपना कर्तव्य। इस क्षण उन्हें रुकना नहीं है। उन्हें लौटाना ही होगा—दिन झांकनेके पहले। हां, उन्हें जगाना होगा। वह धीमे-धीमे पगतलियां सहलाने लगी। पवनके स्पर्शमें जागरणका संदेश है। अंजनाने पाया कि वह भर उठी है, एक मर्म-मधुर भारसे वह दबी जा रही है....। शेष रात्रिकी शीर्ण चांदनी झरोखेकी राह कक्षमें आकर पड़ रही है।

पवनंजयकी नींद खुल गई।

"उठो देव !"

पायतानेकी ओर सुनाई पड़ा वह मृदु स्वर।

अँगड़ाई भरते हुए, सहज इष्ट-देवका नामोच्चार करते पवनंजय उठ बैठे। सामने था वही मुस्कराता हुआ सतीका अनिंद्य उज्ज्वल मुख। दोनों एक-दूसरेकी आंखोंमेंसे एक-दूसरेके पार देख उठे....।

"दिन उगनेको है—जानेकी तैयारी करो, अब देर नहीं है !"

स्नेहके उन्मेषमें अंजनाकी चिबुक पकड़कर बोले पवनंजय—

"जानेको कहोगी तुम्हीं, और उसकी भी इतनी जल्दी हो पड़ी है तुम्हें....?"

"अपनी विवशता जानती हूं न। तुम्हें कब-कब रोक सकी हूं ? नहीं रोक सकी हूं, इसीसे तो कह रही हूं !....पर....हां, मेरी एक बात मानोगे....?"

अंजनाने दोनों हथेलियोंसे बिखरी अलकोंवाले उस चेहरेको दबा लिया। फिर पवनंजयके दोनों कंधोंपर हाथ डालकर भरपूर उनकी ओर देखती हुई बोली—

"मेरी शपथ खाकर जाओ कि अनीति और अन्यायके पक्षमें—मद

और मानके पक्षमें तुम्हारा शस्त्र नहीं उठेगा । क्षत्रियका रक्षा-व्रत, विजयके गौरव और राज-सिंहासनसे बड़ी चीज़ है !"

क्षणभर ख़ामोशी व्याप गई । युद्धका नाम सुनकर पवनंजय बौखला आये—

"अ. . . .अंजन, वह सब कुछ मुझे नहीं मालूम है. . . .कुछ करके मुझे रोक लो न. . . .? मुझे नहीं चाहिये युद्ध, वह थी केवल मरीचिका, मान कषायकी वही मोहनी, जिसके वश में इतने वर्षों भटकता रहा । उसीकी चरम परिणति है यह युद्ध । इससे मेरी रक्षा करो, अंजन !"

निपट हत-बुद्ध, अज्ञानी बालकी तरह वे विनती कर उठे ।

"नहीं, रोक नहीं सकूंगी । लौटकर तुम्हें जाना ही होगा । तुम्हारा ही पक्ष यदि अन्यायका है तो उसके विरुद्ध भी तुम्हें लड़ना होगा । पर इस क्षण रुकना नहीं है, मेरे वीर !"

पवनंजयकी शिरा-शिरा एक तेजस्वी वीर्यसे ओत-प्रोत हो उठी । कंधोंपर पड़े अंजनाके दोनों हाथोंको हाथमें लेकर चूम लिया और बोले—

"मुझे शपथ है इन हाथोंकी, और इन हाथोंका आशीर्वाद ही सदा मेरी रक्षा भी करेगा. . . .।"

उल्लसित होकर पवनंजय उठ बैठे और प्रयाणकी तैयारी करने लगे । इतने ही में बाहर प्रहस्तका उच्च स्वर सुनाई पड़ा ।

. . . .अंजनाके भीतर एक नामहीन, निराकार-सा संदेह जाग उठा । भीतर एक धुक-धुकी-सी हो रही है । क्या कहे, कैसे कहे, वह स्वयं जो नहीं जान रही है । पलंगके पायताने सोच और संकोचमें डूबी वह खड़ी है ।

"देवी, दिन उगनेको है, बिदा दो !"

. . . .अंजनाको चेत आया । बिना दृष्टि उठाये ही, पवनंजयके पैरोंमें सिर रखकर वह प्रणत हो गई । पवनंजयने झुककर, बाहुएं पकड़

उसे उठा दिया। दृष्टि उसकी अब भी झुकी ही है। पतिके एक हाथको धीरेसे अपने हाथमें लेकर बोली—

"सुनो, मेरी विवशताकी कथा भी सुनते जाओ।....दुनियाकी आंखोंकी ओट तुम कब मेरे पास आये और कब चले गये, यह सब तो कोई नहीं जानता और नहीं जानेगा! तब पीछेसे किसी दिन कुछ हुआ ....तो परित्यक्ता अंजनापर कौन विश्वास करेगा....?"

कहते-कहते अंजनाका कंठ अंतरके आंसुओंसे कांप आया।

पवनंजयके भीतर असीम उल्लासका वेग था। पुरुषको अपनी तृप्ति और अपना जीतव्य मिल चुका था। अपने सुखके इस चांचल्य और उतावलीमें नारीकी इस विवशताको समझनेमें वह असमर्थ था। तुरंत भुजापरसे वलय, और उंगलीसे एक मुद्रिका निकालकर अंजनाके हाथोंमें देते हुए पवनंजय बोले—

"पगली हुई है अंजन, मुझे लौटनेमे क्या देर लगनेवाली है? चुटकी बजातेमें सब ठीक करके, तुरंत ही लौटूंगा। तेरी दी शपथ जो साथ है। फिर भी अपने मनके विश्वासके लिये चाहे तो यह रख ले!"

वलय और मुद्रिका हाथमें लेकर फिर अंजनाने पैर छू लिये। और उठकर बोली—

"निश्चिंत होकर जाओ, मनमें कोई खटका मत रखना....!"

आंसू भीतर झर गये। ओठोंपर मंगलकी मुस्कराहट थी!

प्रहस्त द्वारपर खड़े थे। दूरसे ही उन्होंने झुककर देवीको प्रणाम किया। पवनंजय उनके साथ हो लिये।

पौ फटते-फटते यान दृष्टिसे ओझल हो चला। अंजना और वसंत छतपर खड़ी एकटक देखती रहीं, जबतक वह बिंदु बनकर शून्यमें लय न हो गया।

[२२]

पलक मारतेमें दिन बीतने लगे। कटकका कोई निश्चित संवाद आदित्यपुरमें नहीं आया। अभी कुछ दिनों पहले केवल इतना ही सुना था कि युद्ध बहुत भयंकर हो गया है। जंबुद्वीपके अनेक मंडलीक छत्रधारी युद्धमें आ उतरे हैं। पक्षोंमें ही आपसमें विग्रह हो गये हैं। स्थिति जटिल होती जा रही है। सुलझनेके अभी कोई चिह्न नहीं दीखते।

रोज़के नित्य-कर्मोंमें अंजना जो भी आश्वस्त भावसे संलग्न है; पर इस सबमें होकर दिन और रात, सोते और जागते उसकी दृष्टि लगी है, विजयार्धके सुदूर शृंगोंपर। नहीं दीख पड़ता है वहां आता हुआ वह धवल तुरंग। नहीं दीख पड़ती है चिंतामणिसे चमत्कृत शिरस्त्राणकी आभा! किसी जय-पताकाका कोई चिह्न भी दूर-दूरतक नहीं है। कभी-कभी स्वप्नाविष्ट-सी, वह दसों दिशाओंको सूनी आंखोंसे घंटों ताकती रह जाती है। किसी भी दिशामें नहीं दीख पड़ती है, सैन्यके अश्वोंसे उड़ती धूल। जयभेरीका स्वर भी नहीं सुनाई पड़ता। दूरकी उपत्यकाएं जयकारोंके निनादसे नहीं गूंजती। सुनसान क्षितिजके मंडलपर नियति-सा शून्य और अचल यह आकाश खड़ा है!

इस महलको छोड़नेका संकल्प अंजना उस दिन कर चुकी थी। पर वह जाने ही को थी, कि उस रात अचानक पवनंजय आ गये। वे आप मर्यादाकी रेखा स्वयं खींच गये हैं। इसे लांघकर अब अंजनाको कहीं जाना नहीं है। पर लोक-मर्यादाके विचार-पति क्या इस मर्यादा-रेखाका आदर करेंगे? प्रच्छन्न रूपसे दिन-रात यह प्रश्न उसके अंतरतममें कसकता रहता है।

दिन सप्ताह और सप्ताह महीने होते चले। उनके आनेकी सारी आशाएं दुराशा हो गईं। प्रतीक्षाकी दृष्टि पागल और अनंत हो उठी है। कोई सूचना नहीं है, संवाद भी नहीं है। पथिकों और

प्रवासियोंके मुंह अस्पष्ट और अनिश्चित खबरें आदित्यपुरमें आती रहती हैं।

....अंजनाके शरीरमें गर्भके चिह्न प्रकट हो चले। नवीन मंजरियोंसे लदे रसाल-सी अंजनाकी सारी देह पांडुर हो चली है। मुखपर फूटते दिनकी स्वर्णाभा दीपित हो उठी है।—दिन-दिन उन्नत और उदार होते स्तनोंके भारसे वह नम्रीभूत हो चली है। अंगोंमें विपुलताका एक उभार और निखार है। भीतरके गहन और सघन आनंद-भारसे एक मधुर गांभीर्यका प्रकाश बाहर चारों ओर फूट पड़ा है। श्री, कांति, रस और समृद्धिसे आनत अंजना जब चलती है, तो गजोंकी भव्य गति विनिंदित होती है—पैरों तलेकी धरती गर्वसे डोल-डोल उठती है! प्रकाशपर कौनसा आवरण डालकर उसे छुपाया जा सकता है? वह तो फैलता ही है, क्योंकि वही उसका निसर्ग धर्म है। लोक-दृष्टिने देखा और अनेक चर्चाएं अंदर ही अंदर चलने लगीं।

भीतर जो भी अंजनाका मन दिन-रात चिंता और भयसे संत्रस्त है, पर उस सबपर पड़ा है जाने किस अदृष्ट भावी विश्वासका बल-शाली हाथ, कि एक अमंद आनंदकी धारामें वह अहर्निश आप्लावित रहती है।

इसीसे कभी-कभी जब अकेलेमें चिंतामें डूबी वह उदास हो जाती तो वसंत मौन-मौन उसके हृदयकी व्यथाको आंखोंसे पी लेती। उसे छातीसे लगाकर मूक सान्त्वना देती। अंजना एकाएक हँस पड़ती। चेहरेकी वेदना उस हँसीसे और भी मोहक हो उठती। अंजना कहती—

"तुम चुप रहती हो, जीजी, पर मैं क्या नहीं समझ रही हूं? पर विधाताके कौतुकपर अब तो हँसी ही हँसी आ रही है। देव-दर्शनके लिये तुम मुझे मंदिरतक नहीं जाने देतीं। ऐसे डरकर कै दिन चल सकूंगी? मुझे भय भी नहीं है और लज्जा भी नहीं है। क्या मुझे इतना हीन होनेको कहती हो, जीजी, कि उनकी दी हुई थातीकी अवज्ञा करूं? उनके दिये

हुए पुण्यको पाप बनाकर दुराती फिरूं, यह मुझसे नहीं हो सकेगा. . . . !"

"पर अंजन, लोक-दुनिया तो यह सब नहीं जानती. . . .।"

"हां, दुनिया यह नहीं जानती है कि किस रात वे अभागिनी अंजनाके महलमें आये और कब चले गये। पर उन्हें मुझतक आनेके लिये, या मुझे उनके पास जानेके लिये क्या हर बार, लोक-जनोंकी आज्ञा लेनी होगी ?"

"पर अंजना, दुनिया तो इतना ही जानती है न, कि कुमार पवनंजयने अंजनाको कभी नहीं अपनाया। उसकी दृष्टिमें तुम पहले ही दिनकी परित्यक्ता हो। तुम्हारे और उनके बीचकी राह सदाके लिये जो बंद हो गई थी—इसके परेकी बात दुनिया क्या जाने ?"

अंजनाके चेहरेपर फिर एक अम्लान हँसी झर पड़ी—

"कैसी भोली बातें करती हो, जीजी ! इस सबका उपाय ही क्या है ? मुझे या तुम्हें घूम-घूमकर क्या इसका विज्ञापन करना होगा ? और करोगी भी तो क्या दुनिया उसे सच मान लेगी ? सच बात तो यह है, जीजी, कि अंधी लोक-दृष्टि यदि मेरे और उनके बीचकी राहको देख पाती, तो दुनियामें इतने अनर्थ ही न होते !—पाप और दुराचारोंकी सृष्टि ही न होती। विधिका विधान ही कुछ और होता। मैं कहूं, फिर विधिका विधान होता ही नहीं, मनुष्यका अपना ही मांगलिक विधान होता। पर स्थूल लोक-दृष्टिपर राग-द्वेषोंके आवरण जो पड़े हैं। इसीसे तो मानव-मनमें अशेष दुख-क्लेशोंकी वार्ताएं चिरकालसे चल रही हैं। दिन-रात आत्मा-आत्माके बीच संघर्ष है। यह सब इसीलिये है कि एक-दूसरेको ठीक-ठीक समझने जाननेकी शक्ति हममें नहीं है।"

"पर अंजन, मनुष्यकी जो विवशता है, उसकी अपेक्षा ही तो जगतका बाह्य व्यवहार चल सकेगा।"

"भीतर और बाहरके बीच तो पहले ही खाई है—इस खाईको और बढ़ाये कैसे चलेगा, जीजी ? भीतरके सत्यपर विश्वास कर, बाहरकी दुनियामें उसके लिये सहना भी होगा। उस सत्यकी प्रतिष्ठा करनेके

लिये, अचल रहकर सम-भावसे, लोकमें प्रचलित मिथ्याको प्रतिरोध देना होगा, खपना होगा। अपनेको चुकाकर भी उस सत्यको प्रकाशित करना होगा!"

"पर उस सत्यका आधार ही यदि छिन जाय, तो उसे प्रकाशित कैसे कर सकोगी?"

"सत्यका अंतिम आधार सदा कोई स्थूल, ठोस चीज़ तो नहीं होती जीजी! प्रेम और आत्मा कोई रंग-रूपवाली मणि तो नहीं होती है कि चट निकालकर दिखा दें। 'उन'पर और अपने ऊपर विश्वास यदि अचल है, तो बाहरका कौनसा भय और प्रहार है जो मेरा घात कर सकेगा? जो धन वे सौंप गये हैं, उसकी रक्षा करनेका बल भी वे आप मुझे दे गये हैं।....केवल एक ही चिंता मनको दिन-रात बींध रही है--कि वे किसी दुश्चक्रमें न पड़ गये हों। जाते-जाते उनका मन युद्धसे विमुख हो गया था। उनकी इच्छाके विरुद्ध, मैंने ही उन्हें भेजा है। शपथ दी है मैंने कि वे अन्यायके पक्षमें नहीं लड़ेंगे, चाहे वह अपना ही पक्ष क्यों न हो। इसीसे रह-रहकर चिंता होती है--कि किसी गहरे दुश्चक्रमें न पड़ गये हों....? मेरी बातको वे कुछका कुछ न समझ बैठें...."

कहते-कहते अंजनाकी आंखें भर आईं। वसंतने उसे फिर पास खींचकर पुचकार लिया और छातीसे लगाकर सान्त्वना देने लगी।

× × × कानोंकान बात सारे अंतःपुरमें फैल गई--। राज-परिकरमें भी दबे-छुपे चर्चाएं होने लगीं। महादेवीने सुना और सुनकर दोनों कानोंमें उंगलियां दे लीं। आंखें जैसे कपालसे बाहर निकल पड़ती थीं। उनके क्रोध और संतापकी सीमा नहीं थी। 'ऐसी आई है कुलक्षिणी कि पहले तो मुझसे पुत्र छीना, उसके जीवनको नष्ट कर दिया, और उसकी पीठ पीछे कुलकी उज्जवल कीर्तिमें ऐसे भीषण कलंककी कालिख लगा दी!' स्वयं जाकर बहूसे मिलने या उसे बुलवाकर पूछ-पाछ करनेका धैर्य राज-मातामें नहीं था। जाने या

बुलानेकी तो बात दूर, इस कल्पनासे ही शायद वे सिहर उठतीं। अपनी विश्वस्त गुप्त-चरियोंको भेजकर ही उन्होंने बातका पक्का पता लगा लिया था। दूसरे इधर कुछ दिनोंसे अंजना भी निःशंक होकर प्रातः-सायं, देव-मंदिरमें दर्शन करने जाने लगी थी। तब सभीके संमुख वह प्रकट थी। अंजनाके इस दुःसाहसपर देखनेवालोंको भीतर-भीतर अचरज ज़रूर था, पर बातकी गहराईमें जाना किसीने भी उचित नहीं समझा। स्वयं महादेवीने भी एक दिन छुपकर उसे देख लिया। संदेहका कोई कारण नहीं रह गया! पापी यदि निर्लज्ज होकर प्रकटमें घूम रहा है तो क्या कुलीन और सज्जन भी अपनी मर्यादा त्यागकर उसका सामना करें? पापके स्थूल लक्षण जब प्रकट ही हैं तो उसमें जांचना क्या रह गया है? पतित तो समाजके निकट घृणा, उपेक्षा और दंडका ही पात्र है—उसके साथ सहानुभूति कैसी, संपर्क कैसा? यही रही है अबतक कुलीनोंकी परंपरा! अपनी मर्यादाकी लीक लांघकर दुराचारी के निकट जाकर उससे बात करना, यह सज्जन और कुलीनकी प्रतिष्ठा के योग्य बात नहीं है। पर क्या है इन कुलवानों और सज्जनोंके चरित्र और शीलकी कसौटी, जिसपर इनका न्यायाधिकरण अधिष्ठित है? पाखंड, स्वार्थ, शोषण—सबलके द्वारा अबलका निरंतर पीड़न और दलन। यही पार्थिव सामर्थ्य है उनका सबसे बड़ा चरित्र-बल—जिसकी ओट उनका बड़ासे बड़ा पाप स्वर्ण और रत्नोंकी शैय्यामें प्रमत्त और नग्न लोट रहा है—वह लोकमें ऐश्वर्य और पुण्य कहकर पूजा जा रहा है!

महादेवी केतुमतीने महाराजको बुलाकर सब वृत्तांत कहा। पछाड़ खाकर वे धरतीपर औंधी गिर पड़ीं और विलाप करने लगीं। महाराजकी मतिको काठ मार गया। उनकी आंखोंके आंसू रुक नहीं सके। एक अवश क्रोधसे उनके ओंठ फड़-फड़ाने लगे। पुत्र विमुख था, फिर भी उसके प्रति अविश्वास उन्हें नहीं था। इधर वह जबसे युद्धपर गया है, उनके मनमें एक नई आशा बलवती हो रही थी। शायद अब

उसका मन फिर जाये। पर भाग्यने यह दूसरा ही खेल रच दिया।.... विचित्र है कर्मोंकी लीला—! उनके सतोगुणी मनमें, अस्पष्ट, जड़ नियतिपर ही क्रोध है;—मनुष्य और उसकी दुर्बलतापर क्रोध उनके बसका नहीं है।

रानी रुदन करती-करती उच्च स्वरमें राजाकी ओर नागिन-सी फूत्कार कर बोली—

"देख ली अपनी गुणियल बहूको? बड़े गुण गा-गाकर लाये थे! ....कुलघातिनी....कुलटा, उसके दुष्कृत्योंका अंत नहीं है!"

राजा पत्थरकी तरह अचल हैं, पर भीतर उनके क्रंदन मचा है। कानोंमें उनके गूंज रही हैं, लोक-निंदाकी वेधक किलकारियां। सत्य उनकी कल्पनासे परे था। लाख कुछ हो, पर पुत्र क्या मां-बापसे छुपा है? और फिर पवनंजय जो कर बैठा है, वह क्या कभी टला है? फिर, बाईस वर्ष बीत गये, कभी कोई बात नहीं हुई। आज उसके पीठ फेरते ही यह सब कैसे घट गया? सत्यकी जांच करनेको क्या रह जाता है?

रानीने अनेक विलाप-प्रलापकर राजाकी स्वीकृति ले ली: कि पापिनको महलसे निकालकर राज्यकी सीमासे बाहर कर दें; उसे अपने बापके घर महेंद्रपुर भेज दिया जाय। उसके और उसके पितृ-कुलके लिये इससे अच्छा दंड और क्या होगा? उस पुत्र-घातिनी और कुल-घातिनीको एक क्षण भी अब इस राज-घरानेके आंगनमें नहीं रक्खा जा सकेगा। नहीं तो पापका यह बोझ वंशको रसातलमें ही पहुंचा देगा।

अगले दिन सवेरे ही रानीने रथ लेकर अक्रूर नामा सारथीको बुला भेजा। स्वयं रथपर चढ़कर फुंकारती हुई रत्न-कूट प्रासादपर जा पहुंची।

अंजना और वसंतमाला तब स्वाध्याय करती हुई, तत्व-चर्चामें तल्लीन थीं। भीषण आंधी-सी जब राज-माता एकाएक प्रकट हुई, तो अंजना और वसंत किंकर्तव्य-विमूढ़ देखती रह गई! रानी अंगारों-सी लाल हो रही हैं, और क्रोधसे थर-थरा रही हैं। पहले तो दोनों बहनें

भयभीत हो सकपका आई। फिर अंजना साहस कर पैर छूनेको आगे बढ़ी....

....कि बिजलीकी तरह एक प्रचंड पदाघात उसकी छातीमें आकर लगा। वह तीन हाथ दूर जा पड़ी।

"राक्षसी....कलंकिनी....ओ पापन, तूने दोनों कुलोंके भालपर कालिख पोत दी! तूने वंशकी जड़ोंमें कुठाराघात किया है.... और अब सती बनकर बैठी है शास्त्र पढ़ने!....किससे जाकर किया है यह दुष्कर्म....किससे जाकर फोड़ा है सिर....?"

कहते-कहते रानी फिर झपटी, और कसकर एक-दो लातें अंजनाके सिर और पीठमें मार दीं। वसंत बीचमें रोकनेको आई तो उसकी पसलीमें एक घूंसा देकर, बिना बोले ही उसे दूर ठेल दिया। वसंत उस मर्मातिक आघातसे घप्से धरतीपर बैठ गई।

"सच बता डायन, सच बता, छः महीने हुए वह युद्धपर गया है, और उसके पीठ फेरते ही तुझे सूझा यह खेल....? पर कबकी जान रही हूं तेरे कृत्य, तभी तो जाती थी मृग-वन, अरुणाचलकी पहाड़ी! गांव-बस्तियों और जंगलमें जो भटकती फिरती थी! भाग्य तो तभी फूट गया था, पर किससे कहती? पति तो धर्मात्मा और उदासीन ठहरे और पुत्र अपना ही नहीं रहा।"

अंजना औंधी पड़ी है, अकंप, मेरु-अचल!

"हतभागिनी पत्थर होकर पड़ी है--कुछ भी नहीं लगता है! धरती भी तो पापका भार ढो रही है--जो फटकर इस दुष्टाको नहीं निगल जाती!....हमारे ही भाग्यका तो दोष"

क्रोधसे पागल रानीकी छाती फूल रही है--नथुने फड़क रहे हैं। हांपते-हांपते ज़रा दम लेकर फिर बोली--

"अरी ओ भ्रष्टे, चल उठ यहांसे....जा....अपने बापके घर जा! एक क्षणको भी देर हुई तो अनर्थ घट जायगा। दुनिया

कुलके मुखपर लांछनका कीचड़ फेंकेगी। अरे नरककी वहिया खुल पड़ेगी....उठ शंखिनी....उठ, देर हो रही है....!"

कहते हुए राजमाताने पास जा अंजनाको झकझोरकर उठाना चाहा। अंजनाने उनके पैरोंमें गिरकर उनपर अपना सिर डाल देना चाहा। तब पैर खींचकर, एक और ठोकरसे उसे दूर ठेलती हुई महादेवी बोली—

"दूर हट....पापिन, दूर हट....अंग छू लेगी तो कोढ़ निकल आयेगी....!"

अंजनाके दोनों खाली हाथोंके बीच बिखरे केशोंमें ढका माथा पड़ा है। रुदन छाती तोड़कर फूट ही तो पड़ता था, पर आज उसकी छाती ही जैसे वज्र की हो गई है। पहले अंजनाके मनमें आया कि अपनी बात कहे। पर परिस्थितिका ऐसा अंध और विषम रूप देखकर, वह स्तब्ध रह गई। उसका समस्त मन-प्राण विद्रोहसे भर आया।....नहीं, वह नहीं देगी कैफ़ियत। सुनने और देखनेको जिनके पास आंखें और कान नहीं हैं, क्षण भरका भी धैर्य जिन्हें नहीं है, सिरसे पैर तक जो अपने ही मान-मदमें डूबे हैं, और सत्यकी जिनमें जिज्ञासा नहीं है, निष्ठा नहीं है, असत्यपर ही खड़ी हैं जिनकी सारी नीतियां और. मर्यादाएं।—वे करेंगे 'उनके' और मेरे बीचका न्याय-विचार ? वे किन कानों सुन सकेंगे उस रातकी कथा, जिनके हृदय और आत्मा ही मर चुके हैं। नहीं, उसे कुछ भी कहना नहीं है—चाहे उसे यहीं गाड़ दिया जाये। 'उनके और मेरे बीच नहीं है मृत्युकी बाधा !'—और फिर एक अपार बलसे वह भर उठी। ध्यानमें 'उन' चरणोंको ही पकड़ वह आत्मस्थ और चुप पड़ी रह गई।

वसंतने राज-माताके पैर पकड़ लिये। उन्हें शपथें दिला-दिलाकर उसने उस रातकी कथा कह सुनाई। प्रमाण-स्वरूप अंजनाके हाथमेंसे वलय और मुद्रिका निकालकर दिखाये। परिणाम और भी उल्टा

हुआ। पुत्र मांसे विमुख है, और इस कुलटाके पास वह आया होगा ? युद्धसे लौटकर, क्षत्रियकी मर्यादा लोपकर वह आया होगा इसके पास ? एक मर्मांतिक ईर्ष्या और क्रोधसे रानी फिर पागल हो गई। कषायमें प्रमत्त सुलगती आंखें, अंधी हो रही थीं। वलय और मुद्रिकाको पहचानकर भी अनदेखा कर दिया। प्रेम और सद्भाव ही जब हृदयसे निर्मूल हो चुका था, मिथ्यात्वका ही जब एक आवरण चारों ओर पड़ा था, मनुष्यको मनुष्यका ही आदर और विश्वास जब नहीं रहा, तो निर्जीव वलय और मुद्रिकाकी क्या सामर्थ्य कि वे सत्यको प्रमाणित करते। राज-माताने व्यंगका अट्टहास करते हुए वसंतपर प्रहार किया—

"छिः कुटिनी, तू ही माया न रचेगी तो और कौन रचेगा ? ऐसे दुष्कृत्य कर, अब भी झूठ बोलते और शील बखानते, जबान नहीं कट पड़ती ? बड़ी आई है सतवंती, सती बहनके गुण गाने ! . . . दुःशीलाओं, जाने कितने पापका विष तुमने इस महलमें अबतक फैलाया होगा। पूर्वजोंकी पुण्यभूमिमें नरक जगाया है तुम दोनोंने मिलकर ! जाओ, इसी क्षण जाओ, निकलो मेरे महलसे ! हटो आंखोंके सामनेसे, अब तुम्हें देख नहीं सकूंगी. . . ."

कहकर रानीने द्वारकी ओर देखा और साथ आई हुई विश्वस्त अनुचरियोंको पुकारा। उन्हें संक्षिप्त आज्ञा दी—

"इन दोनोंको ले जाकर नीचे खड़े रथमें बिठाओ !"

फिर झपटती हुई राजमाता बाहर निकलीं। सारथीको बुलाकर आज्ञा दी—

"सुनो अक्रूर, महेंद्रपुरकी सीमापर इन दोनोंको छोड़कर शीघ्र आओ, और मुझे आकर सूचित करो !"

इधर दासियां उठायें, उसके पहले ही वसंतने उठाकर अंजनाको अपनी गोदपर ले लिया। प्रगाढ़ मुंदी आंखोंके आंसुओंसे सारा मुख

धुल गया है। पर अब सूख गये है वे आंसू। देह जैसे विदेह हो गई है। झकझोरकर एक-दो बार वसंतने कहा---

"अंजन---ओ अंजन !"

एक विस्मृत प्रसन्नताकी अर्ध-स्मितमें अंजनाके ओंठ खुले। चेहरेकी सारी वेदनामें एक तेज झल-मला उठा। केवल इतना ही निकला उन ओठोंसे---

"उनकी आज्ञा मिल गई है, जीजी ! चलो वे बुला रहे हैं, देर मत करो !"

वसंत अपने हाथोंके सहारे अंजनाको लेकर सीढ़ियां उतर रही थी। तब फिर एक बार महादेवी गरज उठीं---

"जा पापिन, अपने बापके घर जाकर अपने कियेका प्रायश्चित कर। तुझे और तेरे पितृ-कुलको यही दंड काफ़ी है !"

....देखते-देखते रथ, अंतःपुरके गुप्त मार्गसे, राज-प्रांगणके बाहर हो गया।

[२३]

हवासे बातें करता हुआ रथ महेंद्रपुरके मार्गपर अग्रसर था। प्रभात-पवनके शीतल स्पर्शसे सचेत होकर अंजनाने वसंतकी गोदमें आंखें खोलीं। पथके दोनों ओर स्निग्ध, श्यामल, घटादार वृक्ष सवेरेकी कोमल धूपमें दमक रहे हैं। कहीं दूरकी अमराइयोंसे रह-रहकर कोयलकी टेर सुनाई पड़ती है। आस-पास खेतोंमें सरसों फूली है। तिस्सीके नीले फूलोंमें शोभाकी लहरें पड़ रही हैं। दूर-दूर खेतोंके किनारे इक्षुके कुंज हैं। कहीं घने पेड़ोंके झुरमुट हैं। उनके अंतरालसे गांव झांक रहे हैं। आकाशके छोरपर कहीं श्वेत बादलोंके शिशु किलक रहे हैं। अंजनाकी स्थिर आंखें उसी ओर लगी हैं।....भीतरके मुकुलित सौंदर्यका आभास-सा पाकर वह सिहर आई। अधरोंपर और कपोल-पालीमें स्मितकी भंवर-सी

पड़ गई। वेदना आंखोंके किनारे अंजन-सी अंजी रह गई है, और पुतलियां भावीके एक उज्ज्वल प्रकाशसे भरकर दूरतक देख उठीं—जैसे क्षितिजके पार देख रही हों..

अपने गालपर फिरती हुई वसंतकी उंगलियोंको हथेलीसे दबाती हुई अंजना बोली—

"क्या सोच रही हो, जीजी ?"

"सो क्या पूछनेकी बात है, बहन ?"

"सो तो समझती हूं, जीजी, मुझ अभागिनीके कारण तुमको बार-बार अपमान और लांछना झेलनी पड़ रही हैं। और आज तो पराकाष्ठा ही हो गई। इसीकी ग्लानि मनमें सबसे बड़ी है। मेरी राहमें यदि विधिने कांटे ही बिछाये हैं, तो तुम्हें उनपर क्यों घसीटूं। नहीं बहन, यह सब अब मैं और नहीं चलने दूंगी। मुझे मेरी राहपर अकेली ही जाने दो। देखती हूं कि इस राहका अंत अभी निकट नहीं है। अब तक जिस तरह चली हूं और आज भी जो हुआ है, उसे देखते अब मेरी यात्रा सुगम नहीं है।...तुम्हें लौट ही जाना चाहिये, जीजी ! तुम अपने घर जाओ, तुम्हें मेरी शपथ है ! जाकर अपने बच्चों और पतिकी सुध लो। विश्वास रखना, तुम्हें अन्यथा नहीं समझूंगी। सुख-दुख और जन्म-मरणमें तुम्हारा आशीर्वाद सदा मेरे साथ रहेगा !"

"पत्थरकी नहीं हूं अंजन, तेरी वेदनाको समझ रही हूं। जानती हूं कि तेरी होड़ मैं नहीं कर सकूंगी। तेरी राहकी संगिनी हो सकूं, ऐसी सामर्थ्य मेरी नहीं है। पर मेरी ही तो मति गुम हो गई थी, और उसीका परिणाम है कि यह संकटकी घड़ी आई है। क्यों मैंने तुझे स्वच्छंद होने दिया, क्यों जाने दिया मृगवनमें; क्यों उस दिन कुमारको रोका नहीं—कि वीरको यों गुप्त राह आना और चले जाना शोभा नहीं देता। स्वार्थी पुरुषने सदा यही तो किया है ! और स्वार्थ पूरा होनेके बाद कब उसने पीछे फिरकर देखा है ? पर मोहके वश ये सारी भूलें

मुझीसे तो हुई हैं। तेरे साथ रहकर इनका प्रायश्चित्त किये बिना, किस जन्ममें इनसे छूट सकूंगी ?"

"तुम्हें छोटा नहीं आंक रही हूं, जीजी ! दूर रहकर भी क्या क्षण भर भी जीवनके पथमें तुम मुझसे विलग रही हो ? मेरी कांटोंकी राहमें, अपना हृदय बिछाकर तुमने सदा उसे सुखद बनाया।—तुम्हींने दिखाया था उन्हें, मानसरोवरकी लहरोंपर, पहली बार ! रूठकर वे गये, तो तुम्हीं उस रात उन्हें लौटा लाईं, और जगाकर मुझे सौंप दिया। —और आज इस क्षण भी तुम्हारे ही सहारे यहां तक चली आई हूं। अपने पथपर निःशंक तुमने मुझे जाने दिया। इसलिए कि तुम्हारे मनमें उसके लिए आदर था।—और माना कि वे गुप्त रास्ते आये, वीरकी तरह वे नहीं आये।..पर जो वेदना वे लेकर आये थे, वह क्या तुमसे छिपी है, जीजी ? वे तो मुझे कृतार्थ करने आये थे ! उस क्षण उन्हें मेरी जरूरत थी। और मैं थी ही किस दिनके लिए ? तुम्हीं कहो, क्या उस क्षण उन्हें ठुकरा देती ?—तुमसे जो हुआ है, वह कल्याण ही हुआ है, जीजी। पर देखती हूं कि तुमसे लेती ही आई हूं, देनेको मुझ कंगालिनीके पास क्या है ?...और आज यदि दिया है तो कलंक ! यही सब अब नहीं सहा जाता है, जीजी। इसीसे कहती हूं कि अब यह भार मुझपर मत डालो—मैं तुच्छ दबी जा रही हूं इसके नीचे—।"

"तेरी बात कुछ समझ नहीं पा रही हूं, अंजन ! क्या है तेरा निर्णय, ज़रा सुनूं !"

अंजनाकी वे पारदर्शिनी आंखें, फिर किसी दूर अगम्यमें जा अटकी थीं। कुछ देर मौन रहा, फिर एक दबी निःश्वास छोड़कर वह धीरे-से बोली—

"..मेरा क्या निर्णय है, जीजी, पथकी रेखा तो वे आप ही खींच गये हैं। देख नहीं पाती हूं, फिर भी अनुभव करती हूं कि उसीपर चल रही हूं। ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती हूं, राह खुलती जाती है।—

माना कि सामने सांप बिछे हैं और भालू झपट रहे हैं, खंदक और खाइयां भी हैं——! पर हँस-हँसकर वे पास बुला रहे हैं, तो रुक कैसे सकूंगी ? उनके इंगितपर, नरककी आगमें भी चलना पड़ेगा, तो हँसती हुई चली चलूंगी। क्योंकि जानती हूं कि वे गिरने नहीं देंगे——हाथ जो झाले हुए हैं।——जाने ही वाली थी, कि उस रात वे आकर खड़े हो गये और राह रोक ली ! क्या वह सब झूठ था, जीजी, क्या वह मात्र अभिनय था ? अपनाया तो है ही, पर और भी परीक्षा लिया चाहते हैं, तो क्या मुकर जाऊंगी..?"

बसंतने देखा कि कैसी अबोध है यह लड़की ! बाहरकी यह ठोस दुनियां इसके संमुख है ही नहीं। भीतरका जो रास्ता है, वही इसके लिए एकमेव सत्य है। परिस्थिति इसके लिए सहज उपेक्षणीय है। निःशंक उसे तोड़ती हुई यह चली जा रही है——निर्द्वंद्व और अकेली।

"अपने बाहरकी दुनियाके प्रति, अपने सभी इष्ट-जनोंके प्रति, इतनी निर्मम हो जाओगी, बहन ? अपने आत्मीयोंपर, अपने जन्म देनेवाले जनक और जनेतापर भी, क्या तुम्हारा विश्वास और प्रेम नहीं रहा ? अपनी सासकी दुष्टताके लिये, अपने सभी स्नेहियोंको ऐसा कठोर दंड मत दो। सारी दुनियांको इतनी निष्ठुर मत समझो, अंजना। अपनी जन्मभूमि महेंद्रपुरको छोड़कर तुम और मैं कहीं जा नहीं सकेंगे।"

"बाहरकी दुनियांकी अवज्ञा करूं, ऐसा भाव रंच मात्र भी नहीं है मनमें। और कौनसी शक्ति है, जो ऐसा कर सकी है ? मिथ्या है वह अभिमान। लोक है, इसीसे तो उसका ज्ञाता-द्रष्टा ईश्वर भी है। लोकसे क्या वह अलग है ? फिर लोकसे द्रोह करके, उससे विमुख होकर, मेरे होनेका क्या मूल्य है ? और तब क्या मैं रह भी सकूंगी ? लोक और माता-पिता, सबकी कृतज्ञ हूं कि उन्हींके कारण तो मैं हूं। और सास-ससुरका और किसीका भी दोष इसमें नहीं है। दोष तो अपने ही पूर्व संचित कर्मोंका है, और उसका फल अकेले ही भोगना होगा। अपने किये

पापोंका फल बांटती फिरूं, यह मुझसे नहीं हो सकेगा। पुण्य फलता तो बांटकर ही कृतार्थ हो लेती। अपने कियेका दंड उन्हें नहीं देना चाहती, इसीसे तो वहां जानेकी इच्छा नहीं है। उपेक्षाका भाव किसीके भी प्रति नहीं है। किसीके भी प्रति कोई आक्रोश या आरोप भी मनमें जरा नहीं है। पर सबको देनेको मेरे पास दुख ही दुख है, और वैसा करनेका अधिकार मुझे नहीं है। जन्म-भूमिके प्रति, आत्मीयोंके प्रति, और लोकके प्रति शत-शत बार मेरी दूरसे ही वंदना है! —हो सके तो उन सबसे कहना कि अंजनाको वे अन्यथा न समझें।"

"तुम भूलती हो अंजन! तुम मनुष्य और उसके प्रेम में ही अविश्वास कर रही हो। यदि दुखमें ही मनुष्य, मनुष्यका नहीं है, तो फिर आत्मा-आत्माके बीचका अटूट संबंध ही मिथ्या है। संकटकी इस घड़ीमें ही तो उस प्रेमकी परीक्षा है।"

"प्रेम कहां नहीं है, जीजी? उसपर अविश्वास किये कैसे बनेगा? प्रेम है कि हम सब जी रहे हैं। सत्ताका विस्तार ही प्रेमके कारण है। पर मनुष्य मात्रकी अपनी विवशताएं भी तो हैं। वे भी तो अनेक मिथ्यात्वों और कर्म-परंपराओंसे बँधे हैं। इसीसे भीतर वह रही प्रेमकी सर्व-व्यापिनी धारा व्यक्ति-व्यक्तिके बीच रह-रहकर टूट जाती है; कहीं कि लोप हो जाती है। तब जागते हैं, पारस्परिक संघर्ष, कषाय और विग्रह। उस धाराको जोड़ सकनेकी शक्ति जिस दिन पा जाऊंगी, उसी दिन उनके बीच आऊंगी! अपनी ही अपूर्णता और विषमता लेकर आऊंगी, तो उनके जीवन-व्यवहारको शायद और भी जटिल बना दूंगी....।"

"ठीक-ठीक तेरा अभिप्राय नहीं समझी हूं, अंजन? कैसे तू भागनेकी तर्क-युक्ति सोच रही है। समझती हूं कि तुझे पकड़कर रखनेकी शक्ति मुझमें नहीं है। फिर भी स्पष्ट जानना चाहूंगी, तू क्यों अपने स्वजनोंके पास नहीं जाया चाहती? वे तो तुझे प्राणाधिक प्यार करते हैं। कितनी ही बार वे तुझे लेने आये, तेरे पैरतक पकड़ लिये, पर तू न गई! आज

भी इस आपद्कालमें वे तो तुझपर विश्वास ही करेंगे। उनकी गोद तेरे लिये सदा खुली है। क्या तू सोचती है कि वे भी तुझपर संदेह करेंगे?"

अंजना कुछ देर चुप रही, फिर बाहरकी ओर देखती हुई ईषत् मुस्कराकर बोली—

"....वैसा भी हो जाये तो कोई बड़ी बात नहीं है, जीजी! विश्वास न भी कर सकें तो क्या इसमें उनका कोई दोष है?—कर्मावरण तो सब जगह एकसे ही पड़े हैं, न? उनके और मेरे बीच भी तो वे आड़े आ ही सकते हैं। इसके उदाहरण लोकमें कम नहीं हैं। उन्हें ही कौनसा प्रत्यक्ष प्रमाण देनेको है मेरे पास?—सिवा इसके जो छिपाये छिप नहीं सकता! और लोक-दृष्टिमें यही तो है पापका साक्षात् रूप! उन स्वजनोंकी भी अपनी परिस्थिति है। वे भी तो एक लोक-समाजके अंग हैं। उनकी भी तो अपनी कुल-प्रतिष्ठा, लोक-मर्यादा और सदाचारके नीति-नियम हैं। अज्ञात कालसे चली आई उन्हीं परंपराओंसे वे भी तो बँधे हैं। उन संस्कारोंको तोड़ देना, उनसे ऊपर उठकर देख सकना, उनके लिये भी सहज संभव नहीं है। पहले मैं परि-त्यक्ता थी, फिर मुझसे मर्यादा टूटी; और अब तो गुप्त व्यभिचारके कलंक-का टीका भी मेरे भालपर लगा है! इस सबको लेकर वहां जाऊंगी, तो वहां भी उन सबके विक्षोभ और क्लेशका कारण ही बनूंगी। वहांके लोक-समाजकी मर्यादाको भी धक्का लगेगा। उसे तोड़कर वे मुझे अपना-येंगे, तो परिणामहीन हिंसा और कषाय लोकमें फैलेगा। वह इष्ट नहीं है, जीजी! कल्याण उसमें न उनका है न मेरा, और सत्यकी राह ऐसे नहीं खुलेगी। उल्टे संघर्ष ही बढ़ेगा।"

"लोक-समाज यदि अज्ञानके अंधेरेमें पड़ा है, तो उसे यों छोड़कर चले जानेमें, निरा स्वार्थ और भीरुता ही नहीं है? अपना ही बचाव यदि यों सब करने लगेंगे, तो लोकाचारका मांगलिक राज-पथ कौन प्रशस्त करेगा?"

"पर लोकको पथ दिखानेकी स्पर्धा करूं, ऐसी सामर्थ्य मेरी नहीं है, जीजी ! आप अपने पथपर चली चलूं, अपने सत्यपर अटल और अच्युत रह सकूं, वही मेरे लिये बहुत होगा। और तब किसी दिन यदि उस सत्यका संपूर्ण बल पा गई, कुछ लोकको अर्पित करने योग्य जुटा सकी, तो उस दिन वापस आऊंगी, और लोकके प्रति अपना देय देकर उसका ऋण चुकाऊंगी। मेरे सत्यको सिद्ध होनेमें अभी देर है, जीजी। जब वह प्रकट होगा तो अपना काम आप करेगा, फिर चाहे कितनी ही दूर और कहीं भी क्यों न रहूं। तब किसीके भी मनमें मेरे लिये दुराग्रह और कषाय नहीं जाग सकेगा; प्रेम ही जागेगा। तब मेरी सामर्थ्य होगी, और मुझे अधिकार भी होगा, कि मैं सबके बीच आकर सबकी हो सकूं और सबको अपना सकूं। उसी दिन आऊंगी, जीजी।—आज तो मैं सबकी अपराधिनी ही हूं, और सबके दुखका कारण ही हो सकूंगी। —देनेको है मेरे पास केवल कलंककी कथा...!"

"तुझे पाकर यह जीवन धन्य हुआ है, अंजनी ! तुझे छोड़कर मैं कहीं जा नहीं सकूंगी, यह तू निश्चय जानना।—पर अपनी जीजीकी एक बात तुझे माननी ही होगी। तू नगरकी सीमापर ही रहना और मैं एक बार महाराजके पास जाऊंगी। सत्य उनपर प्रकट करूंगी, देखूं वे क्या कहते हैं। उसके बाद तेरा ही निर्णय मुझे मान्य होगा। तुझे छोड़कर मैं इस लोकालयमें रह सकूं, यह इस जन्ममें और जीतेजी मुझसे नहीं हो सकेगा। मेरे गलेपर हाथ रखकर कह दे, तू मेरी यह अन्तिम बिनती अस्वीकार नहीं करेगी"

कहते-कहते वसंतने अंजनाका हाथ लेकर अपने गलेपर रख लिया। अंजनाकी आंखोंमें आंसू छल-छला आये। उसने लेटे-लेटे ही एक बार आंखें उठाकर वसंतके मुखकी ओर देखा और बोली—

"तुम्हें अपने ही लिये नहीं भेज रही हूं, जीजी, पर तुम्हारे पतिदेवने और उन बालकोंने क्या अपराध किया है, जो उन सबसे बिछुड़ाकर

तुम्हें छीने जा रही हूं। पूर्व भवमें जाने किसको बिछोह दिया था, सो तो इस भवमें झेल रही हूं, और अब तुम्हें बिछुड़ाकर कहां छूटूंगी, यही देख लेना, जीजी !....और मैं कुछ न कहूंगी...."

अंजनाकी आंखोंमें आंसू उफनते ही आये। वसंतने अपने आंचलसे उन्हें पोंछते हुए कहा—

"तेरे दुखसे अपने दुखको अलग नहीं देख पा रही हूं, अंजन ! विवश हो गई हूं। जो कर रही हूं, उसमें दायित्व मेरा ही है। तेरा संकल्प वह नहीं है, जो कर्म तुझे बांधेगा। घर जाकर सब ठीक कर आऊंगी। निर्णय हो चुका है, अंजन, दुविधा अब नहीं है।"

एक दूसरेके हाथ अपनेको सौंपकर दोनों बहनें मानो निश्चित हो गई। ऐसा अद्वैत भीतर सध गया है, कि जैसे वचनका विकल्प अब दोनोंके बीच संभव ही नहीं है। चुप और बंद होकर अपने आपमें वे एकीभूत हो रही हैं। और ऐसे ही जानें कब दोनोंकी आंख लग गई। योजनोंकी दूरी लांघता हुआ रथ चला जा रहा था, पर वे दोनों लड़कियां उस संघर्ष और संकटकी अनिश्चित घड़ीमें भी बिलकुल अविचल भावसे निद्रामें मग्न थीं। ऐसा लगता था जैसे कुछ हुआ ही नहीं है।

ढलते हुए अपराह्नमें दोनोंकी नींद जाने कब खुल गई। दूरपर दंति-पर्वतकी नील शृंग-रेखा दीखने लगी थी। देखा और अंजनाका हृदय एक मार्मिक वेदनासे हिल उठा। रोएं-रोएंमें सौ-सौ जन्म मानों एक साथ जाग उठे हों। दंति-पर्वतके शिखरपर बैठकर वीणा बजानेवाली वह मुक्त-कुंतला, निर्दोष बालिका फिर उसकी आंखोंमें सजल हो उठी। आह, कितनी दूर, किस कालातीत लोकमें चली गई है वह ! क्या वह उसे कभी न पा सकेगी ? और उसे पानेके लिये एकबारगी ही अंजनाका सारा अंतःकरण विकल और पागल हो उठा। खूब प्रगाढ़तासे आंखें मूंदकर व्यथासे भर आये अपने अंतरको वह संयत करने लगी।

"अंजन....!"

आंखें खोलकर अंजनाने वसंतकी ओर देखा। दोनोंने एक-दूसरेको देखकर एक वेदना भरी मुस्कराहट बदल ली। सांझके सूर्यकी म्लान किरणोंमें दूरपर, महेंद्रपुरकी उन्नत प्रासाद-परंपराएं और भवन दीख रहे हैं। देव-मंदिरोंके भव्य स्वर्ण गुंबज, देवत्वकी महानताको घोषित कर रहे हैं। शिखरोंपर उड़ती हुई ध्वजाएं मंगलका संदेश दे रही हैं। आस-पासके उपवनों और उद्यानोंमें ताल झांक रहे हैं। खेतोंके किनारे ग्राम-रमणियां जलकी कलसियां भरकर जाती हुई दीख पड़ती हैं। कोई-कोई विरल पुर-जन या पुर-नारी भी इधर आते दीख पड़ते हैं।

अंजनाकी आंखोंके आंसू न थम सके। बाईस वर्ष बाद आज फिर आई है वह अपनी जन्म-भूमिमें---पिताके द्वारपर शरणकी भिखारिणी बनकर---कलंकिनी होकर! क्या वे देंगे प्रश्रय? और देगी प्रश्रय यह जन्म-भूमि? पर, प्रश्नको जैसे उसने दबा देना चाहा, और मन ही मन बार-बार केवल प्रणाम ही करती रही।

महेंद्रपुरके सीमास्तंभके पास आकर रथ रुका। राहमें उतर पड़नेकी बात अंजनाकी कल्पनामें भी नहीं आ सकी थी। क्योंकि सारथी-का कर्तव्य वह जानती थी। और सास-माताके दिये दंडको जहांतक निभा सके निभा देनेसे भी उसे इनकार नहीं था। अंजना और वसंत रथसे नीचे उतरीं।--धरतीपर पैर जैसे अंजनाके ठहर नहीं रहे हैं। थर-थर उसका सारा शरीर कांप रहा है, जैसे अभी गिर जायगी। सड़कके एक ओरके वृक्ष-तले वसंतमाला उसे सम्हालकर ले गई। सारथी रथसे उतरकर विदा मांगने आया।--मूक पशुवत् वह अंजनाकी ओर देख रहा था। आंखोंमें उसके आंसुओंकी झड़ी लगी थी। दूर ही भूमिपर पड़कर उसने बार-बार प्रणाम किये। अपने कठोर कर्तव्य-पालनके लिये क्षमा मांगनेको शब्द उसके पास नहीं थे। घोर ग्लानि, अनुताप, और करुणासे ओंठ उसके खुले रह गये थे--और फटी आंखोंके आंसुओंमें उसकी मूक बेबसी बिलख रही थी।

अंजना बड़ी कठिनाईसे अपनेको ही सम्हाल पा रही थी। पर सारथीकी उस सहज मानवीय संवेदनाको देख वह अपना दुख भूल गई। अक्रूरके भूमिपर पड़े सिरपर हाथ फेरकर बोली--

"भैय्या अक्रूर, तुम्हारा कोई दोष नहीं है।---जाओ अपने कर्तव्यका पालन करो! प्रभु तुम्हारे साथ हों--"

तीरके वेगसे रथ आदित्यपुर जानेवाले मार्गपर लौट रहा था।

[२४]

सामने ही पेड़ोंकी वीथिमें होकर एक वन-पथ गया है। उससे कुछ ही दूर जाकर नील-पर्णा नदी मिलती है। उस नदीके एकांत और शांत तटपर एक तपोवन है। अभय, निरापद और पावन है वह भूमि। निर्ग्रंथ, वीतराग तपस्वियोंका वह विहारस्थल है। वात्सल्यका ही वहां साम्राज्य है। जीवमात्रको वहां प्रश्रय है, और सकल चराचर वहां निर्भय हैं। किसीसे कोई पूछ-ताछ या रोक-टोक नहीं है। विधि-निषेध वहां नहीं हैं। प्रकृत जीवनकी ओर जानेकी साधना ही वहां मौन-मौन अनाहत चल रही है। इसीसे वहां जीव मात्रका अपना शासन है। किसीका गुण-दोष या छिद्र देखनेका वहां किसीको अवकाश नहीं है। केवल निर्वसन श्रमण, या भिक्षुणियां अतिथियोंकी तरह वहां आते-जाते हैं। कभी-कभी कोई विरल जिज्ञासु जन भी इधर आ निकलते हैं। मनुष्य, मनुष्यका वहां सहज मिलन है, बीचमें संदेह नहीं है, प्रश्न नहीं है। लोक-जनोंका उधर विशेष आवागमन नहीं है।

वसंत अंजनाको उसी तपोवनके एक भिक्षुणी-आवासमें ले गई। आवास सूना पड़ा था, आश्रयार्थिनी वहां कोई न थी। बालकों-से नग्न साधु-जन नदीके उस पार विचरते दीख पड़े। कोई योगी किसी शिल-तल पर समाधिमें मग्न है। तो कोई मुनि किसी दूरके टीलेपर अचल खड़े

कायोत्सर्गमें तल्लीन हैं। डूबते सूर्यकी अंतिम आभामें उनके मुखकी तपःपूत श्री और भी दिव्य हो उठी है। देखकर अंजना भक्ति-भावसे गद्गद् हो उठी है। रोयां-रोयां एक अकारण सुखके आंसुओंसे भर आया। युग-युगकी बिछुड़नके बाद जैसे किसी परम आत्मीयका मिलन हुआ हो। नदी-तटपर जहां खड़ी थी, वहीं आंचल पसारकर अंजना साष्टांग प्रणिपातमें नत हो गई। एक गहरी आत्म-निष्ठासे वह भर उठी है—कि यहां है वह प्रश्रय जिसे कोई नहीं छीन सकेगा।

आवासके दालानमें खूंटीपर एक मोर-पिच्छिका पड़ी है। वही लेकर वसंतने थोड़ी-सी जगह बुहार ली। ताकपर पड़े दो-एक डाभके आसन जोड़कर बिछा दिये। उसपर अंजनाको सुखासीन कर दिया। वहीं आलेमें पड़ा एक कमंडलु उठाकर वसंत नदी-तटपर चली गई। कमंडलुमें पड़े छन्नेसे छानकर जल भर लाई। उसने और अंजनाने मुंह-हाथ धोकर जल पिया। भोजनका प्रश्न इस समय उनके निकट बहुत गौण हो गया है—सो उस ओर ध्यान ही नहीं गया है। अंजना जब स्वस्थ होकर बैठी थी, तभी वसंतने कहा—

"जाती हूं, बहन, छोड़कर जाते जी टूट रहा है। पर और उपाय ही क्या है। लेकिन यहां कैसा भय? केवल मनका मोह ही तो है न। ....प्रभुसे बिनती करना अंजनी, कि मनुष्यको वह विवेक दे; और मैं सफल होकर उसका प्रसाद लेकर लौटूं।"

"प्रभु तुम्हारे साथ हैं, बहन—पर वे कहां नहीं हैं? घट-घटमें वे बसे हैं। पर हमीं उन्हें पहचाननेमें चूक जाएँ तो क्या उनपर अविश्वास कर सकेंगे? मनमें फिकर मत रखना, मैं यहां बहुत सुखी हूं।... जाओ बहन....।"

और जैसे कुछ कहते-कहते अंजना रुक गई। वाष्पसे कुछ धुंधली हो आई, निगूढ़ आंखोंसे वह वसंतकी ओर देखती रह गई....

"चुप क्यों रह गई अंजन....?"

नदीकी धाराकी ओर देखती हुई अंजना धीरेसे बोली—

"....कुछ नहीं, जीजी, यही कह रही थी कि स्नेहके वश होकर अधीर मत हो जाना। तुममें होकर अंजना ही याचनाका आंचल पसारकर, पिताके संमुख जा रही है—इसे भूल मत जाना, बहन! प्रहार आयें, तो उन्हें भी अपनी भिक्षा ही समझकर इस आंचलमें समेट लाना। उनकी अवज्ञा मत होने देना। मां-बापकी दी हुई वह मधुकरी जीवनके पथमें पाथेय ही बनेगी! रोष करने योग्य वह नहीं है...."

कहते-कहते वह एकाएक चुप रह गई। फिर जैसे एक आंसूका घूंट-सा उतार गई और बोली—

"....क्या इतना ही कहना काफ़ी न होगा, जीजी—कि अंजना कलंकिनी होकर श्वसुर-गृहसे निकाल दी गई है—क्या पिताके चरणोंमें उसे आश्रय है? अपना सतीत्व सिद्ध करनेके लिये उस रातकी कथा कहती फिरूं, यह अब नहीं रुचता, जीजी! लगता है कि द्वार-द्वारपर जाकर उनका अपमान कराती फिर रही हूं! उनके लिये मुझे किसकी साक्षी खोजनी होगी? क्या ऐसे असमर्थ हैं वे, कि उन्हें 'मेरे' होनेके लिये प्रमाणोंसे सिद्ध होना पड़ेगा? वे तो आप ही अपनेको एक दिन प्रकट करेंगे।....चाहो तो भले ही इतना कह देना कि—मैं उन्हींकी हूं—और उनके और मेरे बीचकी बात जगत जो जानता है— वही अंतिम सच नहीं है....!"

कुछ देर चुप रहकर फिर अंजना बोली—

"हां, तो जीजी, यही कह रही थी कि प्रश्रय और दयाकी भीख तो कलंकिनी अंजनाको चाहिये। सतीको उसकी ज़रूरत नहीं है। रक्षाकी ज़रूरत तो पापिनीको ही है। यदि उसे शरण नहीं मिली, तो फिर उसे वंचितकर, सती बनकर भीख मांगनेकी विडंबना मुझसे नहीं होगी।—इतना ही ध्यानमें रखना, जीजी, और कुछ न कहूंगी....।"

एक-टक वसंत अंजनाके उस तेजो-दीप्त चेहरेको देखती रह गई। फिर धीरेसे बोली—

"भगवान् देख रहे हैं, तेरी बहन हो सकने योग्य होनेका भरसक प्रयास करूंगी। आगे तो मेरी ही मति काम आयेगी। जल्दी ही लौटूंगी बहन।"

कहकर वसंतमाला धीरे-धीरे चली गई।

सामने नदी किनारेके झाडओंमें अवसन्न संध्याकी छायाएं घनी हो रही थीं। कहीं-कहीं नदीकी सतहपर, मलिन स्वर्णाभामें वैभव बुझ रहा था। मानो पार्थिव ऐश्वर्य अपने गलित मान और नश्वरताका सकरुण आत्म-निवेदन कर रहा हो। कोई-कोई जल-पंछी विचित्र स्वर करते हुए जलपर छाया डालते निकल जाते। नहीं छोड़ा है कहीं उन्होंने अपना पद-चिह्न।

नदीके पार, संध्याके शांत आलोकमें, स्थान-स्थानपर मुनि-जन कायोत्सर्गमें लीन हो गये हैं। फिर एक बार झुककर अंजनाने उन्हें प्रणिपात किया और आप भी अपने आसनपर ही सामायिकमें मग्न हो गई।

....आवेदनके वेदनसे सारा प्राण गंभीर हो गया। प्रतिक्रमण आरंभ हुआ। आत्मालोचनकी विनम्र वाणी भीतर नीरव गूंज उठी—

"ज्ञानमें और अज्ञानमें होनेवाले मेरे पापोंका अंत नहीं है। इसीसे तो भव-सागरमें गोते खा रही हूं। कितने ही जन्म यों निर्लक्ष्य भटकते बीत गये हैं। बार-बार मैं प्रमाद और मोहके आँचलमें अचेत हो जाती हूं—संज्ञा खो बैठती हूं। अपने सुख-दुख, जन्म-मरणकी स्वामिनी मैं आप हूं?—पर मैं कहां हूं, तुम ही तो हो! तुम्हें नहीं देख पा रही हूं, नहीं रख पा रही हूं अपने पास। इसीसे तो बार-बार ये सारी भूलें हो जाती हैं।

"....यही बल दो प्रभो, कि अपने दुःखोंसे अधीर होकर उनका दायित्व औरोंपर न डालूं। अपना ही कर्म-फल जान अपने ही

एकांतमें धैर्य-पूर्वक उसे सह लूं। और सर्वके कल्याण और मंगलकी भावना ही निरंतर भा सकूं। वे जो इस दुखके निमित्त बने हैं, चाहे वे सास-माता हों, श्वसुर-पिता हों या और कोई हों, वे भी तो जड़ कर्मके ही वश ऐसा कर रहे हैं। वे उसके वाहक निमित्त मात्र हैं। क्या वे चाहकर ऐसा कर सकते हैं? और मुझे दुख देकर वे आप भी क्या कम दुखी होंगे? क्या आप ही कोई अपने जाने, अपनेको दुख देना चाहेगा? पर वे अज्ञान और लाचारीमें ही यह सब कर रहे हैं। संसार-चक्र चलानेवाली दुर्धर्ष कर्म-शक्ति उनसे ऐसा करा रही है। इसमें उनका कोई दोष नहीं है। उनके प्रति कोई अभियोग या अनुयोग मनमें न हो, क्रोध-रोष न हो, ग्लानि और घृणा भी न हो। कर सकूं तो उन्हें प्रेम ही करूं, ऐसा बल दो नाथ!—अंजनीको छोड़ गये हो तो जहां हो, वहींसे उसकी बात सोलहों आने रख लेना, इतनी ही बिनती है। हर्ष-शोक, सुख-दुख, लाभ-अलाभ, मणि-तृण, महल-स्मशान, सबमें सम-भाव धारण कर सकूं। भूत मात्र सब अपने बांधव हैं—चारों ओर सब अपने ही तो हैं! अरे क्या है पराया? परायापन इसलिये है कि अपनानेकी शक्ति जो अपने ही में नहीं है....।"

अंजनाने जब आंखें खोलीं तो रात पड़ चुकी थी। अंधेरा चारों ओर घना हो गया था। नदीका मंद कल-कल और शून्यमें झिल्लियोंकी झनकार ही सुनाई पड़ती थी। पेड़ अनेक भयानक आकृतियोंमें खड़े भविष्यकी दुर्दृश्य छाया-लिपि लिख रहे थे।

उधर जब वसंत महेंद्रपुरमें पहुंची तो सायाह्न निबिड़ हो रहा था। राज-प्रांगणमें पिछले गुप्त रास्तेसे प्रवेश पानेमें उसे बड़ी कठिनाई पड़ी। उसे मालूम हुआ कि महाराज इस समय अपने निज महलके विहार-काननमें वायु-सेवनको निकले हैं। समस्या और भी कठिन हो गई। उसने पाया कि यहां अब वह निरी परदेशिनी ही हो गई है। इधर कुछ ही वर्षोंमें यहां बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया है। सारा राज-परिकर ही अपरिचित-

सा लगता है। बड़ी युक्तियों और कठिनाइयोंसे उसने अनेक राज-द्वार पार किये। तब मिल गया उसे एक बहुत पुरातन, परिचित और विश्वासु भृत्य। किसी तरह विहार-काननमें पहुंच ही तो गई। मर्मरके पच्चीकारीवाले हंस-नौकाकार सिंहासनपर महाराज महेंद्र विराजे हैं। एक ओरकी ऊंची चौकीपर उनके प्रियतम सामंत महोत्साह बैठे हैं। दूसरी ओर एक छोटे सिंहासनपर ज्येष्ठ राज-पुत्र प्रसन्नकीर्ति बैठे हैं। कांपते पैरों साहसपूर्वक वसंत महाराजके संमुख जा उपस्थित हुई। देखकर तीनों जन आश्चर्यसे स्तब्ध हो गये। असमय और बिना सूचनाके, महाराजके सर्वथा निजी इस विहारमें यह स्त्री कैसे प्रवेश पा गई है? बात कुछ असाधारण है।

"आर्य जय-घोषकी पुत्री वसंमाला देव-चरणोंमें अभिवादन करती है!"

कहती हुई वसंत सिंहासनके पाद-प्रांतमें प्रणत हो गई। नाम सुनकर तीनोंने वसंतको पहचाना। वसंत माथा झुकाये, गलेमें आंचल डाले, नमित दृष्टिसे खड़ी रह गई। महाराजने पूछा—

"कुशल तो है न शुभे! अंजनीका कुशल-संवाद कहो.....।"

वसंतने फिर सारा साहस बटोरकर कहा—

"प्रगल्भता क्षमा हो देव, अकेलेमें कुछ निवेदन किया चाहती हूं!"

महाराजका संकेत पाकर कुमार प्रसन्नकीर्ति और सामंत महोत्साह उठकर कुछ दूर निकल गये।—वसंत पास जाकर पाद-पीठके पास घुटनोंके बल बैठ गई। आंचलमें गांठ देते हुए और बार-बार क्षमाका आवेदन करते हुए उसने बात कहना आरंभ किया—

"देव, समझो कि अंजनी ही आंचल पसारकर पिताके संमुख आई है। चाहो तो अपनी पुत्रीको अपने ही पैरों तले कुचल देना।—पर उसे निर्मम दुनियाकी ठोकरोंमें मत फेंक देना—।"

कहकर उसने अधिकसे अधिक संयत और अकपट भावसे अंजनाका आत्म-निवेदन महाराजके संमुख रक्खा। जहांतक उससे बन सका अपने मनकी सारी रुलाईको दबाकर भी उसने अंजनाकी कठोर मर्यादाकी रक्षा की।

महाराजने सुना तो लगा कि निरभ्र आकाशसे वज्र टूटा हो। संज्ञा-शून्य होकर उन्होंने दोनों हाथोंमें मुंह डाल दिया। बड़ी देरतक ऐसे ही जड़-वत् वे बैठे रह गये। भीतर-भीतर एक दुःसह ज्वाला-मुखी दहक रहा था। वे एकाएक भिचते स्वरमें फूट पड़े—

"हाय आकाश, फट पड़ो! पृथ्वी, विदीर्ण हो जाओ!— यह सुननेको एक क्षण भी मैं जी नहीं सकूंगा....नहीं....नहीं.... नहीं देख सकूंगा....इन आंखोंसे....नहीं सुन सकूंगा इन कानों से...."

कहते-कहते वे सिहर-सिहर आये। दोनों हाथोंसे कभी आंखें मींचने लगे तो कभी कान मींचने लगे। कुछ देर रहकर फिर उत्तेजित रुदनके स्वरमें बोले—

"....आह, अंजन, दोनों कुलोंको डुबा दिया तूने!....धिक्कार है मेरा वीर्य....धिक्कार है यह मनुष्य-जन्म....मिथ्या है यह विक्रम और प्रताप....धूल है यह वैभव और अभिमान...."

कहकर कपालपर उन्होंने हाथ मार लिया। अपने ही आपमें धीरे-धीरे रुदनके स्वरमें गुन-गुनाये—

"सौ पुत्रोंके बीच....एक प्राण-पालिता लाड़िली बेटी....! आह....अपने ही वीर्यने भयंकर नागिन बन, छातीपर चढ़कर.... डस लिया....!"

कहते-कहते दोनों हाथोंमें जैसे वे अपने उन्नत वक्षको मसोसने लगे। फिर बोले—

"....किस भवका वैर लिया है तूने?....बेटी बनकर ऐसा

विश्वास-घात किया ?....इस बुढ़ापेमें मां-बापको पत्थरकी नावपर फेंक दिया तूने। डूबकर किस नरकमें स्थान मिलेगा....।"

....और लोक-निंदाकी तप्त शलाकाएं जैसे राजाके समस्त शरीरमें बिंधने लगीं।

"दूर हट निर्लज्जे, सामनेसे जा....! तुरंत तुम दोनों जाकर कहीं डूब मरो!....मेरी पुत्री यदि है तो उसे कहना कि अपना कलंकित मुंह दुनियाको न दिखाती फिरे।....पर, आह, नहीं है वह मेरे उज्ज्वल कुलका वीर्य!....अनार्या है वह....कोई प्रेतिनी कौतुक करनेके लिये मेरे घर जन्मी है।

"....जा निर्लज्जे....परे हट....अनर्थ न हो जाय.... क्षत्रियका शस्त्र स्त्रीघातका अपराधी न बन बैठे....नहीं तो तुम दोनोंको....ओफ़...."

कहते-कहते राजा सिंहासनकी मसनदपर लुढ़क पड़े। वसंतने सत्यको प्रकट करनेमें कुछ भी उठा न रक्खा था। उसे लगा कि मनुष्यकी वाणीमें इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। शायद अंजनाकी इच्छासे भी परे वह सभी कुछ कह गई है। उसे स्वयं ही जो भान नहीं रहा था। पर राजाके पास वह सब सुननेके लिये कान नहीं थे। वसंत चुपचाप वहांसे उठकर चली गई। रास्तेमें एक बार उसके जीमें आया कि मांका हृदय ही पुत्रीकी इस बेवसीको समझ सकेगा। क्यों न वह राज-माताके पास जाये। पर उसने सोचा कि मांका हृदय तो अपराधिनी बेटीके लिये भी पसीजेगा ही, पर उसका क्या बस है? पुरुष-शासनके पाषाणी-कपाट जो उस हृदयपर लगे हैं--राजाका जो रूप उसने देखा है--उसके आगे मां क्या बोल सकेगी? साथ ही उसे यह भी लगा कि यह सब करके शायद वह अंजनाके साथ विश्वास-घात भी कर रही है। शायद परोक्षमें उसका अपमान कराती फिर रही है। रथमें जिस अंजनाको बात करते उसने सुना था--उसे ऐसी दयनीय बना देना उसे सह्य नहीं है।

कुछ ही देरमें सामंत महोत्साह और कुमार प्रसन्नकीर्तिने आकर पाया कि राजा सिंहासनकी पीठिकापर अर्ध-मूर्छित-से पड़े हैं। आंखोंसे उनके आंसू बह रहे हैं। पहले तो दोनों जन विस्मयसे स्तब्ध हो रहे। फिर महोत्साह अपने उत्तरीयसे हवाकर राजाको चेतमें लाये। राजाको इन दोनोंसे कोई दुराव नहीं था। संक्षेपमें उन्होंने वृत्त कहा। साथ ही उसपर अपना कठोर निर्णय सुनाकर वे चुप हो गये।

कुमार प्रसन्नकीर्तिका मन सुनकर हाय-हाय कर उठा। पिताका वज्र-कठोर निर्णय सुनते-सुनते उनके जीमें आया कि वे उनका मुंह बंद कर दें---पर राजाकी वह भीषण मूर्ति देखकर उनकी हिम्मत न हुई। भीतर-भीतर उनका जी बहुत टूटा कि वे बहनका पक्ष-प्रतिपादन करें---पर क्या है आधार ? और वस्तु-स्थिति जैसी थी उसमें कौनसी विषमता संभव नहीं थी ? पर महोत्साहसे न रहा गया। वे साहस बटोरकर बोले---

"राजन्, आदित्यपुरकी रानी केतुमतीकी दुष्टता तो जगत-प्रसिद्ध है। वह अधर्मिणी है---और नास्तिक-सूत्रपर चलनेवाली वह लोकमें विख्यात है। स्वभावकी वह बहुत ही कर्कशा है। पर अंजनाके त्याग और तपस्याके जीवनकी कथा तो लोकमें प्रसिद्ध है। उसे लोग कहते हैं सती ! देवी वसंतमालासे बातका ठीक-ठीक पता लगाना चाहिये। नहीं तो उतावलीमें अनर्थ हो जायगा। आपसे धीर-धुरंधर वीरका ऐसे मामलोंमें अधीर होना उचित नहीं---। देव, अन्याय न हो---"

"नहीं महोत्साह, सब खत्म हो चुका, सुननेको अब कुछ नहीं रहा है। वसंतमालाने कहनेमें कुछ भी बाक़ी नहीं रक्खा है। बालपनसे वे दोनों अभिन्न रही हैं, फिर वसंत सत्यको कैसे प्रकट करेगी ? कितनी बार अंजनाको हम सब लिवा लाने गये---पर अकारण ही वह मुकर गई---। अवश्य ही कोई खोट उसके मनमें थी। और फिर सतीका सत् छुपा नहीं रहता है। सती होती तो सास-ससुरको ही न जीत लेती !

वे ही क्यों उसे निकालते ?—पाप चाहे संतानका ही रूप लेकर क्यों न आये, वह त्याज्य ही है, महोत्साह ! फिर लोक-मर्यादाको यदि राजा ही तोड़ेगा, तो कौन उसकी रक्षा करेगा ? लोकसे बड़ा कौन है ? रक्षकके चोलेमें यदि भक्षक बन जाऊंगा, तो जन्म-जन्म नरक पाऊंगा। जाओ मेरे अभागे बेटे, उस पापिनसे जाकर कहो कि वह जीवित रहकर दोनों कुलोंको लोकमें लजाती न फिरे—!"

× × × कुछ दूरके रास्तोंमें घूम-फिरकर फिर वसंत कहीं झाड़ोंकी आड़में आ खड़ी हुई थी। उसने यह सारा वार्तालाप सुन लिया। उसे लगा कि पैरोंके नीचेकी पृथ्वी धँसी जा रही है। सामनेका यह सारा अवकाश ही लीलनेको चला आ रहा है।—झूठा है संसार, झूठी है उसकी ममता-माया और प्रीति। झूठे हैं मां-बाप, पुत्र और पति, कुटुंब और आत्मीय। सब स्वार्थके सगे और साथी हैं। दुखके समय नहीं हैं कोई रखनेवाला। आप ही अपनेको नहीं रख पाता है यह जीव, तो फिर दूसरा कौन इसे रख सकेगा ? अपने घर जानेकी इच्छा भी वसंतकी नहीं हुई। आप वे अपनी रक्षा करेंगे। और कौन जानेगा कि अभागिनी मैं कहां गई हूं ?

चिंतातुर और क्षुब्ध हृदयसे भागती हुई वसंत सीधी भिक्षुणी-आवासको लौट आई। पाया कि अंजना डाभकी शय्यापर चुपचाप सोई पड़ी है। शायद उसे नींद लग गई है। चुप-चाप पास बैठकर, किसी तरह दो पहर रात बिता देनेका संकल्प वह करने लगी। इतने ही में जैसे कोई तीव्र पीड़ा हो रही है, ऐसी कसमसाहटसे अंजना पसली दबाकर तड़प उठी। हलकी-सी आह उसके मुंहसे निकल गई।

"अंजन !—नींद आ रही है ?"

पीड़ित स्वरको दबाती हुई अंजना बोली—

"ओह जीजी, कब आ गईं—? बोली क्यों नहीं—मैं तो जाग ही रही थी।"

"तकलीफ़ हो रही है, अंजन ?"

जवाब नहीं आया। फिर धीरेसे केवल इतना ही कहा—

"कुछ नहीं जीजी,····यों ही····"

कहते-कहते वह आवाज़ फिर आहत हो गई। उसकी बढ़ती हुई छट-पटाहट वसंतसे छुप न सकी।

"अंजनी, मुझसे छिपाकर किससे कहेगी ? क्या समझ नहीं रही हूं—उस दुष्टाने गर्भके अंगपर ही आघात जो किया था।"

"जीजी, न याद करो, बिसार दो····बिसार दो——जीजी, तुम्हें मेरी सौगंध है"

कहते-कहते अपने हाथसे अंजनाने वसंतका मुंह बंद कर देना चाहा। पीड़ा शांत होनेपर, कुछ देर बाद अंजनाने पूछा—

"अपनी अंजनीका भाग्य परख आई, जीजी ?—चुप क्यों हो —बोल न ?"

मर्म चीर देनेवाली उस कंठकी ज्वलंत वाणीमें हँसीकी रणकार थी।

वसंत अपनी रुलाई न रोक सकी। फटती छातीसे सिसकियां भरती हुई वह आंसू पोंछने लगी। टूटते हुए स्वरमें वह बोली—

"....जा आई बहन,—नहीं मानी तेरी बात !—मेरा भी तो पूर्व भवका वैर तुझपर था, सो वसूल करने गई थी। तेरा अपमान कराकर ही तुष्ट हो सकी हूं मैं—! मनुष्यके चोलेमें धरतीपर दानव ही बस रहे हैं, बहन,—मनुष्यपर रहा-सहा जो विश्वास था वह खतम कर आई।—पिता नहीं हैं वे, राक्षस हैं····असुर····नराधम ! क्षात्र-धर्मका पाखंड करके असत्यसे लड़नेमें वे मुंह छुपाते हैं। वे करेंगे आसुरी शक्तियोंसे मानवका त्राण····?"

उत्तेजित होकर वसंत बोलती ही गई। पहले तो अंजना चुप-चाप सब सुनती रही, फिर गंभीर अनुनयके स्वरमें बोली—

"बस····बस····बस करो जीजी, मिथ्यासे जूझकर अपनी

आत्म-हानि न करो। अज्ञानियोंसे तो सहानुभूति ही हो सकती है—भवकी उसी रात्रिमें हम सभी तो भटक रहे हैं।"

पर वसंतसे आवेशमें रहा न गया। सब सुनाकर ही तो उसे चैन था। राजाका एक-एक शब्द उसने दुहरा दिया।

सुनते-सुनते अंजना जाने कब मृतवत् हो रही। वसंतने देखा, उसे मूर्छा आ गई है। अपने क्रोधावेश और अपनी भूलपर वह अनुतापसे विकल हो गई। आह, वह पहले ही पीड़ित थी, और ऊपरसे उसने आकर ये अंगार चढ़ाये दुःखिनीके मर्मपर—? पानी छिड़ककर वह अंजना-को होशमें लानेका प्रयत्न करने लगी। बड़ी देर बाद अंजनाको चेत आया—

वसंतकी गोदमें मुंह ढककर केवल इतना ही निकला उसके मुंहसे, अस्फुट, पर ज्वलंत—

"....नहीं जीजी,....नहीं मर सकूंगी....पिताकी आज्ञा लांघनेको विवश हूं....जीवन और मरणके स्वामी वे आप हैं.... वे ही जानें! मैं कुछ नहीं जानती।....और यह जो आ रहा है....?"

कहते-कहते फिर वह एक मार्मिक पीड़ासे कसमसा उठी। भीतर अनिवार जीवनका महास्रोत जैसे सारी बाधाओंकी पर्वत-काराको तोड़नेके लिये छट-पटा रहा था....

[२५]

अंजनाके सो जानेपर बड़ी राततक वसंतकी आंखोंमें नींद नहीं थी। अनेक चिंताओं और विकल्पोंसे मन उसका अशांत था। क्षुब्ध और बेचैन वह करवटें बदल रही थी। जो होना था वह तो सब हो लिया, पर अब कहां जाना होगा, क्या करना होगा? क्या है अब भाग्यका

विधान ? गर्भके भारसे पीड़ित, घायल, चारों ओरसे त्यक्ता और अपमानिता सोई है यह भोली लड़की। दुखको इसने संमुख होकर अंगीकार किया है। उसकी क्या सामर्थ्य है जो इसपर दया करे, इसके भाग्यपर आंसू बहाये। फिर भी चिंताओंका पार नहीं है, राह असूझ है। अशन भी नहीं है, वसन भी नहीं है। दोनोंके शरीरपर केवल एक-एक दुकूल पड़ा है। रत्नोंके महलमें रहनेवाली युवराज्ञीके शरीरपर रत्न तो दूर, धातुका एक तार भी नहीं है। पानी पीनेको पासमें पात्रतक नहीं है। कल सवेरेसे दोनोंके पेटमें अन्नका एक दाना भी नहीं पड़ा है। और तिसपर यह गर्भिणी है।—पर रुकना नहीं है, चले ही जाना है अदृष्टके मार्गपर। अदय, स्वार्थी मनुष्योंकी जगतीसे दूर, बहुत दूर।

सवेरे ब्राह्म-मुहुर्तमें दोनों बहनें उठीं। नदी-तीरपर जाकर शुचि-स्नान किया। पास ही पेड़ों तले, नित्य-नियमानुसार सामायिकमें प्रवृत्त हुईं।—अंजनाने देखा कि पथकी रेखा अंतरमें प्रकाशित हो उठी है। दुविधाका कोई कारण नहीं है।

उठनेपर बोली वसंत—

"कहां जाना होगा अब ?"

तपाकसे उत्तर आया—

"बनकी राहपर, जहां सबका अपना राज्य है। जीवन वहां नग्न और निर्बाध है। सभी कुछ सहज प्रवाही है। प्रभुत्वका मद वहां नहीं है। छिपाव-दुराव वहां नहीं है, इसीसे पाप भी नहीं है। माना कि हिंसा और संघर्ष जीवोंमें वहां भी है। पर वह पाप अकपट और खुला है। आदर्शोंके आवरणोंमें ढकी रोज-रोजकी पराधीन मृत्युसे, खुलकर सामने आनेवाली वह अकपट मौत सुंदर है ! सब कुछ सरल, खुला और अपना है जहां—वहीं होगा अपना वास, बहन —!"

"पर नारीका चोला पाकर हम इतनी स्वतंत्र और निरापद कहां हैं, बहन ?"

"भूलती हो जीजी, कोमल हैं इसीसे इतनी निर्बल हम नहीं हैं। सबल पुरुषके गर्विष्ठ विधानको हम सदासे झेलती आई हैं---अपने धर्मका पालन करनेके लिये। पर दुर्बल संस्कार बनकर यदि वही कोमलता हमारे आत्म-धर्मका घात कर रही है, तो वह भी त्याज्य ही है। माना कि कोमलता स्त्रीका अस्तित्व-गत धर्म भी है। पर अंततः आत्माके मार्गमें स्त्रीत्वसे भी तो परे जाना है। योनि तो भेदना ही है। और ठीक वैसे ही क्या पुरुषको भी अपनी पुरुषतासे उपरत नहीं होना है? दोनों ही को इष्ट है वही आत्माकी अव्याबाधा कोमलता! और देह भी क्या अंतिम सत्य है? उससे भी तो एक दिन उत्तीर्ण होना ही है। फिर उसकी बाधा कैसी? कोमलता पुरुषको जितनी चाहिये हमसे ले, पर वही हमारी बेड़ी नहीं बन सकती। पुरुषका दिया संस्कार तो क्या, मुक्तिके मार्गमें, स्वयं पुरुष भी यदि हमारी बाधा बनकर आये तो वह त्याज्य ही है---"

"पर अपनी रक्षा करनेमें हम असमर्थ जो हैं, अंजन!"

"यह वही संस्कारकी दुर्बलता तो है, जीजी। यह निसर्ग सत्य नहीं है। इसी विवशताको तो जीतना है। रक्षा कोई किसीकी नहीं कर सकता। हम आप अपने रक्षक हैं। अपने ही सत्यका बल अपना रक्षा-कवच है।---रक्षकोंकी छत्र-छायामें तो अबतक थीं ही। बड़ा भरोसा था उनका। पर वहांसे भी तो ठेलकर निकाल दी गई। और कही कि शीलकी रक्षा, तो शील तो आत्माका धन है; मृत शरीरका कोई जो चाहे करे! इस आत्म-धनकी रक्षाके लिये जो सचमुच चैतन्य है, देहके विसर्जन-में उसे संकोच या भय क्यों होगा?---तब शील बचाना है किसके लिये? अपने ही लिये तो। पुरुषकी सती-पतिव्रता सिद्ध होनेके लिये नहीं! उसके लिये बचाकर रक्खा, तब भी क्या सदा उसने हमपर विश्वास किया है? उस मिथ्या मरीचिकाके पीछे दौड़नेसे अब लाभ नहीं है, बहन।---वह सब छूट गया है पीछे---"

"पर हम दोनों अकेली ही तो नहीं हैं, अंजनी, गर्भमें जो जीव आया है, उसकी रक्षाका उपाय भी तो सोचना ही होगा"

अंजनाके उस तेज-तप्त चेहरेमें हँसीकी एक कोमल रेखा दौड़ गई। पर उसी प्रखरतासे उसने उत्तर दिया—

"अपना विधान वह अपने साथ लाया है, बहन ! वह आप अपनी रक्षा करनेमें समर्थ है।—नहीं है समर्थ तो उसका नष्ट हो जाना ही इष्ट है।—किसीका जिलाया वह नहीं जियेगा और किसीका मारा वह नहीं मरेगा। मेरे दुर्भाग्योंसे वह परे है। जीवनकी उस महासत्ताका अनादर मुझसे नहीं होगा, जीजी !—चलो देर करना इष्ट नहीं है। दिन उगनेसे पहले इस नगरकी सीमाको छोड़ देना है।"

वसंतने सोच लिया कि इस लड़कीसे निस्तार नहीं है। उसने निश्चय किया कि राहमें वह अंजनाको राजी कर लेगी, और यदि संभव हुआ तो वे किसी दूर विदेशके ग्राममें जा बसेंगी। मनुष्यके द्वारपर अब वे भीख नहीं मांगेंगी। अपने ही श्रमसे कुछ उपार्जन कर लेंगी। सुख-पूर्वक प्रसव हो जानेपर, आगेकी बात आगे देखी जायगी। और सच ही तो कहती है अंजन, जो आया है वह भी अपना भाग्य लेकर आया है, उसके पुण्यपर हम संदेह क्यों करें ?

गर्भके भारसे देह पीड़ित है। राज-भोगोंपर पला शरीर निराहार और निरवलंब है। राह अनिश्चित है और भविष्य धुंधला है। अंजनाको चलनेमें कष्ट हो रहा है, पर पैर एक निश्चयके साथ आगे बढ़े जा रहे हैं। वसंतका हाथ उसके कंधेपर है। दोनों मनोंके तार जैसे एक ही सुरमें बंधे हैं। एक ही संगीतकी लयपर सधी वे चली जा रही हैं। बोलका अंतर भी इस क्षण उनके बीच नहीं है। रह-रहकर दोनोंकी दृष्टि सामनेके शुक्र-तारेमें अटक जाती है।

धीरे-धीरे दिशाएं उजाली होने लगीं, आस-पासका समस्त लोक—चराचर प्रकाशित हो गया। सुदूर पूर्व छोरपर एक ताड़की वनालीके

ऊपर ऊषाकी गुलाबी आभा फूट उठी। वसंतने देखा कि अंजनाके क्लांत मुखकी श्रीमें एक अद्भुत नवीनताका निखार है। उस चेहरेका भाव निर्विकार और अगम्य है। विरक्ति नहीं है, निर्ममता नहीं है। पर ममता और कोमलता भी तो नही है। विषाद मानो स्वयं ही मुस्करा उठा है। फिर भी उन ओठोंमें कहां है राग-अनुरागकी रेखा ?

विशाल स्वर्ण किरीट-सा सूर्य एक पुरातन और घने जटाजालवाले, बृहदाकार वट-वृक्षके ऊपरसे उग रहा था। नीचे उसके हरे-भरे झाड़ोंके बीचसे, गांव के उजले, पुते हुए, स्वच्छ घर चमक रहे थे।

पक्की सड़क जाने कहां छूट गई थी। जाने कब वे। चलती-चलती कच्चे रास्तोंपर आ निकली थीं। आस-पास दूर-दूरतक फैले हरियाले खेत सवेरेकी ताज़ी और शीतल वायुमें लहक रहे थे। उनकी नोकोंके बीच यह अपार आकाश मानो छोटा-सा कुतूहली बालक बनकर आंख-मिचौनी खेल रहा है। हरियालीकी इस चंचल आभामें उसकी अचल नीलिमा जैसे लहरा रही है। दूर-दूर छिटकी स्निग्ध-छाया अमराइयों और विपुल वृक्ष-यूथोंमें विश्रामका आमंत्रण है। खेतोंके बीचकी विशाल वापिकाओंपर बैल चरस खींच रहे हैं। बावड़ीकी मेहराबसे कोई-कोई रमणियां और ग्राम-कन्यायें पानीकी गागर भरकर निकलती हैं, और खेतके किनारे-किनारे ग्रामकी ओर बढ़ रही हैं।

धूप काफ़ी चढ़ आई है। चलते-चलते वसंतके पैर लड़-खड़ाने लगे। सांस उसकी भर आई है। पर रुक जानेकी और विरामकी बात उसके ओठोंपर नहीं आ पाती है। उसने अंजनाकी फूलती हुई सांसको अनुभव किया। धूपसे चेहरा उसका तम-तमा आया है—और सारा शरीर पसीनेसे लथ-पथ हो गया है। अंजना बेसुध-सी चली ही चल रही है। चलते-चलते एकाएक उसने अपना मुंह वसंतके कांधेपर डाल दिया। आंखें उसकी मिच गईं। सांस उसकी और भी जोर-जोरसे उत्तप्त होकर चलने लगी। पैरोंमें आंटियां पड़ने लगीं। वसंतने देखा कि उसके सारे

अंग ढीले और निश्चेष्ट पड़ गये हैं---। उसका समूचा भार उसीके ऊपर आ पड़ा है। वह सावधान हो गई। एक खेतके किनारेकी घासमें ले जाकर उसने अंजनाको अपनी गोदपर लिटा लिया और आंचलसे हवा करने लगी। श्वासके प्रबल वेगसे अंजनाका वह विपुल वक्ष मानो टूटा पड़ रहा है। और भीतरकी किसी अनिवार यंत्रणाके त्राससे सारा चेहरा देखते-देखते विवर्ण हो उठा। बढ़ती हुई बेचैनीको दबानेके लिये, अपने ही तनते हुए अंगोंको अपने भीतर सिकोड़ती हुई वह गांठ हुई जा रही है। वसंतके होश-हवास गुम हो गये। ज़बान तालूसे चिपक गई। चारों ओर जन हैं, जीवन है, फिर क्यों हैं वे इतनी जनहीन और असहाय? मनुष्य मात्रसे ऐसी विरक्ति क्यों? क्या जीवनसे रूठकर जिया जा सकेगा? वसंतके मनमें ऐसे ही प्रश्न चिकौटी काट रहे थे।---पर उसे वहां अकेली छोड़कर वह कैसे जाये और कहां जाये? इस अपरिचयके देशमें किसे पुकारे? अंजनाको एक-दो बार हिला-डुलाकर पुकारा, पर कोई उत्तर उसने नहीं दिया। केवल एक बार समाधानका हाथ उठाकर फिर धरतीपर डाल दिया।

तब तो वसंतका धैर्य टूट गया। अंजनाके संकेतको वह ठीक-ठीक समझी नहीं। अशुभकी आशंकासे वह थर्रा उठी। रह-रहकर कलका वह महादेवीका पदाघात उसकी छातीमें भाले-सा कसक उठता है। उसने सोचा कि कुछ उपाय तुरंत ही करना चाहिये, नहीं तो देर हो जायेगी। और कुछ नहीं सूझा, तो अंजनाको गोदसे सरकाकर धरतीपर लिटा दिया, और आप उठकर बेतहाशा दौड़ती हुई खेतके उस मोड़तक चली गई। वहांसे जो पग-डंडी गई है---उसीपर एक बेलोंसे छाया झोंपड़ा उसे दीखा। पास ही एक खुली बावड़ीमें पानी चमक रहा है। और उसीसे लगा एक घनी छायावाला फलोंका बाग है। वैसी ही झपटती हुई वसंत वापस आई। अंजना चुप होकर औंधी पड़ी थी। वसंतने बहुत सावधानीसे धीरेसे उठाकर उसे कंधेपर लिया, और बड़ी कठिनाईसे

किसी तरह उस बाग़तक ले आई। किनारे ही बावड़ीकी सीढ़ियों तक छाया हुआ अंगूरोंका एक लता-मण्डप था। उसीकी छायामें लाकर उसने अंजनाको लिटा दिया। श्वेत पत्थरकी पक्की बावड़ी, विशद, स्वच्छ और चारों तरफ़से खुली है। किनारेसे कुछ ही नीचेतक निर्मल जल उसमें लहरा रहा है। हाथ डुबाकर ही पानी लिया जा सकता है। चारों ओर स्निग्ध शिलाओंके पक्के किनारे बँधे हैं—और बाग़की तरफ़ सीढ़ियां बनी हैं। एक किनारे केलोंका वन-सा झुक आया है और दूसरी ओर इक्षुका खेत आ लगा है। वसंतने कुछ केलेके पत्ते और अंगूरोंकी लताएं बिछाकर उनपर हलका-सा पानी छिड़क दिया, और अंजनाको उसपर लिटाकर एक केलेके पत्तेसे हवा करने लगी।

एक मनसे वसंत इष्ट-देवका स्मरण कर रही है। उसके देखते-देखते अंजनाके मुखपर उद्विग्नताके बजाय एक गहरी शांति फैल गई। थोड़ी देर वह चुपचाप लेटी रही, जैसे नींद आ गई है। एकाएक उसने आंखें खोलीं। देखा कि ऊपर हरियालीका वितान है। चारों ओर एक निगाह उसने देख लिया। फल-भारसे नम्र बाग़की घनी और शीतल छायामें दूर-दूरतक वृक्षोंके तनोंकी सरणियां हैं। पत्तोंमें कहीं-कहीं हरियाला प्रकाश छन रहा है। संधोंमेंसे आई हुई धूपके कोमल धब्बे कहीं-कहीं बिखरे हैं। जैसे इस कोमल सोनहली लिपिमें कोई आशाका संदेश लिख रहा है? बाहरकी तरफ़, सामने दीखा—शाखाओं और सूखे पत्तोंसे बना एक सुंदर झोंपड़ा है। उसपर पीले और जामुनी फूलोंवाली शाक-सब्जियोंकी बेलें छाई हैं। आस-पास सब्जियोंकी क्यारियां हैं। उनके किनारे पपीतेके झाड़ोंकी क़तारें खड़ी हैं। झोंपड़ेकी एक बग़लमें चारों ओर खुली छाजनके तले एक गौशाला है। उसमें दो-एक विशाल डील-डौलकी पुष्ट सफ़ेद गायें बैठी जुगाली कर रही हैं। पास ही खड़ा एक नवजात बछड़ा उनींदी आंखोंसे एकटक अपनी जनेताकी ओर देख रहा है। झोंपड़ेका आंगन निर्जन है, द्वार बंद है। जान पड़ता है, वहां

कोई नहीं है। गौशालेकी छाजन और झोंपड़ेके बीचकी आड़में एक ग्रामीण रथकी पीठ दीख रही है। ऊपर उसके पीतलका गुंबद है—और पीठिकामें तने हुए रंग-बिरंगे चित्रोंवाले, ऋतु-जर्जर पालकी झलक दीख रही है। उसके पास ही छायाबानवाली एक गाड़ी खुली पड़ी है।

अंजनाने पाया कि यह मनुष्यका घर है। आस-पास यहां सुरक्षा है, गार्हस्थ्य है। सुख-सुविधा और विश्रामका प्रबंध है। यहां अन्न है, फल-फूल हैं, दूध है—और स्नेहसे स्निग्ध जीवन-रस चारों ओर बिखरा है। पर अतिरिक्त और अनावश्यक यहां कुछ नहीं है। अभिमान और दिखावेका आडंबर नहीं है। प्रकृतिके हृदयसे सटा हुआ ही जीवनका एक सहज, सुषम और सुखमय विरामस्थल है। पर जिस घर वह अतिथि बनकर अनायास चली आई है, उसका द्वार बंद है। अभ्यर्थना करनेके लिये कोई गृह-स्वामी वहां नहीं है। वह समझ गई थी कि आपत्तिकी घड़ीमें निरुपाय वसंत उसे यहां ले आई है।—फिर भी जैसे वह अपनेको यहां ठहरनेकी अधिकारी नहीं पाती। सप्रश्न आंखोंसे उसने सामने बैठी वसंतको देखा। वसंतकी उस मुर्झाई मुख-मुद्रामें अभी भी गहरी परेशानी और चिंतातुरता साफ़ झलक रही है। फिर भी अपने दुखभरे चेहरेपर सायास एक मुस्कराहट लाकर वसंतने पूछा—

"अब जी कैसा है, अंजन ?"

"अच्छी हूं बहन, अपना सारा दुख तो तुम्हें सौंप दिया है, अब मुझे क्या होनेको है. . . . ?"

कहते-कहते अंजना मुस्करा आई।

"अभी भी मुझे इतनी पराई समझती है, अंजनी, तो तू जान।—पर तुझसे विलग होकर अब मेरी गति नहीं है। नहीं जानती हूं कि कैसे वह तुझे समझा सकती हूं। मेरी उतनी बुद्धि नहीं है।"

कहकर एक गहरी नि:श्वास छोड़ती हुई वसंत दूसरी ओर देखने लगी। अंजना बोली कुछ नहीं—चुपचाप एकटक उस वसंतको करुण

आंखोंसे देखती रही। वसंतसे रहा न गया। पास सरककर उसने अंजनाका माथा अपनी गोदपर ले लिया और बोली---

"अंजनी, इतनी निर्मम न बन। कुछ तो दया कर अपनी इस अभागिनी जीजीपर !---मेरे जीकी शपथ है, मुझसे सच-सच बता दे---क्या कल उस दुष्टाके पदाघातसे तुझे चोट लगी है ? मुझीसे छिपायेगी तो मैं बहुत असहाय हो जाऊंगी। तब तो मेरे दुखका अंत ही नहीं है। मैं अकेली किसे जाकर अपनी पुकार सुनाऊंगी ?"

"व्याकुल न होओ जीजी, पत्थर और मिट्टीकी हो गई हूं,. . . चोट जैसे अब लगती ही नहीं है---"

"पर अभी जो चेहरा मैंने देखा है, उसका त्रास तो मुझसे छुपा नहीं है---"

अंजनाका मुख फिर म्लान हो आया। वह एकटक बाहरके आकाशको देखती रह गई। कुछ देर रहकर एक मर्माहत स्वरमें वह बोली---

"हत्यारी हो उठी हूं, जीजी ! . . . .युग-युगकी वेदनासे संतप्त वे मेरे पास आये थे। सुख और शांतिकी उन्हें खोज थी। युद्धसे उन्हें ग्लानि हो गई थी। चिर दिनकी वंचनासे वे संत्रस्त थे। कौन जाने सुख दे सकी या नहीं, पर मैंने उन्हें धक्का दे दिया। जाने किस अगम्य भयानकताके मुंहमें मैंने उन्हें ढकेल दिया।---उसी क्षण समझ गई थी कि मृत्युसे भी जूझनेमें अब ये झिचकेंगे नहीं। केवल मेरे ही कहनेसे, मेरे ही लिये गये हैं वे मृत्युसे लड़ने---! अपने लिये अब किसी भी विजयकी कामना उनके मनमें शेष नहीं रही थी। अपनी ही हारको उन्होंने सिर झुकाकर, जयमालाकी तरह स्वीकार कर लिया। और उस दिन उन्होंने अपनेको धन्य माना। अपनी सारी महत्ताओंको चूर करके, वे केवल अपनी आत्म-वेदना लेकर मेरे पास आये थे।

". . . .पर उनकी हार मुझे सहन न हो सकी ! तब मुझमें गौरवका लोभ जागा। उनके पुरुषत्वके अभिमान और विजयके अनुरागसे मैं भर

उठी। मैं गर्विणी हो उठी। एक तरहसे मैंने ही उन्हें यह कहा कि—'विजेता होकर आओ—!' वे हँसते-हँसते उस पथपर चले गये। विजयकी मांग भी उनसे मेरी छोटी नहीं थी। मन ही मन शायद यही तो कह रही थी—'अजात-शत्रु जेता बनकर लौटो!' उस क्षण तो मैं अपनी ही आत्म-गरिमाके सुखमें बेसुध थी—

"पर ओह जीजी, आज कल्पना कर सकी हूं, चारों ओर तने हुए असंख्य शत्रुओंके तीरोंके बीच मैंने उन्हें ढकेल दिया है—। पर लौटकर न देखनेवाले वे, उनके बीच खेलकर भी, मेरी कामनाकी विजय पाये बिना नहीं लौटेंगे। और उनकी बात सोचे बिना ही, जाने किस सत्यके आग्रहसे, मैं अपने ही मार्ग पर चल पड़ी हूँ?—मेरी साधकी पूर्ति लेकर, जब वे किसी दिन आशाभरे लौटेंगे......और मुझे न पायेंगे....तब...? तब उनपर क्या बीतेगी, जीजी....?"

कहती-कहती वह वसंतकी गोदमें बिलख पड़ी। बसंत निःशब्द उसे अपने पेट और वक्षसे दबाये ले रही थी। इस ऐसी विषम वेदनाके लिये, वह क्या कहकर सांत्वना दे, जिसे वह स्वयं नहीं समझ पा रही है। वह तो केवल उस दुखकी निष्काम सहभोगिनी है। फिर अंजना धीरेसे रुलाईभरे कंठसे ही बोली—

"पर हाय, उनके वीरत्व और पुरुषत्वकी ही अवमानना कर रही हूँ। क्यों उठी है मनमें यह शंका—कि अपनी ही राहपर स्वच्छंद चल पड़ी हूँ? कहां है उनसे अलग मेरा रास्ता? उन्हींकी खींची रेखापर तो चली जा रही हूं, बहन! अपने ही ममत्वसे घिर जाती हूँ, इसीसे रह-रहकर मन भ्रममें पड़ जाता है। तब उनके प्यारपर अनजाने ही अविश्वास कर बैठती हूँ। क्षुद्रता और अज्ञान तो मेरा ही है न। इसीसे तो पाकर भी उन्हें नहीं रख सकी।—पर मर भी जाऊँगी, तो जिस राह यह मिट्टी पड़ेगी, उसीसे होकर वे आयेंगे, इसमें रंच भी संदेह नहीं है....!"

कहते-कहते अंजनाका वह आंसुओंसे धुला हुआ चेहरा एक अमंद दीप्ति और जागृतिसे भर उठा। वह बैठ गई और अपने दोनों हाथोंमें वसंतके दुखी चेहरेको दबाकर बोली—

"दुखी न होओ जीजी, मेरी छोटी-छोटी मूर्खताओंपर तुम्हीं यों घबड़ा जाओगी, तो कैसे बनेगा ?"

"यह तो तेरी पल-पलकी वेदना है, अंजन। इसे समझ सकूं, ऐसी शक्ति मुझमे कहां है ? पर उस हत्यारीने जो मर्मांतिक आघात किया है, उसीकी पीड़ासे अभी तुझे मूर्छा आ गई थी—यह बात मुझसे क्योंकर छिप सकेगी ?"

"—वह तो ठीक-ठीक मैं भी नहीं समझ पा रही हूं, जीजी।—क्या तुम उस विगतको भूल नहीं सकती....? संसारके पास आघातके अतिरिक्त और देनेको है ही क्या ? और उसके प्रति कृतज्ञ होनेके सिवा हम और कर ही क्या सकते हैं ? चोटें आती हैं कि हम चिन्मय हैं—गतिमय हैं। अमरत्वका परिचय उसीमें छुपा है। नहीं तो जीवनकी धारा ही जड़ित हो जायगी।—मनसे उस वृथा शंका और संतापको दूरकर दो, जीजी।"

"पर गर्भका जीव तेरा वैरी तो नहीं है, अंजन। अपने ऊपर चाहे तुझे करुणा न हो, पर क्या उसके प्रति भी ऐसी निर्दय हो जायगी ?"

"उनके दानपर दया करनेवाली मैं होती कौन हूं, बहन ? और उसे इतना बलहीन माननेका भी मुझे क्या अधिकार है ?—प्रहारपर चलकर यदि उसे आना भाया है, तो उसे अमरत्व ही क्यों न मानूं—मृतत्वकी बात क्यों सोचूं ? मेरी ही छातीमें लात मारता वह आ रहा है, उसकी रक्षा क्या मेरे बसकी है....?"

तभी सामने उन्हे दीखा कि झोंपड़ेका दर्वाजा खुला है। एक सब्जीकी क्यारीकी आड़में दो कृषक-कन्यायें दुबकी बैठी हैं। हिरनी-सी आयत

आंखोंसे वे टुकुर-टुकुर उनकी ओर देख रही हैं। इतने ही में बाग़की तरफ़से, दूधसे सफ़ेद बाल और घनी डाढ़ीवाला, एक आरक्त मुख, विशालकाय वृद्ध आता दीख पड़ा। स्पष्ट ही वह इस भूमिका स्वामी है। लटक आये खुले शरीरमें, अब भी स्वास्थ्यकी ताम्रवर्ण लालिमा दम-दम कर रही है। पास आकर उसने हाथकी डलिया, कदली-पत्र और दो बड़े-बड़े दौने सामने रख दिये। दोनोंमें द्राक्षोंके गुच्छे हैं, और डलियामें ताज़ा तोड़े हुए दो-तीन तरहके दूसरे फल हैं। वृद्धने अंजना और वसंतसे देश-कुल-जातिका कोई परिचय नहीं पूछा। केवल अपने अतिथियोंको उसने दोनों हाथ जोड़, बहुत ही विनीत और गद्गद् होकर प्रणाम किया। स्नेहकी मौन और स्निग्ध आंखोंसे ही, उसने अपनी भेंटकी स्वीकृति पाकर कृतार्थ होनेकी याचना की।

दोनों बहनोंने सिर नवाँकर वृद्धका अभिवादन किया। आनंद और विस्मयसे पुलकित होकर अंजना बोली—

"बाबा, चोरकी तरह तुम्हारे घरमें हम दोनों घुस बैठी हैं। हमारी उद्दंडताको क्षमा कर देना।"

वृद्ध फिर हाथ जोड़कर नम्र हो आया। वह बोला—

"बड़े भाग्य हैं देवी हमारे! सौभाग्यका सूरज उगा है आज, जो सवेरे ही आंगनमें आकर अतिथि देवताकी तरह बिराजे हैं। यह भूमि धन्य हुई है तुम्हें पाकर। दीन कृषकका यह तुच्छ फलाहार स्वीकार कर, उसे कृतार्थ करो, भद्रे!"

अंजनाके मनमें कोई दुविधा नहीं थी। उसने वसंतकी ओर देखा। वसंत सप्रश्न आंखोंसे अंजनाकी ओर देख रही थी। स्पष्ट ही उस दृष्टिमें हिचक थी।

"संकोचका कोई कारण नहीं है, जीजी। इन भूमि-पुत्रोंके दानको लेनेसे इनकार कर सकें, इतने बड़े हम नहीं हैं। इससे मुंह मोड़कर जीनेका अभिमान मिथ्या है। धरित्री-माताने हमें जन्म दिया है, तो हमें जीवन-

दान देनेवाले जनक और पोषक हैं ये कृषक। ले लो जीजी, दुविधा न करो—"

फिर कृषककी ओर देखकर बोली—

"बिना हमारी पात्रता जाने, हमें भिक्षा ले सकनेकी पात्री तुमने बना दिया है, बाबा—। जीवन कृतकार्य हुआ है तुम्हारे दानसे—।"

"इतना बड़ा भार हम दीनोंपर न डालो आर्ये, हम तो तुम्हारे सेवक मात्र हैं—।"

कहकर प्रसन्न होता हुआ वृद्ध, अतिथि-चर्याके दूसरे प्रबंधोंके लिये व्यस्त-सा होकर, झोंपड़ेकी ओर चल दिया। झोंपड़ेके दूसरी ओरके छायाबानमें, रस निकालनेकी चरखियोंको जोर-जोरसे घुमाकर, वे दोनों कन्यायें द्राक्ष और इक्षुका रस निकाल रही थीं।

क्षोभ और रोषके कारण जो भी हिचक और विरक्ति वसंतके मनमें ज़रूर थी। पर उसकी अंतरतमकी सबसे बड़ी चिंता इस क्षण यही थी, कि वह किसी तरह अंजनाको कुछ खिला-पिला सके। उसने तुरंत केलेके पत्ते बिछाकर, कुछ फल और द्राक्ष-गुच्छ उसपर रख लिये और दोनों बहनें खाने लगीं। खाते-खाते बात चल पड़ी तो अंजनाने कहा—

"मनुष्यपर अश्रद्धा किये नहीं बनेगा, जीजी। मनुष्य मात्रसे रुष्ट होकर, विमुख होकर, हम इस राह नहीं आई हैं। आई हैं इसलिये कि अपने बांधे विषम कर्मोंके फल भुगतनेमें हम अकेली ही रह सकें। अपने उदयागतसे औरोंके जीवनोंमें व्याघात न डालें। मिथ्याके जिस विरूप विधानने मनुष्यके जीवनको आत्म-पीड़नके दुश्चक्रमें डाल रखा है, हो सके तो उससे अलग खड़ी होकर उसे प्रतिषेध दें। और यों किसी दिन उस दुष्चक्रको उलट दें।"

थोड़ी देर चुप रहकर फिर अंजना बोली—

"पर कर्म-विधानकी इस कुरूपतामें भी क्या आत्मका धर्म सर्वथा लोप हो गया है? नहीं: नाना संघर्षों और आघातोंके बीच रह-रहकर

वह ज्योति प्रकट होती है। इसीसे तो मुक्ति-मार्गकी रेख अक्षुण्ण चली आ रही है। मनुष्यके भीतरकी उज्ज्वलता जहां झांक रही है, उसीपर श्रद्धाको टिका देना है। वही हमारा निजत्व है। जो कुरूप है वह तो मिथ्या है ही। उसे सत्य मानकर उसके प्रति रुष्ट और आग्रही होना, तो अपनेको उसी दुश्चक्रमें डाले रखना है।"

"पर यों परमुखापेक्षी होकर कबतक चला जायगा, अंजन ?"

"पर मैं कहूं, निरपेक्ष क्या है, जीजी ? अपेक्षा तो अस्तित्वके साथ ही लगी है। निरपेक्ष होकर जीनेका अभिमान ही तो मिथ्या-दर्शन है। सम्यक्त्वसे वहीं हम च्युत हो जाते हैं। असलमें देखना यह है कि वह अपेक्षा स्वार्थसे सीमित न हो। वैसी अपेक्षा तो प्रेमके बजाय लोभको ही अधिक बढ़ायेगी। वह देनेवालेमें अभिमान जगायेगी और लेनेवालेमें हीनता उत्पन्न करेगी। मनुष्य-मनुष्यके बीच प्रेमका जो अविनाभावी और चिरंतन संबंध है, वह समूल कभी भी नष्ट नहीं हो सकता। आत्मा की मौलिक एकतामें हमारी निष्ठा यदि दृढ़ है, तो उस प्रेमका परिचय हम सतत पाते जायेंगे—जीवनके पथमें। उसीका फल यह अयाचित दान है, जीजी। पराधीनताका संकीर्ण भाव मनमें जरा नहीं लाना है। प्रेमका प्रसाद समझकर ही इस भिक्षाको ग्रहण कर लेना है। आधिपत्यकी कांक्षा और अभिमान मनमें न रखकर यदि आकिञ्चन्यका व्रत ग्रहण किया है, तो फिर भिक्षा ग्रहण करनेमें लज्जाका कारण नहीं है, जीजी। भिक्षा तो उसी शाश्वत प्रेम-परिचयका एक चिह्न मात्र है। परस्पर एक दूसरेको स्वीकार किये बिना जो हम चल नहीं सकते हैं!"

इतने हीमें कृषककी दोनों कन्यायें कांसेके बड़े-बड़े कटोरोंमें रस भर-कर ले आईं। अतिथियोंके सामने कटोरे धरकर, दोनोंने पल्ला बिछाकर भूमिपर माथा टेक प्रणाम किया। अंजनाने उनके माथेपर हाथ रखकर आशीर्वचन कहे। लज्जा मिश्रित कौतूहलसे मुस्कराती हुई दोनों बालाएं, अपने इन असाधारण अतिथियोंको बड़े ही विस्मयकी आंखोंसे देख रही

थीं। अंजनाने उनके नाम पूछे, आस-पासकी ग्राम-वसतिकाओंका और इस देशका परिचय पूछा। बालाओंने अस्फुट स्वरमें लजा-लजाकर उसके उत्तर दिये। इतने ही में उधरके कामसे निवटकर वृद्ध कृषक आ पहुंचा। बातचीतमें वृद्धने बताया, कि ये दोनों कन्यायें ही मात्र उसकी संतति हैं। पुत्र कोई नहीं है। पत्नी इन्हीं दो बच्चियोंको अबोधमें शैशवमें छोड़कर परलोक सिधार गई थीं। तबसे उसीने पाल-पोसकर बड़े कष्टसे इन्हें बड़ा किया है, और उन्हींके लिये संसारमें उसका जीवन है। अब कन्यायें सयानी हुई हैं, देखें कौन अतिथि आकर उन्हें सौभाग्यका दान करेगा? लड़कियां सकरुण, सरला आंखोंसे एकटक अंजना और वसंत-की ओर निहार रही थीं। पिताके करुण कंठ-स्वरने उनके मुखड़ोंपर एक निःशब्द रुलाई बिखेर दी थी। अपने बारेमें जब अंजना और वसंतने कुछ भी सूचित नहीं किया, तो वृद्धने भी मर्यादा नहीं लांघी। कुल-शील-का कोई भी प्रश्न उसने अपने मुंहपर नहीं आने दिया। अंजनाने आप ही इतना बता दिया कि वे आदित्यपुरकी रहनेवाली हैं और इस समय यात्रा-पर हैं।

कामका समय होते ही वृद्ध, अपनी दोनों कन्याओंको अतिथियोंकी सेवामें नियुक्तकर, अपना हल उठा, बैलोंको हांकता हुआ खेतपर चला गया। बालाओंसे अंजनाने उनकी दिन-चर्या और काम-काज जाने। फिर आप भी वसंतको साथ ले उनके साथ फलोंके बाग़में चली गई। वहां फल-संचय, फलोंकी छटनी, पक्षियोंसे फलोंकी रक्षाका प्रबंध आदि अनेक कामोंमें वे उनकी सहयोगिनी हुईं। पिताकी आज्ञानुसार, समयपर लाकर लड़कियोंने भोजन अतिथियोंके सामने रखा। जो भी सवेरेके फलाहारकी तृप्तिने भोजनकी आवश्यकता नहीं रहने दी थी, फिर भी लड़कियोंका मन रखनेके लिए अंजना और वसंतने उनके साथ ही बैठकर थोड़ा-थोड़ा भोजन किया। थोड़ी ही देरके साहचर्यमें उन्होंने पाया कि वे बालाएं उनसे ऐसी अभिन्न हो पड़ी हैं, जैसे आदिकालकी सहचरियाँ

ही हों। और तभी अंजनाका मन मर्त्य मानवकी खंड-खंडता और अवश विछोहके प्रति एक अंतहीन करुणासे भर उठा। कैसे समझाए वह इन अबोध बालाओंको—वह सांसारिक जीवन मात्रके भाग्यकी अनिवार्यता—और एकताका बोध जिस केंद्रीय विंदुपर है, वह क्या सहज अनुभव्य है?

सांध्य-फलाहारके बाद बावड़ीकी सीढ़ियोंपर बैठी वसंत और अंजनाके बीच उनके प्रस्थानकी बात चल रही थी। सुनकर वे दोनों लड़कियां उदास हो गई। सूनी, अवसन्न आंखोंसे दिशाओंको ताकती हुई, वे एक-दूसरेसे बिछुड़कर इधर-उधर डोलने लगीं। एकाएक बड़ी लड़की सहमी-सी पास आकर खड़ी हो गई। उसकी आंखोंमें जैसे जन्म-जन्मकी बिछोह कथा साकार होकर मूक प्रश्न कर उठी। अंजना समझ गई। उसने उसे पास खींचकर छातीसे लगा लिया, और बिना बोले ही उसके गालपर हाथ फेरती हुई उसे पुचकारती रही।

लड़की अनायास पूछ बैठी—

"तुम कहां चली जाओगी कल?"

सचमुच अंजनाके पास इस प्रश्नका कोई उत्तर नहीं था। तभी एक अव्याहत आत्मीयताके भावसे उसका सारा प्राण जैसे उसमेंसे स्फूर्त होकर दिगंतके छोरोंतक व्याप्त हो गया।

"कहीं नहीं जाऊंगी, बहन, तुम्हें छोड़कर..। सच मानना, सदा तुम्हारे साथ रहूंगी।....उधर देखो, वह केलेके वनपर संध्या-तारा उगी है न? बस इसे देखकर रोज़ मेरी याद कर लेना, मैं तुम्हारे पास आ जाया करूंगी..!"

दोनों लड़कियां आश्वस्त और प्रसन्न होकर, सामनेके गोशालेमें दूध दुहने चली गई। अंजना और वसंत भी हास्य-विनोद करती उनके साथ दूध दुहने बैठीं। लड़कियोंके आनंदकी सीमा न थी। सकरुण, स्नेहल कंठसे वे अपनी ग्राम्य भाषामें संध्याके गीत गाने लगीं।—

उसमें उस अनजान प्रवासीको संबोधन है जो ऐसी ही संध्यामें एक बार तारोंकी छायामें, राह किनारेके चंपक-वनमें मिल गया था, और फिर लौटकर नहीं आया——नहीं आया रे——नहीं आया वह अतिथि ! ऐसी ही कुछ अंतहीन थी उस गीतकी टेक। विमुग्ध और निर्लिप्त करुणाके कंठसे समझे-बेसमझे वे लड़कियां उस गीतको गाती जा रही हैं। दूरपर ग्रामका कोई एकाकी दीप टिम-टिमाता दीख जाता है। अंजना अपने आंसू न रोक सकी——और अपने बावजूद वह उन लड़कियोंके सुरमें सुर मिलाकर गा उठी।——वृद्ध पास ही के गांवमें किसी कामसे गया था। लौटनेपर उसने झोंपड़ेके आंगनमें चारपाइयां डालकर बिछोने बिछा दिये और अतिथियोंसे आराम करनेके लिये अनुनय की। अंजनाने कहा कि उनके सौहार्द्रकी वे बहुत-बहुत कृतज्ञ हैं, पर भूमि-शयन ही उन्हें स्वभावसे प्रिय है। वृद्ध इस बातके लिये वृथा खेद न करें। बाड़के बाहर खुली चांदनीमें ही अंजना और वसंत दुपहरके तोड़े हुए केलेके पत्ते बिछाकर, हाथके सिरहाने लेट रहीं।

सवेरे ही ब्राह्म-मुहूर्तमें उठकर, नित्य-कर्मसे निवृत्त हो अंजनाने वसंतसे कहा——

"अब एक क्षण भी यहां रुकना इष्ट नहीं है, बहन। जिन्हें अपनाकर, सदा अपने साथ रखनेकी शक्ति मुझमें नहीं है, उन्हें ममत्वकी मरीचिकामें उलझाकर दुख नहीं देना चाहूंगी। तुरंत अभी यहांसे चल देना है। बिछोहका आघात पीछे छोड़कर जाना मुझसे न बनेगा। इस ब्राह्म-बेलामें, प्रभुसे मेरी यही विनती है कि, वह मुझे ऐसी शक्ति दे कि मैं सदाके लिये इन सोई हुई निरीह बालाओंकी हो सकूं——मैं सदा इनके साथ रह सकूं !"

चलनेसे पहले पास जाकर दोनों सोई लड़कियोंके सिर अंजनाने दूरसे ही सूंघ लिये। फिर चुपचाप एक ओर सोये वृद्धको जगाकर बिदा मांगी। वृद्धके विवश स्नेहानुरोधका अंजनाने यही उत्तर दिया

कि प्रभु हम सबके सर्वदा साथ हैं, फिर हम अलग-अलग कहां हैं, उसी मंगल-कल्याणमयके प्रेममें अनेक जन्मोंमें अनेक बार मिले हैं, और फिर मिलेंगे . . !

और दोनों बहनें चल दीं अपने पथपर ।

ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती जाती हैं, आंखोंके सामने क्षितिजकी रेखा धुंधली होती हुई, परे हटती जाती है । यात्राका कहीं अंत नहीं है । अनेक देश, पुर-पत्तन, नदी, ग्राम, खेत-खलिहान पार करती, वे योजनोंकी दूरी लांघती जा रही हैं ।––आसन्न संध्याकी वेलामें, राहके किसी ग्रामके किनारे, किसी भी खेतके झोंपड़ेमें, मनुष्यके द्वारपर जाकर वे आश्रय ले लेती हैं । भिक्षाकी तरह उनके आतिथ्यका दान सहज ग्रहण कर लेती हैं । रात वहीं बिताकर सवेरे फिर चल देती हैं, अपने पथपर । अंजना इन दिनों प्रायः मौन रहती है । अपनेको धारण करनेवाली धरती, जल, फल-फूल, अन्नसे भरी दाक्षिण्यमयी प्रकृति और आस-पास बिखरी हुई मानवता, सबके प्रति एक गहरी कृतज्ञताके भारसे वह दबी जा रही है । उन सबसे जीवन लेकर, वह उन्हें क्या दे पा रही है ? देने योग्य कुछ भी तो नहीं है उसके पास । अपनी अक्षमता और अल्प-प्राणताको लेकर उसका मन अपनी लघुतामें निःशेष हो जाता है । और बाहर फैलनेकी प्राणकी व्यथा उतनी ही अधिक घनी और अपरिसीम हो उठती है । उसके आस-पास अभ्यर्थना लेकर जो ये निरीह ग्राम-जन घिर आते हैं, उनकी आंखोंमें वह एक निस्पृह अपेक्षाका भाव देखती है। जाननेकी––परि-चयकी वही सहज सनातन उत्कंठा तो है उन आंखोंमें । उस निर्दोष दृष्टिमें छिद्र खोजनेकी कुटिलता कहां है ? है केवल बंदिनी आत्माकी अपनी सीमाकी वह अंतिम विवशता । वह तो है वही अनंत प्रश्न । मनुष्यकी नीरव दृष्टिमें जब उसकी पुकार सुनाई पड़ती है, तो जैसे उत्तर दिये बिना निस्तार नहीं है । उसके बिना अपने पथपर आगे बढ़ना संभव नहीं है । यात्राका मार्ग धरती और आकाशके शून्यमें होकर नहीं है ।

उन प्रश्नसे व्यग्र आंखोंकी अनिवार्य लगनेवाली रुद्धतामें होकर ही वह मार्ग गया है ।

तब अंजनाका मौन अनायास वाणीमें मुखर हो उठता । वह अपना परिचय देती । व्यक्ति-सीमाओंसे ऊपर होकर वह परिचय. सर्वगत और सर्व-स्पर्शी हो पड़ता । भोलेभाले जिज्ञासु ग्राम-जनोंकी उत्सुकता विशालतर हो उठती । क्षुद्र व्यक्ति मानो अणु बनकर उस विस्तारमें खो जाता । अंजना गौण हो जाती, स्वयं वे ग्राम-जन गौण हो जाते । केवल एक समग्रके बोधमें, वे अपने ही आत्म-प्रकाशके आनंदसे आप्लावित हो उठते । तब व्यवहारकी रोक-टोक, पूछ-परछ वहां आते-आते निःशब्द होकर बिखर जाती । पर एक रातसे अधिक वे कहीं भी न ठहरतीं । इसी क्रमसे आगे बढ़ते, जाने कितने दिन बीत गये ।

वसंतने सोचा कि उसका रास्ता अब सुगम हो गया है । उसने पाया कि अंजना अब ज़रा भी उदासीन या विरक्त नहीं है । बाहरके प्रति, लोकके प्रति, जीवनके प्रति वह खुली है, प्रेममय है । वह अपने आस-पास घिर आये मनुष्योंमें घुलती-मिलती है, हास-परिहास करती है । उनके प्रति वह आश्वस्त है, और असंदिग्ध आत्मीयता और एकताके भावसे बरतती है । तब उसने सोचा कि अब किसी ग्राम-वसतिकामें अंजनाको लेकर वह ठहर जायगी, और कुछ दिनके लिये घर बसा लेगी । बाधाका अब कोई कारण नहीं दीखता । केवल अवसर और निमित्तकी प्रतीक्षामें वह थी ।

एक गांवके बाहर जब इसी तरह, ग्राम-पथकी एक पांथ-शालामें वे ठहरी हुई थीं, तभी अंजनाकी पीड़ा उसके बशके बाहर हो गई । ग्राम-जनोंके सहाय्य और सेवा-सुश्रुषासे एक-दो दिनमें वह स्वस्थ हो चली । अपनी यात्रामें पहली ही बार वे यहां लगातार तीन दिन ठहर गई थीं । अपने अस्वास्थ्य और मूर्छाकी अवस्थामें अंजनाको भान हुआ कि उसके

आस-पासके जनोंमें कुछ काना-फूसी है। कुछ लोक-सुलभ पहेलियां, संकेतोंकी भाषामें लोगोंकी जबानपर आ गई हैं।---अंजनाने पाया कि इन प्रश्नोंका उत्तर देना ही होगा!---वह किसकी पुत्री है, किसकी पुत्र-वधू है, गर्भावस्थामें क्यों वह, राह-राह भटकती विदेश-गमनको निकल पड़ी है? क्या अपने कुल, शील, लज्जाका उसे कुछ भी भय नहीं है? गर्भवती माता होकर वह निश्चय ही गृहिणी है---भिक्षुणी वह नहीं है। यदि वह गृहिणी है तो लोककी भिक्षापर जीनेका उसे क्या अधिकार है? इन सबका अन्न खाकर, यदि उसे इन सबके बीच रहना है---तो उसे इन लोक-संगत प्रश्नोंका उत्तर देना ही होगा। नहीं तो अनजाने ही शायद इन्हें धोखा देनेका अपराध उससे हो रहा है। पर इन सारे प्रश्नोंके स्थूल उत्तर क्या वह दे सकती है? नहीं: अपने ही उदयागत पापोंका भार, इन सारे दुखोंके निमित्त मात्र होनेवाले---अपने आत्मीयोंपर डालनेका गुरुतर अपराध उससे न हो सकेगा। और 'वे'---? मौतके मुंहमें उन्हें ढकेलकर उनके नामको कलंकित करती फिरूंगी---? भीतर ही भीतर अंजनाके आत्म-परितापकी सीमा न थी। जो भी बाहरसे वह प्रसन्न और स्वस्थ ही दीखती।

एक दिन सुयोग पाकर बहुत ही डरते-डरते वसंतने अंजनासे अनुरोध किया कि अब यों निर्लक्ष्य आगे बढ़नेमें सार नहीं है; यात्राका श्रम अब अंजनाके लिये उचित नहीं। जाने कब किस आपदासे वे घिर बैठें, सो क्या ठीक है। अब इसी ग्राममें दो-तीन महीनोंके लिये उन्हें टिक जाना चाहिये। यहीं सुख-पूर्वक प्रसव-कार्य संपन्न हो जायगा। तब आगेकी आगे देखी जायेगी। वसंत स्वयं श्रम करके कुछ अर्जन कर लेगी, और यों स्वावलंबी होकर वे चला लेंगी। पर अंजना पहले ही अपने मनमें निश्चय कर चुकी थी। अविचलित, परंतु अथाह वेदनाके स्वरमें उसने उत्तर दिया---

'नहीं जीजी, भूल रही हो तुम।---अब एक क्षण भी यहां ठहरना

संभव नहीं है। सवेरे ही यहांसे चल देना होगा। जन-पद और ग्राम-पथ छोड़ अब तुरंत बनकी राह पकड़नी होगी। भोले-भाले ग्राम-जनोंको आज-कलसे नहीं, बहुत दिनोंसे जानती हूं। आदित्यपुरकी वसतिकाओंमें उन्हें पाकर एक दिन मैंने अपने जीवनको कृतार्थ किया था। उनके प्रति किंचित भी अविश्वास या अश्रद्धा मनमें ला सकूं, ऐसी कृतघ्न मैं नहीं हो सकूंगी। इसीसे तो अबतककी यात्रामें, निधड़क उनके द्वार जाकर विश्राम खोजा है। पर देखती हूं कि उनके बीच रहनेकी पात्रता भी अब मेरी नहीं है। वे भी तो एक लोकालयके और लोक-समाजके अंग हैं। उनके भी अपने कुल-शील मर्यादाके नीति-नियम हैं। मेरा उनके बीच यों जाकर बस जाना, उनके भी तो लोकाचार-की मर्यादाको चोट ही पहुंचायेगा। एक पूरे समाजकी शांतिको भंगकर, यदि उन्हें देनेको समाधानका कोई उत्तर मेरे पास नहीं है, तो वहां मैं एक बहुत बड़े असत्य और लोक-घातकी अपराधिनी बनूंगी।—तुम्हीं बताओ जीजी, यह सब मैं कैसे कर सकूंगी? देख नहीं रही हो, जिस तरहके प्रश्न और चर्चाएं ग्राम-जनोंके बीच चल पड़ी हैं—? चलनेके दिन ही तुमसे कह चुकी थी कि, वनके सिवाय और वास मेरे लिये इस समय कहीं भी नहीं है। राहके ये विश्राम तो सहज आनुषंगिक ही थे। मनुष्यके प्रेमका पाथेय विपदकी राहके लिये जुटा लेनेकी इच्छा थी। वह प्रसाद पा गई हूं—अब चल देना होगा जीजी..."

वसंतने बार-बार अनुभव किया है कि अंजना तर्ककी वाणी नहीं बोलती है। आत्म-वेदनाका यह सहज निवेदन, सुननेवालेके मनपर अग्नि के अक्षरोंमें ज्वलित हो उठता है। उसपर क्या वितर्क हो सकता है? वसंत चुप हो गई। अगले सबेरेके आलोकसे भर आते अँधेरेमें, उन्होंने पग-डंडियां छोड़कर बनकी राह पकड़ी—अनिश्चित और रेखाहीन..!

[२६]

दिनका उजाला जब झांकने लगा था तब उन्होंने पाया कि पलाश, बबूल और खजूरोंके एक घने वनमें वे घुसी जा रही हैं। जहां तक दृष्टि जाती है, खजूरोंके कटीली छालवाले तने घने होते दीख पड़ते हैं। बनकी इस अखंड गंभीर निस्तब्धतामें मानो प्रेतोंकी छाया-सभा अविराम चल रही है। बीच-बीचमें सागी और शीशमके बड़े-बड़े पत्तोंवाले वृक्षोंकी घनी झाड़ियोंके प्रतान फैलते ही चले गए हैं। मर्त्य मानवकी असंख्य निपीड़ित इच्छाएं विकराल भूतों-सी एक साथ जैसे भूमिसे निकल पड़ीं हैं, और अपने ही ऊपर दिन-रात एक मूक व्यंगका अट्टहास कर रही हैं।—और लगता है कि खजूरोंके तने अभी-अभी कुछ बोल उठेंगे, पर वे बोलते कुछ नहीं हैं। निस्तब्धता और भी घनी हो उठती है। और वही मूक आक्रंद भरा हास्य दूर-दूरतक और भी तीखा होता सुनाई पड़ता है। मलय और सल्लकीकी गंधसे भरा प्रभातका शीतल पवन डोल-डोल उठता है। पलाश, सागी और शीशमके प्रतान हहरा उठते हैं। वनानीके प्राणमें सुदीर्घ व्यथाका एक उच्छ्वास सरसरा जाता है। सृष्टिके हृदयका करुण संगीत नाना सुरोंमें रह-रहकर बज उठता है। और चिरौंजी-वृक्षकी शाखामें दो-तीन नीली और पीली चिड़ियाएँ 'कीर-कीर'-'टीर-टीर' प्रभाती गा उठती हैं।

अंजना जैसे अवचेतनके अंधेरे द्वारोंको पार करती चल रही थी। पंखियोंका प्रभात-गान सुन उसकी तंद्रा टूटी। ऊपर हिलते हुए पत्रोंमें आकाशकी शुचि नीलिमा रह-रहकर झांक उठती है। मुस्कराकर कौन अनिंद्य, कांत, युवा मुख आंख-मिचौनी खेल रहा है? उसे पकड़ पानेको उसके मन प्राण एक-बारगी ही उतावले हो उठे।..पर चारों ओर रच दी है उसने यह भूल-भुलैयाकी माया! जिधर जाती हैं उधर ही संकुल और भयावह झाड़-झंखाड़ोंसे राह रुँधी है। पैरों तलेकी धरती बहुत विषम और ऊबड़-खाबड़ है। ढेर-ढेर जीर्ण पत्तोंसे भरे तल-देशमें

पैर धँस-धँस जाते हैं। भूशायी कटीली शाखाओंके जालोंमें पैर उलझ जाते हैं। सैकड़ों सूक्ष्म कांटे एक साथ पगतलियोंमें बिंध जाते हैं। लड़-खड़ाती, पेड़ोंके तनोंसे धक्के खाती, एक-दूसरीको थामती दोनों बहनें चल रही हैं। पैर कहां पड़ रहे हैं उसका भान ही भूल गया है।—अरे इस मायावीकी भूल-भुलैयाका तो अंत ही नहीं है!—हाथपर ताली बजाकर वह भाग जाता है।—अंजना शून्यमें हाथ फैला देती है। पर वहां कोई नहीं दिखाई पड़ता। चारों ओर उगी घास और संकुल झाड़ियोंमें डूबती-उतराती वह बढ़ती ही जाती है। चलते-चलते गतिका वेग अदम्य हो उठा है। अंजनाके पीछे उसके कंधों और कमरको हाथसे थामे वसंत चल रही है। पर गतिके इस वेगको थामनेकी शक्ति उसमें नहीं है। इस वात्या-चक्रमें एक धूलि-कण या तिनकेकी तरह वह भी उड़ी जा रही है।

....पत्तोंके हरियाले वितानमें अंजनाको उस युवाके उड़ते हुए वसनका आभास होता है..। आस-पाससे शरीरको छूता हुआ वह प्राणोंको एक मोहकी उन्मादक गंधसे आकुल-व्याकुल कर जाता है।.. मुँदी आंखों, वे शून्यमें फैली हुई भुजाएं उसे बांध लेना चाहती हैं। वह हरियाला कोमल पट हाथ नहीं आता। केवल कटीली शाखाओंके कांटे वक्षमें बिंध जाते हैं। खजूरोंके उन असंख्य, काले, कुरूप तनोंकी सरणिमें, वह मुस्कराहट और वह किरीटकी आभा झांककर ओझल हो जाती है। अंजना झपटती है। किसी एक खजूरके तनेसे जाकर टकरा जाती है। शून्यकी थकी भुजाएं विह्वल होकर उस तनेको आलिंगन-पाशमें बांध लेती हैं। प्यारके उन्मेषमें उस कटीली छालपर वह लिलार और कपोलोंसे रभस करती हुई बेसुध हो जाती है। मानो उस समूची परुषता और प्रहारकताको अपनी कोमलतामें समाकर वह निःशेष कर देना चाहती है। वसंत उसे पीछेसे खींचकर, उसकी पीठको अपनी छातीसे लगाये रखनेके सिवा और कुछ भी नहीं कर पाती है। भीतर रुदन और

चीत्कारें गुंगला रही हैं। चारों ओरसे चोटपर चोट, आघातपर आघात लग रहा है। एक आघातकी वेदना अनुभव हो, उसके पहले ही दूसरा प्रहार कहींसे होता है। पैर किसी गड्ढेमें धँस रहा है, निकल पाना मुश्किल हो गया है, कि उधर माथा किसी कटीली शाखा या तनेसे जा टकराया है। रास्ता चारों ओरसे भूल गया है। इधरसे उधर और उधरसे इधर वे टकराती, चक्कर खाती फिर रही हैं। चेहरेपर और देहमें रक्त और पसीना एकमेक होकर वह रहा है। शरीरके रोएं-रोएंसे पीड़ा और प्रहारका वेदन वह उठा है—और उसी प्रश्रवणमें आकर, अंतरके गंभीर आंसू भी खो जाते हैं। जैसे उनकी कुछ गिनती ही नहीं है। अपनी ही करुणाके प्रति भीतर वे अत्यंत निर्दय और कठोर हो गयी हैं। अरे, इस पापिन देहपर और करुणा, जिसके कारण ही यह सब झेलना पड़ रहा है।—छिल-छिलकर, बिध-बिधकर इसका तो निःशेप हो जाना ही अच्छा है। और भीतर प्रहार लेनेके लिए भी एक अदम्य आकर्षण और वासना जाग उठी है। उसीसे खिंची हुई बेतहाशा और अनजाने वे अपनेको उस अदृश्य और अमोघ धारपर फेंक रही हैं। वह धार जो चेतनको अचेतनके आवेष्ठनसे मोह-मुक्त कर देगी। कि फिर नग्न और अघात्य चेतन इस सारी प्रहार-लीला और अवरुद्धतामेंसे अंतर्गामी होकर अनाहत पार होता चले।

....फिर एक सुदीर्घ वेदनाके आक्रंद-उच्छ्वाससे वन-देश मर्मरा उठा। अंजनाको हल्का-सा चेत आया। सर-सर करते हुए दो-चार पीले पत्ते ऊपरसे झर पड़े। उसने पाया, उस निबिड़, निर्जन अटवीमें, पुरातन पत्रोंकी शय्यापर वह लेटी है। पास बैठी वसंत मूक-मूक आंसू टपका रही है। उसने देखा कि उसकी जीजी की सारी देह और चेहरा, जहां-तहां कांटोंसे बिंधकर क्षत-विक्षत हो गया है। क्षतोंमेंसे रह-रहकर रक्त वह रहा है। अश्रु-निबिड़ आंखोंसे, एक विवश पशुकी तरह, पुत-लियोंमें तीव्र जिज्ञासा सुलगाये, वसंत उस अंजनाकी ओर ताक रही

है ।——उस वेदनाके दर्पणमें अंजनाने अपना प्रतिबिंब देख लिया ।——लगा कि लोहित अनुरागसे झरते हुए पद्म-संपुटसे वे ओंठ फिर मुस्करा उठे हैं..! कैसा दुर्दाम और भयावह है यह संमोहन, यह आवाहन ।——उसने पाया कि रक्तांबर ओढ़े वह अभिसारके पथपर चल रही है ।...

...और सुदूर क्षितिजकी धुंधली रेखापर उसे दीखा : आकाशकी अनंत नीलिमाको चीरता वह युवा चला आ रहा है । शिशु-सी अबोध है उसकी मुस्कराहट । शुभ्र हिम-पर्वतोंका वह मुकुट धारण किये है । वक्षपर पड़ी हैं वनोंकी मालाएं । और कटिके नीचे सात समुद्रोंके जल वसन बनकर लहरा रहे हैं । भुजमूलोंमें अतल खाइयोंकी अंधकार-राशि झांक रही है । उसका लाल फूलोंका धनुष तनता ही जा रहा है, और उसकी मोहिनी पथ बनकर पैरोंको खींच रही है..!

वसंत अपने आंचलसे, अंजनाके शरीरमें, जहां-तहां निकल आये रक्तको पोंछ रही थी । कि अंजनाने एकाएक उसका हाथ पकड़कर थाम लिया और हँसती हुई बोली——

"इस छविको मिटाओ नहीं जीजी, राहकी रेखा यही तो है ।——लो चलो, रुकने का धीरज अब नहीं है । पुकार प्राणोंको बींध रही है । विलंब न करो, मिलनकी लग्न-बेला टल जायेगी..!"

"पर अंजन, कहां चल रही हो ? यहां रास्ता जो नहीं दीख रहा है..?"

बिना उत्तर दिये ही अंजना उठ बैठी और वसंतका हाथ पकड़ उसे खींचती हुई फिर बढ़ गई——उसी झंखाड़ों से घिरी बनकी विजन बाटमें ।

दोपहरी का प्रखर सूर्य जब ठीक माथेपर तप रहा था, तब वे उस खर्जूर-वनको पारकर खुले आकाशके नीचे आगई । सामनेसे चली गई है वन्य-नदीकी रेखा । रुपहरी बालूकी स्निग्ध उपल-सेजमें, जलकी धारा लीन होती-सी लोट रही है । दूर-दूरतक सुषम वन-श्रीको चीरती

हुई, नाना भंग बनाती, कहीं-कहीं वनके गहन अंकमें जाकर वह खो जाती है। आगे जाकर धारा पृथुल हो गई है, और वनच्छायासे कहीं श्याम, कहीं जामनी और कहीं पीली होती दीख पड़ती है। पुलिनोंमें लहलहाती कासमें शरदकी श्री खिलखिला रही है।

रुककर अंजना बड़ी देर तक, दूर जहां नदी के अंतिम भंगकी रेखा खो गई है, दृष्टि गड़ाये रही, फिर वसंतके गलेमें हाथ डालकर बोली——

"कैसी कोमल, उजली और स्निग्ध है यह पथकी रेखा, जीजी! वनके इस आंचलमें यह छुपी है, पर कितने लोग इसे जानते हैं? किस अज्ञात पर्वतकी बालिका है यह नदी? अनेक विजनोंकी जड़ीभूत रुद्धता-मेंसे, जलकी इस धाराने अपना पथ बनाया है।——और पीछे छोड़ गई है पथिकोंके लिए विश्रामकी मृदुल शय्या। अवरोध है, इसीसे तो मार्गका अनुरोध है। अवरोधोंको भेदकर ही वह खुलेगा। मार्गकी रेखाएं पृथ्वीमें पहले ही से खिची हुई नहीं हैं। जीवनी-शक्ति सतत गतिमान है——मनुष्य चल रहा है कि मार्ग बनता गया है! पहले कोई चला है, तभी वह बना है। आदि दिनसे वह नहीं था.."

नदीकी धाराको पार कर, आगे जानेपर उन्हें सल्लकी लताके मंड-पोंसे घिरी एक वन्य-सरसी दीख पड़ी। उसके बीचके ऊर्मिल जलमें शरदके उजले बादलोंका प्रतिबिंब पड़ रहा है, और तटोंमें घनी शीतल छाया है। लता-मंडपमें हथनियोंका एक यूथ, सल्लकीकी गंधमें मस्त होकर झूम रहा है। पास आनेपर दीखा, सामनेके तटकी एक शिलापर एक जरठ-जीर्ण भीलनी नहा रही है। सारे बाल उसके सफ़ेद हो गये हैं। अपने काले शरीरपर दोनों हाथोंसे मिट्टी मल-मलकर वह उसे स्वच्छ कर रही है।

अंजनाने कौतूहलसे उसे देखा, फिर हँस आई और दोनों हाथ जोड़ उसे प्रणाम किया। भीलिनीके मिट्टीमें भरे हाथ अधरमें उठे रह गये। वह नहाना भूलकर उस पार आश्चर्यसे देखती रह गई। उसकी पुरातन

गर्दन वर्गद-सी हिल उठी। इस जंगलमें युग-युग उसने बिता दिये हैं, कई चमत्कार उसने देखे सुने हैं, पर रूपकी ऐसी माया कभी न देखी !

अंजना हाथका सिराहना बनाकर तटकी शाद्वल हरियालीपर लेट गई, और तुरंत उसकी आंख लग गई। वसंतको न सोये चैन है न बैठे। अपने अपनत्वको रख सकनेका बल उसमें नहीं है। बालककी तरह क्षण मात्रमें ही अभय होकर सो गई, इस विपदा-ग्रस्त, पागल लड़कीके चेहरेमें, घूम-फिरकर उसकी दृष्टि आ अटकती है। उसकी मन, वचन, कर्मकी शक्तियां इस लड़कीसे भिन्न होकर नहीं चल पा रही हैं। उसकी संज्ञाके केंद्रमें है अंजना। एक मौन रुदनका झरना उसकी आंखोंसे रह-रहकर झर रहा है। अंजनाकी सारी वेदना आकर उसकी आत्मामें पुंजीभूत और सघन हो रही है। भीलनीको पाकर वसंतकी जिज्ञासा तीव्र हो उठी, जो भी उसे देखकर भयसे वह कांप-कांप आई। पर वनकी इस भयानक निर्जनतामें यह पहली ही मानवी उसे दीखी है, सो बरबस उसकी ओर एक आदिम आत्मीयताके भावसे वह खिंची चली गई। पास पहुंचकर उसने भीलनीको ध्यानसे देखा। बुढ़ियाके सैकड़ों झुर्रियोंवाले मुखपर गुफ़ा-सी ऊंडी कोटरोंमें, माशालों-सी दो आंखें जल रही थीं। चट्टान-से उसके शरीरमें जहां-तहां झंखाड़ोंसे सफ़ेद बाल उगे थे। वसंतने हिम्मत करके उससे पूछा कि आगे जानेको सुगम रास्ता कहांसे गया है ?

भीलनी पहले तो बड़ी देर तक, सिरसे पैर तक वसंतको बड़े ग़ौरसे देखती रही। फिर रहस्यके गुरु-गंभीर स्वरमें बोली--

"इधर आगे कोई रास्ता नहीं है। क्या इधर मौतके मुंहमें जाना चाहती हो ? आगे मातंग-मालिनी नामकी विकट बनी है। महाभयानक दैत्यों और क्रूर जंतुओंका यह आवास है। मनुष्य इसमें जाकर कोई नहीं लौटा। पुरातनके दिनोंमें, सुना है, कई शूर नर निधियोंकी खोजमें इस वनीमें गये, पर लौटकर फिर वे कभी नहीं आये। भूलकर भी इस

राह मत जाना ! रास्ता नदीके उस तीरपर होकर है। अपनी कुशल चाहो तो उधर ही लौट जाना।"

इतना कहकर वसंत और कुछ पूछे, इसके पहले ही भीलिनी वहांसे चल दी। द्रुत पगसे चलती हुई सल्लकीके प्रतानोंमें वह तिरोहित हो गई।

थोड़ी ही देरमें अंजनाकी जब नींद खुली, तो वह तुरंत उठ बैठी। गतिकी एक अनिर्वंध हिल्लोलसे जैसे वह उछल पड़ी। बिना कुछ बोले ही वसंतका हाथ खींचकर सामनेकी उस अरण्यमालाकी ओर बढ़ी। तब वसंतसे रहा न गया, झपटकर उसने अंजनाको पीछे खींचा--

"नहीं अंजनी..नहीं...नहीं..नहीं..नहीं..जाने दूंगी इस बनीमें --आह मेरी छौना-सी अंजन, यह क्या हो गया है तुझे ? अब तक तेरी राह नहीं रोकी है--पर इस बनमें नहीं जाने दूंगी। मनुष्यके लिये यह प्रदेश अगम्य और वर्जित है। इसमें जाकर जीवित फिर कोई नहीं आया। अभी तेरे सो जानेपर उस बूढ़ी भीलिनीसे मुझे सब मालूम हुआ है।"

कहकर उसने भीलिनीसे जो कुछ जाना था वह सब बता दिया। अंजना खिल-खिलाकर ज़ोरसे अट्टहास कर उठी--बोली--

"मनुष्यके लिये अगम्य और वर्जित कहीं कुछ नहीं है, जीजी ! इन्हीं मिथ्यात्वोंके जालोंको तो तोड़ना है। अभी-अभी मैंने सपना देखा है, जीजी, इसी अरण्यको पाकर हमें अपना आवास मिलेगा। इसी अटवीके अंधकारमें पथकी रेखा मैंने स्पष्ट प्रकाशित देखी है।--राह निश्चित वही है, इसमें राइ-रत्ती संदेह नहीं है।--देर हो जायगी जीजी, मुझे मत रोको.."

कहकर अंजनाने एक प्रबल वेगके झटकेसे अपनेको वसंतसे छुड़ा लिया और आगे बढ़ गई। झपटकर वसंतने आगे जा, अंजनाकी राह रोक ली, और भूमिपर गिर पड़ी। उसके पैरोंसे लिपटकर चारों

ओरसे अपनी भुजाओंमें दृढ़तासे कस लिया और फफक-फफककर रोने लगी। रुदनके ही उद्विग्न स्वरमें बोली--

"नहीं जाने दूंगी....हर्गिज़ नहीं जाने दूंगी....ओह अंजनी....मेरी फूल-सी बच्ची--तुझे क्या हो गया है यह? ऐसी भयानक--ऐसी प्रचंड हो उठी है तू....? तेरी सारी हठोंके साथ चली हूं, पर यह नहीं होने दूंगी। देखती आंखों कालकी डाढ़ोंमें तुझे नहीं जाने दूंगी। और फिर भी तू नहीं मानेगी तो प्राण दे दूंगी। फिर अपनी जीजीके शवपर पैर रखकर जहां चाहे चली जाना।"

. अंजनाके रोम-रोममें वेगकी एक बिजली-सी खेल रही है।--पर वसंतकी बात सुनकर वह दुर्दाम लड़की जैसे एक बारगी ही हत-शस्त्र सी हो गई। धप्से वह नीचे बैठ गई और अपनी जीजीको उठाया। फिर आप उसकी गोदमें सिर रखकर रो आई और आंसुओंसे उमड़ती आंखोंसे वसंतके मुखको मौन-मौन ही बहुत देरतक ताकती रही। फिर अनुरोध कर उठी--

"क्षमा करना जीजी, अपने पापोंके इस अतलांत नरकमें घसीट लाई हूं मैं तुम्हें--! बराबर तुमपर अत्याचार ही करती जा रही हूं। घोर स्वार्थिनी हूं, अपने ही मोहमें अंधी होकर मैं तुम्हें रसातलमें खींच रही हूं, जीजी।....पर आह जीजी, मेरे प्राण मेरे वशमें नहीं हैं....यह कौन है मेरे भीतर जो करोड़ों सूर्योंके रथपर चढ़कर विद्युत्के वेगसे चला आ रहा है....प्राणोंको यह दिन-रात खींच रहा है....इसी अरण्य-मालामें होकर जायेगा इसका रथ!....तुम कुछ करके मुझे रोक सको तो रोक लो....पर रुकना मेरे वसका नहीं है!....रुककर जैसे रह नहीं सकूंगी....! तुम जानो, जीजी...."

कहकर अंजना चुप हो गई। उसकी मुंदी आंखोंसे आंसू अविराम झर रहे थे। देखते-देखते अंजनाके उस मुखपर एक विषम वेदना झलक उठी। वक्ष और पेट तीव्र श्वासके वेगसे हिलने लगे। वसंतने देखा

और भीतर ही भीतर गुन लिया : अंजनाको बड़ा ही कठिन दोहेला (गर्भिणी स्त्रीकी वह विचित्र साध, जिसकी पूर्ति अनिवार्य हो जाती है) पड़ा है। निश्चय ही इस साधकी पूर्तिके बिना इसके जीवनकी रक्षा संभव नहीं है। नहीं जाने दूंगी तब भी यह प्राण त्याग देगी, और जाने दूंगी तो जो भाग्यका लिखा है, वही हो रहेगा। जाने कौन महाहतभागी जीव इसके गर्भमें आया है, जो आप भी ऐसे दारुण कष्ट झेल रहा है, और अपनी जनेताके भी प्राण लेकर ही जो मानो जन्म धारण करेगा। और अंजनासे अलग हटाकर, अपने ही लिये अपने जीवनकी रक्षाका विचार करनेकी स्थिति तो अब बहुत पीछे छूट गई थी। नये सिरेसे आज उसे अपने बारेमें कुछ भी सोचना नहीं है। भीतर उसे लगा कि जैसे वह सारा घुमड़ता रुदन एकबारगी ही शांत हो गया है। आप स्वस्थ होकर थोड़े जल और मिट्टीके उपचारसे उसने अंजनाको भी स्वस्थ कर लिया। फिर हँसती हुई बोली---

"जहां तेरी इच्छा हो वहीं चल, अंजन! भगवान् मंगलमय हैं। उनकी शरणमें रक्षा अवश्य होगी।"

××× यह मातंग-मालिनी नामकी अटवी, पृथ्वीके पुरातन महावनोंमेंसे एक है, जो अपनी अगमताके लिये आदिकालसे प्रसिद्ध है। आस-पासके प्रदेशोंमें इस वनीके बारेमें परंपरासे चली आई अनेक दंत-कथाएं प्रचलित हैं। कहते हैं इसकी तहोंमें अनेक अकल्पनीय ऋद्धिसिद्धि देनेवाले रत्नोंके कोष, महामृत्युकी आतंक-छाया तले दिवा-रात्रि दीपित हैं। इसमें पाताल-स्पर्शिनी वापिकाएं हैं, जिनसे निकलकर पृथ्वीके आदिम अजगर, वनस्पतियोंकी निविड़ गंधमें मत्त होकर लोटते रहते हैं। अनेक विजेता, विद्याधर, किन्नर गंधर्व, अपने बल-वीर्य और विद्याओंपर गर्वित हो, निधियां पानेकी कामना लेकर इस वनमें घुसे और लौटकर नहीं आये!

अंजना और वसंतने अपने नामशेष, रक्तभरे आंचलको भूमिपर

बिछाकर, मृत्युंजयी जिनको साष्टांग प्रणाम किया। उठते हुए अंजनाने पाया कि टूटकर आये हुए नक्षत्र-सा एक पंछी उसके दायें कंधेपर आ बैठा है। स्थिर ज्वालाओं-सा वह जगमगा रहा है—देखकर आंखें चुंधियाती हैं। अंजना सिरसे पैरतक थर-थरा आई और सहमकर मुंह फेर लिया। पक्षी उड़कर उसी अरण्य-वीथीके भीतर, एक ऊंची शाखापर जा बैठा। अंजनामें कंप और उल्लासकी हिलोरें दौड़ने लगीं। उसका सारा शरीर एक अपूर्व रोमांचसे सिहर उठा। अनायास अंजना, उस अनल-पंछीको पकड़नेके लिये उस वन-वीथीमें लपक पड़ी, और उसके ठीक पीछे ही दौड़ पड़ी वसंत। उनके देखते-देखते दूर-दूर उड़ता हुआ वह पंछी, उस वनके अंतरालमें जाने कहां अलोप हो गया।—और उस महाकांतारमें बेतहाशा दौड़ती हुई वे उसे खोजने लगीं।—

....ज्यों-ज्यों वे दोनों आगे बढ़ रही हैं, अंधेरा निविड़तर होता जाता है।—देखते-देखते आकाश खो गया है, तल असूझ हो रहा है। पग-पगपर भूमि विषम-तर हो रही है। झाड़-झंखाड़ोंमें भालोंके फलोंसे तीक्ष्ण पत्ते और कांटे चारों ओरसे देहमें विंध रहे हैं। पाताल-जलोंसे सिंचित सहस्रावधि वर्षोंके पृथ्वीके आदिम वृक्ष, बृहदाकार और उत्तुंग होकर आकाशतक चले गये हैं। उनके विपुल पल्लव-परिच्छदमें सूर्यकी किरणका प्रवेश नहीं है। तमसाके इस साम्राज्यमें दिन और रातका भेद लुप्त हो गया है। समयका यहां कोई परिमाण नहीं, अनुभव भी नहीं। प्रकांड तमिस्राकी गुफाएं दोनों ओर खुलती जाती हैं। पृथ्वी और वनस्पतियोंकी अननुभूत शीतल गंधमें अंजना और वसंतकी बहिश्चेतना खो गई है। केवल अंतश्चेतनकी धाराएं अपने आपमें ही प्रकाशित, इस अभेद्यतामें बही जा रही हैं। आदिकालके पुंजीभूत अंधकारकी राशियां चारों ओर विचित्र आकृतियां धारणकर नाच रही हैं। अंजनाको दीखा, आत्माके अनंत स्तरोंमें छुपे नाना अप्रकट पाप और तृष्णाएं यहां नग्न होकर अपनी लीला दिखा रहे हैं। पर्वताकार तमकी अंध लहरें बनकर

वे आते हैं, और आत्मापर रह-रहकर आक्रमण कर रहे हैं।....और तब भीतर अंजनाको एक झलक-सी दीख जाती : दीखता कि वह करोड़ों सूर्योंके रथपर बैठा युवा एक कोमल भ्रूभंग मात्रमें उन्हें विदीर्णकर, अपना रथ अरोक दौड़ाये जा रहा है। उसकी मुस्कराहट पथपर, पैरोंके सम्मुख प्रकाशकी एक रेखा-सी खींच देती है।

....चलते-चलते अंजना और वसंतको अकस्मात् अनुभव हुआ कि पैरोंके नीचेसे तीक्ष्ण पत्थरों और कांटोंसे भरी विषम भूमि गायब हो गई। एक अगाध और सुचिक्कण कोमलतामें पैर फिसल रहे हैं। त्वचाकी एक ऊष्म मांसलतामें जैसे वे धँसी जा रही हैं। रलमलाकर वह रेशमीन स्निग्धता शरीरमें लहरा जाती है। भीतर जैसे एक उल्का-सी कौंध उठी और उसके प्रकाशमें अंजना और वसंतको दीखा--प्रचंड अजगरोंकी मंडलाकार राशियां उनके पैरोंके नीचे सरसरा रही हैं। चारों ओर उड़ते हुए नाग-नागिनोंके जोड़े, रह-रहकर देहमें लिपट जाते हैं और फिर उड़ जाते हैं। आस-पास दृष्टि जाती है--उन तमिस्राकी गुफ़ाओंमें विचित्र जंतुओं और भयावने पशुओंके झुंड चीत्कारें करते हुए संघर्ष मचा रहे हैं। उन्हींके बीच उन्हें ऐसी मनुष्याकृतियां भी दीखीं जिनके बड़े-बड़े विकराल दांत मुंहसे बाहर निकले हुए हैं, माथेपर उनके त्रिशूलसे तीखे सींग हैं और अंतहीन कषायमें प्रमत्त वे दिन-रात एक दूसरेसे भिड़ियां लड़ रहे हैं।

कि अचानक पृथ्वीमेंसे एक सनसनाती हुई फुंकार-सी उठी, और अगले ही क्षण स्फूर्त विषकी नीली लहरोंका लोक चारों ओर फैल गया। सहस्रों फनोंवाले मणिधर भुजंग भूगर्भसे निकलकर चारों ओर नृत्य कर उठे। उनके मस्तकपर और उनकी कुंडलियोंमें, अद्भुत नीली, पीली और हरी ज्वालाओंसे झगर-झगर करते मणियोंके पुंज झलमला रहे हैं। उनकी लौमेंसे निकलकर नाना इच्छाओंकी पूरक विभूतियां, अप्रतिम रूपसी परियोंके रूप धारणकर एकमें अनंत होती हुई, अंजना और वसंतके

पैरोंमें आकर लोट रही हैं; नाना भंगोंमें अनुनय-अनुरोधका नृत्य रचती वे अपनेको निवेदन कर रही हैं। पर उन दोनों बहनोंमें नहीं जाग रही है कोई कामना, कोई उत्कंठा। बस वे तो विस्मय और जिज्ञासासे भरी मुग्ध और विभोर ताकती रह गई हैं।

....तभी एक तीव्र सुगंधसे भरी वाष्पका कोहरा चारों ओर छा गया। अंजना और वसंतके श्वास अवरुद्ध होने लगे, एक-दूसरेसे चिपटकर बिल-बिलाती हुई वे आगे भाग चलीं। चलते-चलते कुछ ही दूर जाकर उन्होंने पाया कि आगेका वन-प्रदेश अभेद्य हो पड़ा है। जिस ओर भी वे जाती हैं वृक्षोंके तनोंसे सिर उनके टकरा जाते हैं—और कटीले झाड़-झंखाड़ोंकी अवरुद्धतामें देह छिल-छिल जाती है। थोड़ी ही देरमें सारे वन-प्रदेशकी स्तब्धता एक सरसराहटसे भर गई। चारों ओरसे भूकंपी पद-संचारके धमाके सुनाई पड़ने लगे। दोनों बहनोंकी आंखोंमें फिर एक बिजली-सी कौंध गई। उसके प्रकाशमें दीखा कि जहांतक दृष्टि जाती है, सूचीभेद्य शाखा और पल्लव-जालोंका प्राचीर-सा खड़ा है। इस क्षण वह सारी अटवी जैसे एक बवंडरके वेगसे हहरा उठी है। और इतने हीमें आस-पाससे गुर्राते हुए और लोमहर्षी गर्जन करते हुए कुछ बड़े ही भीषण और पृथुलकाय हिंस्र पशु चारों ओरसे झपट पड़े। उनके प्रचंड शरीरोंकी कशम-कशमें दबकर दोनों बहनें एक-दूसरेसे चिपट-कर चिल्ला उठीं। तभी लप-लप करती उनकी विकराल जबानें और उनकी डाढ़ें फैलकर उन्हें लीलनेको आती-सी दीख पड़ीं। उनकी आंखें अंगारों-सी दहकती हुई अधिकाधिक प्रखर हो उठती हैं।

कि एकाएक दूरतक फैले इन पशुओंके विशाल झुंडके बीच अंजनाको दीख पड़ा वही युवा रथी, जो कौतुककी हँसी हँसता हुआ पास बुला रहा है। एक मधुर मार्मिक लज्जासे पसीजकर अंजना निगड़ित हो रही; जाने क्या लीलाकी तरंग उसे आई कि बड़ी ही स्नेह-स्निग्ध और तरल वात्सल्यकी आंखोंसे अंजना उन पशुओंको देख उठी। लीलनेको आती

हुई उन डाढ़ोंके संमुख उसने बड़े ही विनीत आत्म-दानके भंगमें अपनेको अर्पित कर दिया, कि चाहो तो लील जाओ, तुम्हारी ही हूं. . . .! क्षण मात्रमें वे ज्वलित आंखें, वे डाढ़ें, वह गर्जन सभी कुछ अलोप हो गया। अंजना और वसंतको अनुभव हुआ कि केवल बहुतसी जिह्वाओंके ऊष्म और गीले चुंबन उनके पैरोंको दुलरा रहे हैं।

. . . .सब कुछ शांत हो गया है, फिर वे अपने मार्गपर आगे बढ़ चली हैं। आस-पास कहीं वनस्पतियोंके घने और जटिल जालोंमें दिव्य औषधियोंका शीतल, मधुर प्रकाश झल-झलाता-सा दीख जाता है। तो कहीं पैरों तले पृथ्वीके निगूढ़ विवरोंमें स्वर्ण और चांदीकी रज बिछी दीखती है, और उनपर पड़े दीखते हैं वर्ण-वर्ण विचित्र रत्न, जिनमें सतरंगी प्रभाकी तरंगें निरंतर उठ-उठकर लीन हो रही हैं। अंजना और वसंतको प्रतीत हुआ कि आत्मामें सोई जन्म-जन्मकी कामनाएं अँगड़ाई भरकर जाग उठी हैं। और कुछ ही क्षणोंमें उन्होंने पाया कि अपनी विविध रूपिणी इच्छाओंके सारे फल एकबारगी ही पाकर वे निहाल हो गई हैं। क्षणैक उन्होंने अनुभव किया जैसे सारे भय, पीड़ा और चिंताएं आत्मासे पीले पत्तोंकी तरह झरकर उन रत्नोंकी शीतल तरंगोंमें डूब गये हैं। एक अपूर्व अतींद्रिय आनंदकी गंभीरतामें डूबी दोनों बहनें आगे बढ़ती गईं।

× × × एकाएक उन्हें धुंधलासा उजाला दीखा। वनके शाखा-जाल प्रत्यक्ष होने लगे। थोड़ी दूर और चलनेपर सामने मानो पृथ्वीका तट दीख पड़ा, और उसके आगे फैला है आकाशका नील और निश्चिह्न शून्य। उस शून्यमें दूरसे आता हुआ एक महाघोष सुनाई पड़ा। ज्यों-ज्यों वे आगे बढ़ रही हैं वह महारव अपने प्रवाहमें टूटकर अनेक ध्वनियोंमें बिखरता जा रहा है। पैर त्वरासे उस ओर खिंचते जा रहे हैं—

चलकर उस छोरपर जब वे दोनों पहुंची, तो उन्होंने अपनेको एक अतलांत खाईके किनारेपर खड़ा पाया। उत्तुंग पर्वत-मालाओंके बीच

महाकालकी डाढ़-सी यह खाई योजनोंके विस्तारमें फैली है। सामने पर्वतके सर्वोच्च शिखर-देशकी वनालीमेंसे घहराकर आता हुआ एक झरना, सहस्रों धाराओंमें बिखरकर, गगन-भेदी घोष करता हुआ खाईमें गिर रहा है। उसपरसे उड़ते हुए जल-सीकरोंके कुहासेमें उड़-उड़कर फेन, वातावरणको आर्द्र और धवल कर रहे हैं। अस्तगामी सूर्यकी लाल किरणें, दूर-दूरतक चली गई हरित-श्याम शैलमालाओंके शिखरोंमें शेष रह गई हैं। घाटियोंमें सायाह्नकी नीली छायायें घनी हो रही हैं। दूर खाईके आर-पार उड़े जाते पंछियोंके पंखोंपर दिनने अपनी विदाकी स्वर्ण-लिपि आंक दी है।

उस अपरिमेय विराटताके महाद्वारके संमुख अंजना अपनी लघुतामें सिमटकर मानो एक बिंदु मात्र शेष रह गई! ....पर अपने भीतर एक संपूर्ण महानतामें वह उद्भासित हो उठी। उसने पाया कि प्रकृतिके इस अखंड चराचर साम्राज्यकी वही अकेली साम्राज्ञी है। उसकी इच्छाके एक इंगितपर ये उत्स फूट पड़े हैं, उसकी उमंगोंपर ये निर्झर और नदियां ताल दे रही हैं। उसके भ्रू-संचालनपर ये तुंग पर्वत उठ खड़े हुए हैं और आकाश-की थाह ले रहे हैं। एक अदम्य आत्म-विश्वाससे भरकर उसने पास खड़ी वसंतको देखा। भयसे थर्राती हुई वसंत मानो सफेद हो उठी थी। मृत्युके मुंहसे निकलकर अभी आई थीं कि फिर यह दूसरा काल सामने फैला है। यहांसे लौटकर जानेको और कोई दूसरा रास्ता नहीं है, और न यहीं विरामकी सुरक्षा और सुगमताका आश्वासन है। हाय रे दुर्दैव....!

एक लीलायित भंगसे भौंहें नचाकर हँसती हुई अंजना बोली—

"घबराओ नहीं जीजी, वे देखो नीचे जो गुफाएं दीख रही हैं, वहीं होगा हमारा आवास। आओ, रास्ता बहुत सुगम है, तुम आंखें मींच लो!"

कहते हुए अंजनाने वसंतको छातीसे चिपका लिया। वह स्वयं नहीं जान रही है कि नीचे उतरनेका रास्ता कहां है और कैसा है। उस बीहड़

विभीषिकामें कहीं कोई रास्तेका चिह्न नहीं है। अंजना तो बस इतना भर जानती है कि उन नीचेकी गुफाओंमें होगा उनका आवास, और वहां पहुंचना उनका अनिवार्य है। भयसे थर-थराती वसंतको सीनेसे चिपकाये, उस कगारके ठीक किनारेसे एक बहुत ही संकीर्ण और ख़तरनाक राहपर वह चल पड़ी। कुछ दूर चलकर, झाड़ियोंमें घुस उसने चट्टानोंका एक रास्ता पकड़ा। और एकाएक वृक्षोंकी वीथियोंमेंसे उसे दीखा---जैसे किसीने खाईके तलतक बड़ी ही सुगम, प्रकृत सीढ़ियां-सी बना दी हैं, जिन-पर ऊपरसे झर-झर कर नाग और तिलक वृक्षों की मंजरियां बिछ गई हैं और लवंग-लताओंकी कुसुम-केसर फैली है। चकित होकर अंजनाने वसंतसे कहा--

"देखो न जीजी, हमारे पथमें फूलोंकी सीढ़ियां बिछ गई हैं!"

चौंककर वसंतने देखा तो पलक मारतेमें पाया, जैसे स्वर्गके पटल सामने फैले हैं। सुख और आश्चर्यसे भरकर वह पुलक उठी, जैसे एक नये ही लोकमें जन्म पा गई है। गलबाहीं डालकर दोनों बहनें बड़े सुखसे नीचे उतर आईं।

निर्झरके फेनच्छाय कुंडमेंसे गुरु-गंभीर नाद करती हुई पार्वत्य सरिता उफन रही है। तट-वर्ती काननकी गुंफित निबिड़तामें होकर दूरतक नदीका प्रवाह चला गया है। राहमें पड़नेवाले सैकड़ों ऊंचे-नीचे पाषाण गह्वरोंमें वह महा-घोष खंड-खंड होता सुन पड़ता है।

चट्टानोंकी विषम भूमि कटितक ऊंचे गुल्मोंसे पटी हुई है। उन्हींमें होकर जल-सीकरोंके कुहासेको चीरती हुई दोनों बहनें आगे बढ़ीं। कुछ दूर चलनेपर झरनेके दक्षिण ओर वह गुफ़ा दीखी, जिसे ऊपरसे अंजनाने चीन्हा था। गुहाके द्वारमें जो दृष्टि पड़ी तो पलक थमे ही रह गये....

....एक शिलातलपर पल्यंकासन धारण किये, एक दिगंबर योगी समाधिमें मेरु-अचल हैं। बालक-सी निर्दोष मुख-मुद्रा परम शांत है। ओठोंपर निरवच्छिन्न आनंदकी मुस्कान दीपित है। श्वासोच्छ्वास निश्चल

हैं। नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि स्थिर है। मस्तकके पीछे उद्भासित प्रभा-मंडलमें, गुफ़ाके पाषाणोंमें छुपे रत्न प्रकाशित हो उठे हैं। कुछ ऐसा आभास होता है जैसे ऋद्धियोंके ज्योतिःपुंज, रह-रहकर मुनिके बाल-शरीरमेंसे तरंगोंकी तरह उठ रहे हैं।

अंजना और वसंतको प्रतीत हुआ कि जैसे उस दर्शन मात्रमें भव-भवके दुःख विस्मरण हो गये हैं। दोनों बालाओंके अंग-अंगमें सैकड़ों क्षतोंसे रक्त बह रहे हैं। उन शिरीष-कोमल देहोंपर लज्जा ढांकनेको मात्र एक तार-तार वसन शेष रह गया है। जटा-जूट बिखरे केश पत्तों, कांटों और वन्य-फूलोंसे भरे हैं। साश्रुनयन, विनत मस्तक कुछ क्षण वे खड़ी रह गईं। फिर वे मानो असंज्ञ होकर उस शिला-तलपर मुनिके चरणोंमें आ पड़ीं—और फूट-फूटकर रोने लगीं।

संतप्त मानवियोंकी आर्त्त पुकारसे मुनिकी समाधि भंग हुई! ब्रह्म-तेज केंद्रसे बिखरकर सर्वोन्मुख हो गया। निखिल लोककी वेदनासे मुनिका आत्मा संवेदित हो उठा। श्वासोच्छ्वास मुक्त हो गया। समताकी वह ध्रुव दृष्टि, एक प्रोज्ज्वल, प्रवाही शांतिसे भरकर खुल उठी। मुनिने प्रबोधनका हाथ उठाकर मेघ-मंद्र स्वरमें कहा—

"शांत पुत्रियों, शांत, धर्म-लाभ, कल्याणमस्तु!" दोनों बहनोंने अनुभव किया कि जैसे अमृतकी एक धारा-सी उनपर बरस पड़ी है। सारे ताप-क्लेश, पीड़ाएं, आघात एकबारगी ही इन चरणोंमें निर्वापित हो गये हैं।

तब बसंत उठी और दोनों हाथ जोड़ सकरुण कंठसे आवेदन किया—

"हे योगीश्वर, हे कल्याण-रूप, हे प्राणि मात्रके अकारण बंधु, हम तुम्हारी शरण हैं। रक्षा करो, त्राण करो नाथ! मनुष्यकी जगतीमें हमारे लिये स्थान नहीं है। मेरी यह बहन गर्भिणी है। मिथ्या कलंक लगाकर श्वसुर-गृह और पितृ-गृहसे ठुकरा दी गई है। इसके संकटोंका पार नहीं है। इसका त्रास अब मुझसे नहीं सहा जाता है, प्रभो! मौतके

मुंहमें भी हम अभागिनोंको स्थान नहीं मिला। इस आत्मघातक यंत्रणासे हमें मुक्त करो, देव!---और यह भी बताओ भगवन् कि इसके गर्भमें ऐसा कौन पापी जीव आया है, जिसके कारण इसे ऐसे घोर उपसर्ग हो रहे हैं?"

मुनि अवधि-ज्ञानी थे और चारण-ऋद्धिके स्वामी थे। अर्ध निर्मीलित दृष्टिमें मुनिने अवधि बांधी और मुस्कराकर वत्सल कंठसे बोले--

"कल्याणी, शोक न करो। महेंद्रपुरकी राजकुमारी अंजना लोककी सतियोंमें शिरोमणि है! विश्वकी किसी भी शक्तिके संमुख, अंजना त्राण और दयाकी भिखारिणी नहीं हो सकती। पूर्व संचित पापोंकी तीव्र ज्वालाओंने चारों ओरसे उसे आक्रांत कर लिया है। पर उनके बीच भी निर्वेद और अजर शांति धरकर वह चल रही है। और इसके गर्भका जीव पापी नहीं, वह अप्रतिम पुण्यका स्वामी, लोकका शलाका-पुरुष होगा! वह ब्रह्म-तेजका अधिकारी होगा। काम-कुमारका भुवन-मोहन रूप लेकर वह पृथ्वीपर जन्म धारण करेगा। वह अखंड-वीर्य बाहु-बलि होकर समस्त लोकका हृदय जीतेगा। देवों, इंद्रों और अहमींद्रोंसे भी वह अजेय होगा। विश्वकी सारी विभूतियोंका प्रभोक्ता होकर भी, एक दिन उन्हें ठुकराकर वह बनकी राह पकड़ेगा। इस जन्मके बाद वह जन्म धारण नहीं करेगा---इसी देहको त्यागकर वह अविनाशी पदका प्रभु होगा---अस्तु!"

वसंतने फिर जिज्ञासा की---

"ऐसे प्रबल पुण्यका अधिकारी होकर वह जीव अपने गर्भ-कालमें अपनी मांको ऐसे दारुण कष्ट देकर, आप भी ऐसी यातना क्यों झेल रहा है, भगवन्?"

"कर्मोंकी लीला विचित्र है, देवि! अपने विगतकी दुर्धर्ष कर्म-शृंखलाओंसे वह जीव भी तो बंधा है। पर इस बार वह उन्हें छिन्न करनेका बल लेकर आया है। इसीसे उपसर्गोंसे खेलते चलना उसका स्वभाव

हो गया है। महानाशकी छायामें चलकर अपनी अविनश्वरताको वह सिद्ध कर रहा है, वत्से !—कल्याणमस्तु !"

कहकर योगीने फिर प्रबोधनका हाथ उठा दिया, और अपने आसनसे चलायमान हुए। अंजना बाहरसे नितांत अचेत-सी होकर भूमिपर प्रणत थी। पर अपनी भीतरी चिन्मयतामें इस क्षण वह योगीकी आत्माके साथ तदाकार हो गई थी। योगी जब गमनको उद्यत हुए तो अंजनाको एक आघात-सा लगा। आगे बढ़कर उसने गमनोद्यत योगीके चरण पकड़ लिये और आंसूभरे कंठसे बिनती कर उठी—

"देव, शरणागता अनाथिनीको—इस विजनमें यों अकेली न छोड़ जाओ।....अब धीरज टूट रहा है, प्रभो !....मैं बहुत एकाकिनी हुई जा रही हूं....मुझे बल दो, प्रभो, मुझे शरण दो, मुझे अभय दो !"

योगी फिर मुस्करा आये और उसी अप्रतिम वात्सल्यके स्वरमें बोले—

"अंजनी, समर्थ होकर कातर होना तुझे नहीं शोभता। सब कुछ जानकर, तू मोहके वश हो रही है ? शरण, लोकमें किसीको किसीकी नहीं है। आत्मामें लोक समाया है, फिर एकाकीपनकी वेदना क्यों ? इसलिये कि लोकके साथ हम पूर्ण एकात्म्य नहीं पा सके हैं। उसीको पानेके लिये आत्मामें यह जिज्ञासा, मुमुक्षा और व्यथा है। उसी प्राप्तिका विराट द्वार है यह विजन। एकाकीपनकी इसी उत्कृष्ट वेदनामेंसे मिलेगी, वह परम एकाकारकी चिर शांति। उपसर्ग, कष्ट, बाधाएं जो भी आयें, अविचल उनमें चली चलो। यह तुम्हारी जय-यात्रा है—अंतिम विजय निश्चित तुम्हारी ही है। पर द्वार तो पार करने ही होंगे, परीक्षा तो देनी ही होगी। रक्षा और त्राण अपनेसे बाहर मत खोजो, वह अपने ही भीतर मिलेगा !—कल्याणमस्तु !"

कहकर मुनि निमिष-मात्रमें आकाश-मार्गसे गमन कर गये। आसन्न

रात्रिके घिरते अँधेरेको चीरती हुई प्रकाशकी एक रेखा वनांतरको उजाला कर गई। दोनों बहनोंने भीतर अपनेको प्रकृतिस्थ और स्वस्थ पाया। मुनिकी समाधिमे पावन उस भूमिकी धूलि लेकर उन्होंने माथेपर चढ़ाई और उस गुफ़ाको अपना आवास बनाया। उन्होंने पाया कि अपनी मोर-पिच्छिका और कमंडलु मुनि वहीं छोड़ गये हैं, मानो बिना कहे रक्षाका कवच छोड़ गये हैं। दोनों बहनें अपने आपमें मौन सुख और आश्वासनसे मुग्ध हो रहीं। वसंतने पिच्छिकासे गुहाकी कुछ भूमि बुहारकर स्वच्छ कर ली। फिर आस-पाससे कुछ तृण-पात तोड़कर उसने अंजनाके और अपने लिये शय्या बिछा ली। तदनंतर कमंडलु ले नदीके प्रवाहपर चली गई। स्वयं मुंह-हाथ धो जल पिया और अंजनाके लिये कमंडलुमें जल भर लाई।

दोनों बहनें निवृत्त होकर जब थकी-हारी अपनी तृण-शय्यापर लेट गई, तब रात्रिका अंधेरा चारों ओर घना हो गया था। शून्यमें सांय-सांय करता पवन रह-रहकर वह जाता है। जलका ही एक प्रच्छन्न अविराम-रव उस निर्जनतामें व्याप्त है, अन्य सारी ध्वनियां उसीमें समाहित हो गई हैं। रह-रहकर कभी कोई जल-चर विचित्र तीखा स्वर कर उठता है। दूर-दूरसे आती स्यालोंकी पुकारें उस विजनको और भी भयानक कर देती हैं। अनागत उपसर्गोंकी अशुभ आशंका पल-पल मनको थर्रा देती है। सांय-सांय करते ध्वांतमें अनेक विकराल आकृतियां उठ-उठकर मनमें नाना विकल्प जगाती हैं। किसी अपूर्व आविर्भावका भाव चारों ओरके सघन शून्यमें रह-रहकर भर उठता है।

पंचमीका चंद्रमा दूर पर्वत-शिखरके गुल्मोंमेंसे उग रहा है। अंजनाको जैसे उसने मुस्कराकर टोक दिया—मानो कह रहा हो—क्या मुझे भूल गई? अच्छी तो हो न? बड़ा वक्र और खतर-नाक रास्ता चुना है तुमने—और उसीपर मुझे भी भेजा है—! विश्वास रखना उस राहसे च्युत नहीं हुआ हूं—जब तुम्हारी कामना-

की जय पा लूंगा, तभी लौटूंगा तुम्हारे पास—अभी ठहरना नहीं है ....।' फिर अंजनाने आकाशपर दृष्टि डाली : आगे-आगे योग-तारा ऊर्ध्व गतिसे ऊपर भागी जा रही थी, और पीछे उसे पकड़ पानेको बंकिम चंद्र दौड़ रहा था !—विरहकी शूल-शय्या फूलोंसे भर उठी। अंजनाने सुखसे विह्वल हो, वसंतको पास खींच, छातीसे दाब-दाब लिया। उस परम मिलनके सुखमें वह तल्लीन हो गई, जिसमें विच्छेद कभी होता ही नहीं है। और जाने कब दोनों बहनें गहरी नींदमें अचेत हो गई।

× × × सबेरेकी ब्राह्म-वेलामें अंजना फिर प्रभात-पंछीका पहला गान सुनकर जाग उठी। कमंडलुमेंसे थोड़ा जल लेकर स्वच्छ हो ली और आत्म-ध्यानमें निमग्न हो गई। झरनेका अखंड घोष भीतरकी प्राण-धाराका अनहद नाद हो गया। फिर दिनकी पाषाण-शृंखलाओंको तोड़कर चला आ रहा है वह आलोक-पुरुष,—अशोक और अनिरुद्ध। इस जल-प्रवाहका निर्मल चीर वह पहने है, फेनिल, हलका और उज्ज्वल....।

ऊषाकी पहली स्वर्णाभामें नहाकर प्रकृति मधुर हो उठी। शैल-घाटियां पंछियोंके कल-गानसे मुखरित हो गईं। झरनेकी चूड़ापर स्वर्ण-किरीट और मणियोंकी राशियां लुटने लगीं।

अंजनाने भूमिपर आनत हो चारों दिशाओंमें नमस्कार किया और धीरे गतिसे चलकर, प्रवाहकी एक ऊंची शिलापर जा बैठी। मन ही मन मुदित हो वह कह रही थी—'....यही है तुम्हारा राज-पथ ? इस अगम निर्जनमें, जहां मनुष्यके पद-संचारका कोई चिह्न नहीं, फैली है तुम्हारी लीला-भूमि ?—ओ कौतुकी, विचित्र है तुम्हारा इंद्र-जाल ! ऊपरके शून्यमें महाकालका आतंक अपनी बांहें पसारे है; वहांसे इन खाइयोंमें झांकते प्राण कांप उठते हैं। और भीतर है यह देव-रम्य कल्प-काननकी मोहन-माया ! चारों ओर चल रहा है दिन-रात कुसुमोत्सव। पहली ही बार आज तुम्हारे असली रूपको जान सकी

हूं, ओ मायावी !——दुःखोंकी विभीषिकाओंमें तुम पुकार रहे हो, मेरे सुंदर !——और हम तुम्हें क्षणिक सुखोंके छद्मावरणोंमें खोज रहे हैं. . . .?'

. . . .वसंतको चिंता थी घर बसानेकी । सबसे पहले वह अंजनाके लिये पान-भोजनका आयोजन किया चाहती है । अपार फैली है यहां प्रकृतिकी दाक्षिण्यमयी गोद । रसाने अपने भीतरके रसको यहां अक्षत धारासे दान किया है । पर्वतके ढालों और तटियोंमें अनेक वन्य-फलोंके भारसे वृक्ष लदे हैं । चारों ओर वहां रसवंती चू रही है । घूमती हुई वसंत वहीं पहुंच गई । ताड़ और भोज-वृक्षके बड़े-बड़े पत्तोंमें वह यथा-वश्यक फल भर लाई । अशोककी एक-दो डालें लाकर उसने गुहा-द्वारके आस-पास मंगल-चिह्नके रूपमें सजा दीं । वन-लताओं और फलोंसे अंजनाकी शय्याको और भी सुखद और सुकोमल बना दिया । दूर-दूरकी घाटियोंमें खोज-ढूंढ़कर, विशद तनोंवाले वृक्षोंकी चिकनी और अपेक्षाकृत मुलायम छालें वह उतार लाई । आजसे यही होंगे उनके वस्त्र । गुफामें लौटकर जब भीतरकी सारी व्यवस्था उसने कर ली, तब छालें लेकर वह प्रवाहपर जा पहुंची और अंजना को पुकारा । एक स्थलपर जहां धारा ज़रा सम थी, एक स्निग्ध शिलापर अंजनाको बिठाकर वह उसे स्नान कराने लगी । शीत-ऋतुका सवेरा काफ़ी ठंडा था, पर धाराका जल ऊष्म और सुगंधित था । बहुत-सा जल एक बार अंजनाके शरीरपर डालकर, वसंत बहुत ही सावधानीसे क्षतोंपर लगे गाढ़े और रूखे रक्तको, डर-डरकर, रुक-रुककर, धोने लगी । हँसकर अंजना बोली——

"डरती हो जीजी, हँ. . . .ऐसे कहीं स्नान होगा । यह राज-मंदिर का स्नानगृह नहीं है, जीजी, जहां सयत्न और सायास शरीरका मार्जन किया जाता है । यह तो प्रवाहकी सर्व कलुष-हारिणी मुक्त धारा है, जो अनायास देह और देहीको निर्मल कर देती है । . . . .हां, जान रही हूं, तुम क्षतोंके छिल जानेके भयसे डर-डरकर उंगुलियां चला रही

हो; पर किस कठोरतासे यह शरीर छिलना बाकी रहा है, जो तुम्हारी अंगुलियोंसे इसके क्षत दुख जायेंगे !"

कहकर अंजना, वसंतका हाथ खींच धारामें उतर गई। वक्षतक गहरे पानीमें जाकर अपने ही हाथोंसे शरीरको खूब मल-मलकर वह नहाने लगी और वसंतको भी नहलाने लगी। जलकी उस ऊष्म-शीतल धारामें वे ऐसी क्रीड़ा-रत हो गईं कि जैसे कल्प-सरोवरमें नहाकर अपने सारे घाव, क्लांति और श्रांतिको भूल गई हों। मन भर नहा चुकनेपर, उन्होंने कटि-पर के जर्जर, मलिन वसन दूरके गुल्म-जालोंमें फेंक दिये। निर्वसन, नग्न, प्रकृतिकी वे पुत्रियां, मुखपरसे केश हटाती हुईं, अपने तरु-छालोंके नवीन वसनोंको खोजने लगीं। मनमें कोई लज्जा, मर्यादा, कोई रोक-संकोचका भान ही मानो नहीं है। वल्कलोंको शरीरपर लपेट, जब धूपमें वे अपना तन और केश-भार फैलाकर सुखा रही थीं, तभी एकाएक उन्होंने शरीरमें एक ऐसी अद्भुत शांति और आरोग्य अनुभव किया, कि अचरजसे भरकर वे एक दूसरेको देखती रह गईं।

"ओ जीजी, यह क्या चमत्कार घटा है, जरा तुम्हीं बताओ न ! कहां गये हैं वे सारे घाव जिनसे काया कसक रही थी ?"

बालिका-सी कौतूहलकी चंचल दृष्टिसे अंजना पूछ उठी।

"सचमुच, अंजन, लगता है कभी कोई क्षत मानो लगा ही नहीं है। झरनेके पानीमें अनेक वनौषधियों और धातुओंका योग जो हो जाता है, उसीसे जाने कितने न गुण इस जलमें आ गये हैं, सो कथा ठीक है।"

गुफापर आकर वन-कदलीके पत्तोंसे दोनोंने अपने वक्ष-देश बांध लिये। वसंतने उंगुलियोंसे सुलझाकर अंजनाकी उस अबंध्य केशराशिको फिर एक बड़ेसे जूड़ेमें बांधनेका एक सफल-विसफल यत्न किया। उसके दोनों कानोंमें एक-एक कुसुमकी मंजरी उरस दी। फिर दोनों बहनें अपूर्व सुखका अनुभव करती हुईं, फलाहार करने बैठ गईं।

[२७]

उस दिन वनके गहनमें यों नया जीवन आरंभ हो गया। अंजना वन-भ्रमणको चली जाती और वसंत जीवनकी आवश्यकताएं जुटानेमें रत रहती। आविष्कारकी बुद्धि उसकी पैनी हो चली है। जीवनके एक सुघर शिल्पीकी तरह उस गुहामें उसने धीरे-धीरे एक घरका निर्माण कर लिया। मोटी छालों के टुकड़ोंको खोदकर दो-चार पात्र भी बना लिये गये हैं। नारियलकी छालोंसे उसने अंजनाके और अपने लिये पादुकाएं बना ली हैं। कासकी सीकोंको आपसमें बुन-बुनकर अंजनाके लिए उसने एक मसृण और सुख-स्पर्श शय्या बना दी है। सांझके भरे हुए फूल अथवा केसर, फूल-वनोंसे लाकर वह उसकी शय्यामें डाल देती। धीरे-धीरे उसने कासके फूल, कमल-नालोंके तंतु और तरु-छालोंके कोमल रेशोंसे बुनकर अंजनाके लिये कुछ वसन भी बना दिये हैं। चंवरी गायोंके चंवर जंगलमेंसे बीन लाकर उन्हें पानीसे जमा-जमाकर कुछ ओढ़नेके आस्तरण बन गये हैं। पर ऋतुके आघात से बचनेके ये साधन अंजनाको बहुत कुछ रुचिकर नहीं है, इसीसे वे एक ओर पड़े हैं। प्रसवके दिन ज्यों-ज्यों निकट आ रहे है, वसंतके मनमें उत्सव और मंगलके अनेक आयोजन चल रहे हैं। सवेरेके भोजन-पानसे निवृत हो, वनके दूर-सुदूर प्रदेशोंमें वह खोज-बीन करती चली जाती है। वन्य-सरोवरोंसे कमलोंका पराग और केशर पा जाती है तो कभी अंजनाको उसीसे स्नान कराती है। फूलोंकी रेणुसे वह उसका अंग-प्रसाधन कर देती है। पहाड़ोंमें झरते सिंदूरसे उसकी मांग भर देती और लिलारमें पत्र-लेखा रच देती है। मृग-काननसे कस्तूरी और कदली-वनसे कर्पूर पा जाती है तो उससे अंजनाके केश बसा देती है। कानोंमें उसके नीप-कुसुम और सिंधुवारकी मंजरियां उरस देती। केशोंपर, हस्ति-वनोंसे मिलनेवाले गज-मोतीकी एकाध माला अथवा फूलोंका मुकुट बनाकर बांध देती है। सारा सिंगार हो जाने-पर वह अंजनाका लिलार सूंघकर दुलार-के आवेगमें उसे चूम लेती।

तब चाहकर भी उससे बोला न जाता, मन उसका भर आता। केवल अंजनाकी ओर देख अंतरके घने और प्रच्छन्न स्नेहसे मुस्करा भर देती।

....और सुहागिनी अंजना भावी मातृत्वके गंभीर आविर्भावमें नम्रीभूत हो जाती। सिंगार-प्रसाधन अंजनाकी प्रकृतिमें कभी नहीं था, और आज तो वह उसे सर्वथा असह्य था। पर भीतर ही भीतर वह समझ रही थी कि यह सिंगार अंजनासे अधिक, उस अनागत अतिथिके स्वागतमें उसकी माताका है। तब उसकी सदाकी निरी बालिका प्रकृति उस मातृत्वके बोधसे आच्छन्न होकर जैसे क्षणभरमें तिरोहित हो जाती। वह नीचा माथा किये ससंकोच सब-कुछ करा लेती। और तब चली जाती वह अकेली ही अपने भ्रमणके पथपर ——वनके अंतःपुरोंमें। किसी वन्य-सरसीके निस्तब्ध तीरपर, किसी शिलातलपर जा बैठती। उसके स्थिर जलमें अनायास अपना प्रतिबिंब देख, वह अपनेसे ही लजा जाती।—— वनकी शाख-शाख और पत्ते-पत्तेमें वह कौन झांक उठा है? अपनी ही छबि नव-नवीन रूप धरकर अपने ही भीतरके रमणमें लीलायित है। समर्पणकी विह्वलता जितनी ही अधिक बढ़ती जाती है, रूपकी सीमा लय होती जाती है। और तब आ पहुंचता है अनंत विस्मृतका क्षण....

....दूर-दूरकी कंदराओं, घाटियों और गिरि-कूटोंसे मुनिकी भविष्य-वाणी गूंजती सुनाई पड़ती है। और नदी-प्रवाहके किनारे-किनारे चलती अंजना, दूर-दूरके अज्ञात प्रदेशोंमें भटक जाती है।

ज्यों-ज्यों यह पहाड़ी नदी आगे बढ़ती गई है, तलहटीका प्रदेश अधिकाधिक विस्तृत और रम्य होता गया है। आगे जाकर नदी वृक्षोंकी संकुलता और पाषाणोंकी बीहड़तासे निकलकर, खुले आकाशके नीचे खूब फैलकर बहती है। उसके प्रशस्त ऊर्मिल वक्षपर गिरि-मालाएं अपनी छाया डालती हैं। किनारे उसके विपुल हरियाली और स्निग्ध वन-राजियां दूरतक चली गई हैं।

मध्याह्नका सूर्य जब माथेपर तप रहा होता, तब अंजना वन-श्रीके बीच किसी उन्नत शिलापर आकर लेट जाती। राशि-राशि सौंदर्य और यौवनसे भरी धरणी सुनील महाकाशके आलिंगनमें बंधी, एकबारगी ही अंजनाकी आंखोंमें झलक उठती। अनेक रंगोंका लहरिया पहने पृथ्वीके चित्र-विचित्र पटल-दूर-दूरतक फैले हैं, और उनमें धुँधली होती वृक्षावलियां दीख पड़ती हैं। दोनों ओर दिगंतके छोरों तक चली गई हैं ये शृंग-लेखाएं। और इस सबके बीच नाना भंगोंमें अंग तोड़ती अजस्र चली गई है यह नदी सुनील धारा। अंजनाका सारा अंतःकरण इस नदीकी लहरोंमें नाचता चला जाता है: वहां—जहां एक गहरी नीली धुंधके रहस्यावरणमें पृथ्वीकी विचित्र रूपमयता, आकाशकी एक-रूपतामें डूब गई है! क्षितिजकी रेखा भी वहां नहीं दिखाई पड़ती....।

प्रकृतिकी अपार रमणीयता एक साथ अंजनाकी शिरा-शिरामें खेलने लगती। अंगड़ाइयां भरती हुई वह उठ बैठती। अपराजित यौवनसे वक्ष उभरने लगता। दिशाओंकी बादल-वाहिनी दूरी उसकी आंखोंमें सपने भर देती। चंचल दुरंत बालिका-सी वह चल पड़ती। नाना लीला-विभ्रमोंमें देहको तोड़ती-मरोड़ती, शिलाओं और गुल्मोंके बीच नाचती-कूदती, वह नदीके पिंगल बालुकामय तटपर आ जाती। कासके अंतरालमें लहरें बिछल रही हैं और किरणें नदीकी मांगमें सोना भर रही हैं। कुछ दूर चलकर नदीके पुलिनमें लवली-लताओंके कुंज छाये हैं। किसी तटवर्ती वृक्षके सहारे, दो-चार विरल वल्लरियां नदीकी लहरोंको चूमती हुई झूल रही हैं। उनमें बैठी कोई एकाकी चिड़िया दुपहरीका अलस गान गा रही है। और भीतर लवली-कुंजकी गंध-विधुर, मदालस छायामें, सारसोंका युगल, कुसुमकी शय्यापर केलि-सुखमें मूर्छित है। ऊपरसे निरंतर झरती परागकी चादरमें वे एकाकार हो गये हैं। अंजना जैसे उनके रति-सुखके गहन मौनमें होकर चुप-चाप

छाया-सी निकल जाती। वह नहीं होती उनके सुखकी बाधा, वह तो उसीकी एक हिलोर बनकर उसमें समा जाती।

अमित उल्लाससे भरकर वह आगे चल पड़ती। कहीं तटवर्ती तमालोंकी घटामें मेघोंके भ्रमसे विकल और मुग्ध होकर चातक कोलाहल मचा रहे हैं। कहीं हरित मरकत-से रमणीय वृक्ष-मंडप हारीत पक्षियोंके गुंजारसे आकुल हैं। चंपक-कुंजोंकी शीतल छायामें भृंग-राज पक्षी, ऊपरसे झरती परागके पीले आस्तरणमें उन्मत्त पड़े हैं। घने अनारोंके पेड़ोंकी कोटरोंमें चिड़ियाएं अपने सद्य-जात शिशुओंको पंखोंसे ढांककर सहलाती और प्यार करती हैं।....अंजनाको लगता कि वक्षपर बंधे वल्कलके भीतर एक लौ-सी जल उठी है। भीतरसे निकलकर अंतरकी एक ऊष्मा मानो आस-पासकी इन सारी चेष्टाओंको अपने भीतर ढांक लेना चाहती है। कहीं कबूतरों के पंखोंकी फड़-फड़ाहटसे सुर-पुन्नाग की कुसुम-राशियां झर पड़ती हैं। अंजना चौकन्नी होकर अपने शरीरको देखती रह जाती है। पराग और अनेक वर्णी फूलोंकी केशरसे देह चित्रित हो गई है। वह तलमें बैठ जाती है, और ऊपरसे झरते फूलोंकी राशियोंको अपनी बाहोंमें झेल-झेलकर उछाल देती है। कबूतरोंमें लीलाका उल्लास बढ़ जाता है, वे और भी जोर-जोरसे शाखाएं हिलाकर ऊधम मचाते हैं। नीचे फूलोंकी वर्षा-सी होने लगती है। अंजना उस कुसुम-चित्रा भूमिमें लोट जाती है। उसकी सारी देह फूलोंकी राशिमें डूब जाती है फिर कबूतर नीचे उतरकर उसकी निश्चल देहपर कूद-कूदकर खेल मचाते हैं। धीरे-धीरे वे कबूतर उससे हिल चले थे। उसके केशों और कंधोंपर वे जहांतहांसे उड़कर आ बैठते। कत्थई, नीले, भूरे, जामनी कबूतरोंके अलग-अलग नाम अंजनाने रख दिये थे। कहीं भी दूरकी डालपर कोई कबूतर दीख जाता तो अंजना नाम लेकर पुकार उठती। कबूतर उड़कर उसकी फैली हुई भुजापर आ बैठता और उसके कंठमें चोंच गड़ा-गड़ाकर, परिष्वंग करता हुआ गुटुर-गुटुर करने लगता।

सिंधु-वार और वासंती वृक्षोंके शिखरोंमें चित्र-विचित्र मैनाएं आतीं; और सामनेके शिंशपा और मधूक वृक्षोंकी डालोंपर तोतोंका जमघट हो जाता। जाने कितनी जल्पनाओं और गानोंमें उनका वार्तालाप होता। सारी वन-भूमि नाना ध्वनियोंसे मुखरित हो उठती। दोपहरीकी अलस स्तब्धता भंग हो जाती। अंजनाका मन अर्थ-हारा और निःशब्द होकर इस अखंड भाषाकी एकताके बोधमें तल्लीन हो जाता।

पर्वतके पाद-मूलोंमें ऊपरसे आती पानीकी झरियोंसे सिंचकर फलोंके नैसर्गिक बाग़ झुक आये हैं। फलोंके भारसे नम्र वहांकी भूमि-शायिनी डालोंको देख अंजनाको अपना चाँचल्य और उच्छलता भूल जाती। उसका अंग-अंग उमड़ आते रस-संभारसे शिथिल और आनत हो जाता। शिरा-शिरामें आत्मदानकी विवश आकुलता घनी होती जाती। एक अनिवारित ज्वारके हिलोरोंसे स्तन उफना आते। वन-कदलीका कंचुकि-बंध छिन्न होकर अनजानेही खिसक पड़ता। उबासियां भरती हुई अलस और विसुध होकर वह उस फल-विचुंबित भूमिपर अपनी देहको बिछा देती। विपुल फलोंके झुमकोंसे झुक आई डालोंको अपने स्तन और भुजाओंके बीच वह दाब-दाब लेती, ओठों और गालोंसे सटाकर उन्हें चूम-चूम लेती, पलक और लिलारसे उन्हें रभस करती। उसे लगता कि पृथ्वी अपने संपूर्ण आकर्षणसे उसे अपने भीतर खींच रही है, और उतने ही अधिक गंभीर संवेगसे दानका अनिवारत स्रोत उसके वक्षमेंसे फूट पड़नेको विकल हो उठता। एक-बारगी ही फलोंका समूचा बाग़ इस रस-संधानसे सिहर उठता। ऊपरकी शाखाओंमें अलस भावसे फला-हार कर रहे बानरोंकी सभा भंग हो जाती। शाखा-प्रशाखामें कूदते-फांदते वे तलमें आ पहुंचते। शुरूमें तो कुछ दिन वे अंजनासे डरकर दूर भाग जाते, पर अब वे उसे चारों ओरसे घेरकर बैठ जाते हैं। अंजनाके उस गोरे और सुकोमल शरीरको अपने तीखे नखोंवाले काले पंजोंसे दुल-रानेका मुक्त अधिकार वे सहज पा गये थे। पायताने बैठ कुछ बानर उसके

पैर दबाने लगते। उनमेंसे कुछ सिरहाने बैठकर उसके दीर्घ और उलझे केशोंको अपने उंगलियोंसे सुलझाने लगते। कुछ ऊपरकी डालसे तोड़कर, एकाध फल उसके ओठोंसे लगाकर उसे खिलानेकी मनुहार करते, उसके वे हठीले सहचर तब तक नहीं मानते, जबतक उनके हाथसे वह दो-चार फल खा न लेती। हँस-हँसकर अंजनाके पेटमें बल पड़ जाते—और सारी देह उसकी लाल हो जाती। जाने कैसे प्रणय और वात्सल्यकी मिश्र लज्जा और विवशतासे उसका रोयां-रोयां उभर आता। आंखें मूंदकर उनके तीखे नखवाले पंजोंको अपने उद्भिन्न स्तनोंसे अनजाने ही दाब लेती। भीतरकी घुंडियोंसे बिखरकर रक्त जैसे किसी अनायास क्षतमें से बह आनेको उच्छल हो उठता। कालके जाने किस अविभाज्य अंशमें एकबारगी ही वह उन सबकी जननी और प्रणयिनी हो उठती।

....द्राक्षके कुंजों और कदली-वनोंमें नील-कंठ और पीत-कंठ पक्षियोंके आवास हैं। अलसाती और उबासियां भरती अंजना वहीं पहुंचकर दोपहरी का शेष भाग बिताती। उन पक्षियोंके घोंसलों तले लेटते ही उसे नींद लग जाती। निश्चिन्त और अभय होकर रंग-बिरंगे पंछी आकर उसकी देहपर फुदकते और क्रीड़ा करते। रह-रह कर अंजना की नींद भंग हो जाती। पर बनके इन सलौने राज-कुमारोंको जब चित्र-विचित्र पंखोंकी माया फैलाकर अपने ऊपर निछावर होते देखती, तब उनके आनंदमें आप भी चुप-चाप योग देने के सिवाय वह और कुछ न कर पाती। उनकी नाना तरहकी बारीक बोलियोंमें सुर मिलाकर वह भी उनसे कुछ बोलती-बतराती। और उस आनंदकी अर्थ-हीन निष्प्रयोजन तुतलाहटमें मनके जाने कितने अनिर्वचनीय भाव और संदेशे वह उन पंछियोंके अज्ञान मनोंमें पहुंचा देती। यह ऊपरका स्वरालाप तो एक लीलाभर थी, पर भीतरके वेदन-संवेदन में होकर प्राणका संगोपन जाने कब हो गया था, सो कौन जान सकता है?

....उपत्यकाके प्रदेशमें कहीं वेतसकी बेलोंके प्रतानोंमें घने बांस

हैं। कहीं शाल्मली और शाल वृक्षोंकी क़तारें मंडलाकार सहेलियों-सी एक-दूसरेसे गुथी खड़ी हैं। यहां आते ही अंजनाको वे बालापनके दिन फिर याद हो आते—वे रास, नृत्य और झूमरें, वे सखियोंके साथ बांहसे बांह गूंथकर होनेवाली गोपन-वार्ताएं, वे किशोर मनके छल-घात और जिज्ञासाएं, वे भीतर ही भीतर कसककर रह जानेवाले अबोध प्रश्न !—आंखोंमें आंसू अनजाने ही उभर आते—। उन वृक्षोंकी गुथी डालोंमें झूलती हुई फिर एक बार आंख मूंदकर वह झूमर-सी ले उठती।—हिंडोल भरे रागका स्वर कंठमें आकर रुंध जाता। वृक्षोंकी अलस मरमराहटमें होकर फिर वह क्षण कालके उसी अतीत तीरपर लौट जाता। वह फिर वैसी ही बिछुड़कर अपने अकेलेपनमें डोलती रह जाती। तभी उन शाल और शाल्मलियोंके अंतरालमें झांकता कोई वन्य-सरोवर उसे दीख पड़ता। उसके किनारे शिलाओंके नैसर्गिक और रम्यघाट बने हैं। ऊपर बकुल और केतकीकी झाड़ियां झुक आई हैं। उनसे झरते पराग और फूलोंसे तालकी सीढ़ियां ढकी हैं। पानीकी सतह भी उससे दूर-दूरतक छा गई है। तो कहीं उस दूसरे किनारे पर हरसिंगार और गुलमौर झर-झरकर तटकी सारी भूमि और किनारेका जलप्रदेश केशरिया हो गया है। इसी घाटमें बैठकर अंजना अपना तीसरा पहर प्रायः बिताया करती। यह केशरिया भूमि देख उसे लगता कि जाने कब, जाने किसी अमर सुहागिनीने अपने प्रियके साथ इस एकांत तटमें रमण किया होगा। और उसी सौभाग्यके चिह्न स्वरूप आज भी यह भूमि उनके चिर नवीन सौंदर्यकी आभासे दीप्त है। उस अविजानित अमर सुहागिनके उस लीला-रमणके साथ तदाकार होकर वह जाने कब तक उस भूमिमें सोई पड़ी रह जाती। शाल और सल्लकीकी सुगंध-निबिड़ छायामें प्रमत्त होकर वहां जंगली हाथी और हथनियोंके झुंड दिनभर ऊधम मचाते रहते। कभी-कभी वे तालावमें आ पड़ते और तुमुल कोलाहल करते हुए, सूण्डों में पानी भरभरकर चारों ओरकी वन-भूमिमें फ़व्वारे छोड़ते। जब

वे पानीकी बौछारें और उनकी क्रीड़ाका जल उछलता---तो उसमें नहाकर अंजना अपनेको कृतार्थ पाती। हर्षसे किलकारियां करती हुई वह भी उनके क्रीड़ा-कलरवकी सहचरी हो जाती। हाथियोंके गालोंसे निरंतर झरते मद-जल और शैवाल-पल्लवोंसे आस-पासकी बन-भूमि श्याम हो गई है। हस्ति-शावकोंके साथ वहां तालियां बजा-बजाकर वह आंख-मिचौनी खेलती। जब वे थल-थल दौड़ते हुए हस्ति-शावक अंजना को पा जाते तो अपनी सम्मिलित सूंडोंसे पकड़कर उसे अपनी पीठपर बैठानेको होड़ा-होड़ी करते।

पहाड़के ढालोंपर भोज, सप्त-पत्र, सुपारी और कोष-फलकी वन-लेखाएं, अनेक सघन बीथियां बनाती हुई ऊपर तक चली गई हैं। कहीं-कहीं सारा पहाड़ चंदनके वनसे पटा है। तो कहीं लवंग और किंशुकसे पर्वत-पाटियां आच्छादित हैं। दिन-रात सुगंधसे पागल समीरण पर्वत-ढालोंमें अंध-सा बहता रहता है। भ्रमरोंके अलस गुंजार और रह-रहकर उठनेवाली पत्रोंकी मर्मर उच्छ्वासमें बनके प्राणका मर्म-संगीत निरंतर प्रवाहित है।

....अरोक अंजना ढालोंकी उन बीथियोंमें चलती जाती। और चलते-चलते जहां कहीं भी उसे किसी अगम्यताका बोध होता, कोई रहस्य-मय या संकुल प्रदेश दीखता, उस ओर वह खिंचती चली जाती। निबिड़ वनस्पतियोंसे घनीभूत घाटियोंमें जहां पैर रखनेको भी राह नहीं सूझती है, वह झाड़-झंखाड़ोंको लांघती-फांदती चली ही जाती। चारों ओर दिनके प्रखर उजालेके बीच वह अंधेरी गुहा दिखाई पड़ रही है। मानो असंख्य रात्रियोंका पूंजीभूत अंधकार वहीं आकर छुप गया है। गुफ़ाकी अतल गंभीरतामेंसे कुछ घहराता, गरजता सुनाई पड़ता है। देखते-देखते वह ऊंचा और मंद गर्जन, दुस्सह और भयानक हो उठता। बन-भूमि थर्रा उठती। और अंजनाको एक सोनहरी झलक झंखाड़ोंमेंसे ओझल होती दीख पड़ती। तो कहीं झाड़ियोंमें डूबे उसके पैरोंमें, कोई विपुल

लोमका स्पर्श उसकी पिंडलियोंको सहलाता हुआ सर्रसे निकल जाता ! फिर सब शांत हो जाता । वह फुदकती, कूदती अपनी राह लौट आती । शरीरमें रह-रहकर एक सिहरन-सी फूट उठती है । वह पूंजीभूत अंधकार, वह सोनहरी झलक, वह लोम-स्पर्श फिर पैरोंको पीछे खींचता है—कि वह जाने तो,—कौन रहता है वहां..? उससे साक्षात् करनेकी उसकी बड़ी इच्छा है । पर अब देर हो गई है, शाम हो आई है, जीजी बाट देखती होगी । लेकिन ज़रा आगे चलकर रास्तेमें उसे मरे हुए हाथियोंकी लाशें मिलती हैं । उसे अनुमान होता है कि किसके आवाससे लौटकर वह आई है—! ईषत् मुस्कराकर वह अपनी ही खिल्ली उड़ा देती । सिंहके पंजोंसे विदारित हाथियोंके कुंभस्थलोंके रक्तमें पड़े अनेक रंगोंकी आभावाले मोती राहमें दिखाई पड़ते हैं । तो कहीं ढालमें जल-धाराओंके सूखे पथ दीखते हैं । उनमें ऊपरसे बह आई बहुरंगी बालू और उपलोंमें स्वर्णकी धूलि और रत्नोंके कण चमकते दीख पड़ते हैं । उन मोतियों और स्वर्ण-रत्नकी धूलिको खेल-खेलमें पैरोंसे उछालती हुई अंजना द्रुत पगसे पहाड़ उतर चलती ।

लौटते हुए राहमें वह चंदनका बन पड़ता है । रातमें चांदकी किरणोंके स्पर्शसे चंद्रकांत शिलाएं पर्वत-शिखरपर पिघलती हैं । वहांसे जलके निर्झर बहते रहते हैं । उस जलके सिंचनसे बनौषधियां दिव्य हो गई हैं । चंदन-वनके काले भुजंग उन औषधियोंके जालोंमें घूम-घूमकर निर्विष हो गये हैं । उनकी मणियां यहां सहज, सुप्राप्त चारों ओर बिखरी मिलती हैं । रलमलाते हुए सांप पैरोंके पाससे निकल जाते हैं—अंजना रुककर, देखने लग जाती है—तभी फन उठाकर मणि-धर भुजंग वंदन करता है । वत्सल-स्निग्ध नयनोंसे मुस्कराकर वह उसके फनपर हाथ रख देती और आगे बढ़ जाती ।

××× अंजना अपनी गुफ़ाको लौटती हुई रास्तेमें सोचती । सृष्टिमें चारों ओर दान और दाक्षिण्यका मुक्त यज्ञ चल रहा है । सभी

अपने आपको दानकर यहां सार्थक हो रहे हैं। अभिमान यहां चूर-चूर होकर भूमिसात् हो जाता है। चारों ओर फैली पड़ी हैं दानकी अमूल्य निधियां। सर्व-काल वे सुलभ और सुप्राप्त हैं। पर नहीं जागता है उन्हें उठाकर पास रखनेका लोभ। सब-कुछ यहां सदा अपना है। सहज ही एक भाव मनमें बिराजता है: इस भीतर और बाहरके समस्त चराचर के हमीं जैसे निर्बाध स्वामी हैं। यह सब हममें है, और हम इस सबमें कहां नहीं हैं? फिर लोभ कैसा, हिंसा क्यों, संग्रहका भाव क्यों?

× × × एक दिन ऐसे ही अपने भ्रमणमें अंजना वसंतको साथ लेकर एक पर्वत-घाटीमें घूम रही थी। नाग और तिलक वृक्षोंसे ढाल पटा था। उनकी जड़ोंमें उगकर वन-मल्लिकाओंके वितान चारों ओर छा गये थे। एक जगह भूरे पाषाणोंकी कुछ सीढ़ियां दीखीं। आस-पासकी ऊंची-नीची चट्टानोंमें किंशुककी लाल परागमें भीगे चकोरोंके जोड़े बैठे थे। चट्टानके एक पटलमें एक चतुष्कोण गहराई-सी दीखी। ऊपर जाकर पाया कि उसमें मल्लिकाके फूलोंका एक स्तूपाकार ढेर समाधि-सा पड़ा है। उसके ऊपर एक मस्तककी आकृति-सी झांकती दिखाई पड़ी। उत्सुकतावश अंजनाने वह मल्लिकाके फूलोंका स्तूप हटा दिया।—भीतरसे एक बड़ी ही मनोज्ञ, विशाल पद्मासन मूर्ति पहाड़में खुदी हुई निकल आई। मूर्ति अनेक पानीकी धाराओं और ऋतुओंके आघातोंसे काफ़ी जर्जर हो चुकी थी। पर उस मुखकी कोमल, सौम्य भाव-भंगिमा और उन मुद्रित ओठोंके बीचकी वीतराग मुस्कान अभी भी अभंग थी। लगता था कि मूर्तिके ये ओंठ जैसे अभी-अभी बोल उठेंगे। ऐसी जीवंत और मनोमुग्धकारी छबि है कि आंख हटाये नहीं हट रही है। उसके पाद-प्रांतमें एक हरिण चिह्नित था।...तीर्थंकर शांतिनाथ! अंजना तो देखते ही हर्षसे पागल हो उठी। मनमें गानकी तरह एक भाव उच्छ्वसित हुआ—जो अनायास उसके ओंठोंसे उत्सकी तरह फूट पड़ा—

"..कौन सर्वहारा शिल्पी, किस दिव्य अतीतमें आया था—

इस मानव-हीन अगम्य पार्वत्य भूमिमें ? किस दिन उसने महाकाल-की धारामें अपनी टांकीका आघात किया था ?——पाषाणकी इस वज्र-कठोरतामें अपनी आत्माकी सारभूत कोमलताको वह आंक गया है ! मानवकी जगतीसे ठुकराई हुई हृदयकी सारी स्नेह-निधि वह एकांतके इस पाषाणमें उड़ेल गया है।——मल्लिकाकी शाखाओंमें डोलती हुई हवायें इसपर निरंतर फूलोंके अर्घ्य चढ़ाती हैं, और शिखरपरसे आती जल-धारायें इसका अभिषेक करती हैं। उस अज्ञात शिल्पीको शत-शत बार मेरे वंदन हैं.....!"

पास ही वह आये धातु-रागसे अंजनाने अपने मनका वह गान नीचेकी चट्टानपर लिख दिया। उस दिनके बादसे अनुक्षण यह गान अंजनाके कंठमें गूंजता ही रहता। उसी क्षणसे वह स्थल अंजनाकी आराधना-भूमि बन गया। सवेरेके स्नानके बाद यहीं आकर दोनों बहनें पूजा-प्रार्थनामें तल्लीन हो जातीं। अंजनाके कंठसे नित्य-नवीन गान फूटता। झाड़की शाखाको धातु-रागमें डुबाकर अपना गीत वह किसी भी शिलापर अंकित कर देती। मूर्तिके पादमें अपना गान निवेदन करती हुई अंजना नत हो जाती और दूर-दूरकी कंदराओंमें उसकी प्रतिगूंज अनंत होती चली जाती। दोनों बहनोंकी मुँदी आंखोंसे आंसू झरते और भीतर मूर्तिकी स्मित अधिकाधिक तरल होकर फैलती जाती। एकाएक वे ओंठ स्पंदित होते दीख पड़ते और अंजनाके अंतरमें वाङ्मयकी धाराएं फूट निकलतीं। गुहामें लौट, उपलके पात्रमें सिंदूर और स्वर्ण-राग लेकर, वह भोज-पत्रोंके पन्नेके पन्ने रंग डालती। वह क्या लिखती थी, यह तो वह स्वयं भी नहीं जानती थी। देवकी वाणी आप ही उन निर्जीव पन्नोंमें ढल रही थी।

यों दिन सुखसे बीतते जाते थे। समयका भाव मन परसे तिरोहित हो गया था। जीवन प्रकृतिके आंचलमें आत्मस्थ और एकतान होकर चल रहा था। पर रातके अंधकारमें विचित्र जंतुओंकी आंखें

झाड़-झंखाड़ोंमें चमकती और दहकती दीखतीं। कभी-कभी वन्य-पशुओंकी भीषण हुंकारें सुन पड़तीं। दोनों बहनें एक-दूसरेसे लिपट जातीं। उच्च स्वरमें अंजना अपने रचे स्तवनोंका पाठ करती और यों भयकी घड़ियां टल जातीं। वे अचेत होकर नींदके अंकमें पड़ जातीं।

एक दिनकी बात : ऊपर संध्याका आकाश लाल हो रहा था। अपने फलाहारसे निवृत्त होकर अंजना और वसंत अभी-अभी गुफ़ाके बाहर आकर खड़ी हुई थीं।––कि एकाएक दहाड़ता हुआ एक प्रचंड सिंह प्रवाहके उस पार आता हुआ दिखाई पड़ा। सोनहरी और विपुल उसकी अयाल है। उस प्रलंब पीली देहपर काली-काली धारियोंके जाल हैं। काल-सी क्रूर उसकी भृकुटिके नीचे अंगारों-सी लाल आंखें भग-भग कर रही हैं। विकराल डाढ़ोंमें उसकी रौद्र जिह्वा लप-लपा रही है। उसकी प्रलयकारी गर्जनासे चारों ओरकी वन-भूमि आतंकसे थर्रा उठी। पशु-पक्षी आर्त क्रंदन करते हुए, इधरसे उधर झाड़ियोंमें दौड़ते दीखे। एक और लोम-हर्षी हुंकारके साथ सिंह प्रवाहको लांघकर ठीक गुहाके नीचे आ पहुँचा। सामने ही उन मानवियोंको देखकर वह और भी भीषणतासे डकारने लगा। एक छलांग भर मारनेकी देर है कि अभी-अभी वह गुफ़ामें आ पहुंचेगा, और इन दोनों मानवियोंको लील जायगा। वसंत अंजनाको छातीमें भर, भयसे थर्राती हुई गुफ़ाकी दीवारमें धंसी जा रही है। उसे अनुभव हुआ कि अंजनाके गर्भका बालक तेजीसे घूम रहा है। मन ही मन वह हाय-हाय कर उठी––'हे भगवान्! यह क्या अकांड घटने जा रहा है?––क्या इन्हीं आंखोंसे यह सब देखना होगा? अंजनाने समझ लिया कि मृत्युका यह क्षण अनिवार्य है। दोनोंकी आंखोंमें लुप्त होती चेतनाके हिलोरें आने लगे। मृत्युकी एक विचित्र-सी गंध उसके नाकमें भरने लगी। एकाएक अंजना बोल उठी––

"जीजी, मृत्यु संमुख है!––कायाका मोह व्यर्थ है इस क्षण––आत्माकी रक्षा करो। आर्त्त-रौद्र परिणामोंसे मनको मुक्तकर इस मृत्युके

संमुख अपनेको खुला छोड़ दो। रक्षा इन पाषाणोंमें नहीं है——अपने ही भीतर है! देर हो जायगी, जीजी, कायोत्सर्ग करो....''

कहकर अंजना अपने स्थानपर ही प्रतिमा-योग आसन लगाकर प्रायोपगमन समाधिमें लीन हो गई। दृष्टि नासाग्र भागपर ठहराकर, श्वासोच्छ्वासका निरोध कर लिया। देह विसर्जित होकर, निश्चेष्ट निर्जीव पिंड मात्र रह गया। अपने ध्यानमें, पर्वत-घाटीके प्रभुके चरणोंमें उसने अपने प्राणोंको अर्पित कर दिया। वसंत भी ठीक उसका अनुसरण करती हुई उसके पास ही आसीन थी। उस योगमें दोनों बहनोंके चेतन तदाकार हो गये।——एकाएक उनकी ध्यानस्थ दृष्टिमें झलका : एक दीर्घाकार अष्टापद जिसकी सारी देह सोनहली है और उसपर सिंदूरी और काले धब्बे हैं, गुफ़ाकी दूसरी ओरसे हुंकारता हुआ कूद पड़ा। भैरव गर्जनों और डकारोंके बीच दोनोंमें तुमुल संग्राम हुआ।——देखते-देखते सिंह भाग गया और अष्टापद कहीं दिखाई नहीं दिया....!

रात गहरी हो जानेपर जब दोनों बहनोंने आंखें खोलीं तो वही रोजकी निस्तब्ध शांति चारों ओर प्रसरी थी। झाड़ हींस रहे थे और झरनेका घोष अखंड चल रहा था। दोनों बहनोंका बोल रुद्ध था, भीतरकी उसी एक-प्राणतामें वे तन्निष्ठ थीं। एक-दूसरेमें लिपटकर वे सो गई। पर नींद उनकी आंखोंमें नहीं थी।——अचानक रात्रिके मध्य-प्रहरमें पर्वत-शिखरपरसे वीणाकी झंकार उठी, झरनेके जल-घोषमें अपने स्वराघातसे आरोह-अवरोह जगाती हुई वह एक ध्रुव समपर जाकर अशेष हो गई——। जल, थल और आकाशमें शांतिका अनंत आलाप राग फैल चला; समस्त चराचरके प्राणको वह सुखसे ऊर्मिल कर गया। ....नहीं है शोक, नहीं है दुःख, नहीं है घात, नहीं है विरह, नहीं है भय, नहीं है मृत्यु——आनंदकी एक अप्रतिहत धारामें सारा वैषम्य तिरोहित हो गया। अव्याबाध प्रेमके चिर विश्वाससे दोनों बहनोंके हृदय आश्वस्त हो गये। और जाने कब वे गहरी नींदमें सो गईं। रातके

चमत्कारपर सवेरे उठकर वे विस्मित थीं। गुफ़ाके ऊपर चारों ओर घूम-फिरकर वे देख आई, कहीं कुछ नहीं है। सोचा कि अवश्य ही, घाटीमें जो तीर्थंकर प्रभु शाश्वत विराजमान हैं, उनकी सेवामें कोई देव नियुक्त है और उसीने उनकी रक्षा की है। मध्य-रात्रिका वह वीणा-वादन भी उस देवका ही एक दिव्य संदेश था!

××× बात असलमें यह थी कि पर्वतके शिखर-देशमें मणि-चूल नामा एक गंधर्वका गुप्त आवास था। रत्न-चूल नामा अपनी स्त्रीके साथ गंधर्व वहां रहता था। पहले ही दिन जब उस संध्यामें मुनिके चरणोंमें इन दोनों मानवियोंने अपना आत्म-निवेदन किया था, उस समयका सारा दृश्य गंधर्व-युगलने ऊपरसे देखा था। उसी दिनसे छुप-छुपकर वे दोनों, बन्य-पशुओं तथा बनकी और दूसरी भयानकताओंसे इन मानवियोंकी बराबर रक्षा करते रहते थे। इसीसे हिंस्र-पशुओंसे भरे इस विकट अरण्यमें आजतक उन्हें कोई उपद्रव या उपसर्ग नहीं हुआ था। पर गई सांझकी वह घड़ी अनिवार्य थी। गंधर्व-युगलका ध्यान चूक गया। पर जब दुर्योग घट गया, तब एकाएक वे सावधान हो गये। उसी क्षण विक्रियासे अष्टापदका रूप धारणकर गंधर्व आ पहुंचा और उसने उस सिंहको पछाड़ फेंका। गंधर्व संगीतकी सारी सिद्धियोंका स्वामी था। इन बालाओंके मनमें जो भय गहरा हो गया था, उसे शांत करनेके लिये ही उसने मझ-रातमें वह महाशांतिका राग बजाया था। उस दिनसे और भी सन्नद्ध होकर वह गंधर्व-युगल उन मानवियोंकी रक्षामें तत्पर रहता।

× × ×

कुछ ही दिनों बाद—

पर्वत शिखरके वृक्षोंमें दिनका उजाला झांक रहा था। बनकी डालोंमें चिड़ियाएँ प्रभाती गा रही थीं। गुफ़ाके बाहरके शिला-तलपर अभी ही अंजनाने आत्म-ध्यानसे आंखें खोली हैं। चारों दिशाओंमें अंजुलि खोलकर उसने प्रणाम किया। तदनंतर कमंडलु उठाकर वह प्रवाहपर

जानेको उद्यत हुई कि उसी क्षण कटि-भागमें और पेटमें उसे पीड़ा-सी अनुभव होने लगी। वह व्याकुलता उसे अनिवार्य जान पड़ी। वह घप्से ज़मीनपर बैठ गई और पेट थामती हुई असह वेदनासे छट-पटाने लगी। कराहते हुए केवल इतना ही उसके मुखसे निकला--

"जीजी....!"

गुफ़ामेंसे वसंत बाहर दौड़ी आई। अंजनाकी सारी देह और चेहरा एक प्रखर वेदनासे, तपाये सोने-सा चमक रहा था। वसंत तुरंत समझकर सावधान हो गई। खूब ही सतर्कतासे उठाकर उसने अंजनाको उस कासकी शैय्यापर लिटाया।

....पर्वतके शृंगपर स्वर्णके समुद्रमेंसे सूर्यका लाल बिंब झांक उठा। ठीक उसी क्षण अंजनाने पुत्र प्रसव किया। उजालेमें सारी गुहा झलमला उठी। मानो उन पुरातन चट्टानोंमें क्षणभरको सोना ही पुत गया हो। वसंत और अंजनाको दीखा कि गुहाकी छतमें रह-रहकर गुप्त रत्नोंकी सतरंगी किरणोंका आभास-सा हो रहा है। बाहर घाटियोंके फूल-वनोंमें पंछी मंगल-गान गा रहे थे। शिखर-देशमें गंधर्वकी वीणा अनंत सुरावलियोंमें झंकार उठी; हवाओंके झकोरोंमें भरकर सुखोल्लास भरी रागिणियां उपत्यकाओंको आलोड़ित कर गई।

××× अंजनाने पुत्रका मुख देखा: निमिष भर---एकटक वह देखती ही रह गई।--अंतरके अगोचरमें जिस अरूप सौंदर्यकी झलकें भर पाकर, जिसे अपनी इन आंखोंमें बांध पानेको बार-बार वह तरस गई थी---आह वही सौंदर्य !---वही सौंदर्य बंध आया है आज उसीके रक्त-मांसके बंधनोंमें....? पर संमुख होकर खुली आंखों उसे देख पानेका साहस आज नहीं हो रहा है! पलकें गालोंपर चिपकी जा रही हैं, बरौनियोंमें आंसू गुथ रहे हैं।--और स्पर्शातीत कोमलतासे दोनों कृश भुजाओंमें शिशुको भरकर, वह मुग्ध भावसे उसे वक्षमें चांप रही है। मन ही मन कह रही है--

"....नहीं जन्मा है तू आदित्यपुरके राज-महलोंमें, नहीं जन्मा है तू महेंद्रपुरके राज-मंदिरोंमें। नहीं झूल रहा है किसी प्रासादके अलिंदमें तेरा रत्नोंका पालना। ऐश्वर्य और वैभवका कोड़ तुझे नहीं रुचा—नाशकी राह चल, बयाबानोंके इन पाषाणोंमें आकर तुझे जन्म लेना भाया?—निराले हैं तेरे खेल, ओ उद्धत!....तेरी लीलाओंसे मैं कब पार पा सकी हूं? राजांगनमें नहीं हो रहा है तेरे जन्मका उत्सव। इन शून्यकी हवाओं और झरनोंमें बज रहे हैं तेरे जन्मोत्सवके वाद्य! धरणी तेरा बिछौना है और आकाश तेरा ओढ़ना।—चारों ओर मौन-मौन चल रही है, कुसुमोंकी उत्सव-लीला! नहीं समझ पा रही हूं, इसके लिये तुझे महाभाग कहूं या हतभाग्य कहूं, पापी कहूं या पुण्य-पुरुष कहूं....?"

प्रसवके आवश्यक उपचारके उपरांत, वसंत अकेली-अकेली मंगलका आयोजन करने लगी। भर आते एकाकी कंठसे उसने जन्मोत्सवका गीत गाया। द्वारपर उसने अशोकका तोरण बांधा और फूलोंकी डालियोंसे गुफ़ाके अंतर्भागको सजा दिया। सद्यः तोड़े हुए कमलोंके केसरसे उसने शिशुके लिये शय्या रची; तथा घाटीकी देव-प्रतिमाके पादार्घ्य रूप वे मल्लिकाके फूल लाकर उसने अंजनाकी शय्यामें बिछा दिये।

वसंतको अकेले-अकेले गीत गाते और मंगलाचार करते देखकर अंजनाका हृदय जाने किस अचिंत्य दुःखसे उफना रहा था। वसंतकी आंखोंमें थे राजमहलके उस अपूर्व जन्मोत्सवके चित्र, जो कभी होनेवाला नहीं है। याद आया उसे नर-नारियोंके हर्ष कोलाहलसे भरा वह राजांगन। प्रासादमालाओंपर सिंगार-सजावटकी वे विचित्र शोभाएं, वे ध्वज-तोरण और वंदनवारें, वे रंग-बिरंगी दीपावलियां—वह गीत-गान, नृत्य-वाद्योंका समारोह।—और तभी याद आये उसे अपने वे फूल-से बालक....। दोनों बहनोंने एक-दूसरे की ओर से मुंह फेरकर आंसू टपका दिये। गुफ़ाको और भी जाज्वल्यमान उजालेसे भरता हुआ शिशु मुस्करा

दिया ! अद्भुत तरंगोंके चांचल्यसे वह चारों ओर हाथ-पैर संचालित कर रहा है—मानो दिशाओंके पालनेमें ही भूल रहा है ।

यथा समय वसंतने अंजनाको फलोंका थोड़ा रस पिलाया और आप भी फलाहार किया । अंजनाकी सारी वाल-प्रकृति, उसका चांचल्य और औद्धत्य आज खो गया है । हलकी होकर भी आज वह एक अपूर्व संभारसे गंभीर हो गई है । भविष्यकी अगम्य दूरियोंमें फिर उसका चिंताकुल मन भटकता चला गया है ।—धुंधले रहस्यावरणोंकी बादल-वाहिनी सुदूरतामें, जहां उसने बार-बार देखा है—पृथ्वी और आकाश एक अरूप एकतामें बंध गये हैं—वहीं उसकी आंखें लगी हैं: वह पूछ रही है—'कहां हो तुम. . . . ? किन दुखकी विभीषिकाओंमें तुम मेरे मनकी साध पूरने गये हो. . . . ? क्या नहीं लौटोगे कभी इस राह. . . . ?"

वसंतके सामने अबतक तो प्रसव की चिंता ही सर्वोपरि थी । आज अंजना उससे भी निष्कृति पा गई है । इस परम पुण्याधिकारी बालककी वह जननी है । और विचित्र है इसका पुण्य जो निर्जन कंदरामें जन्म लेकर प्रकाशित हो रहा है । लेकिन अब—? अब क्या है भविष्य ? कहां है पवनंजय; क्या है अंजनाका और उनका भावी ? किस राह ले जायगा हमें यह अतुल तेज और पराक्रमका स्वामी बालक ? मुनिने कहा था, उपसर्गोंसे खेलते चलना इसका स्वभाव है । मुनिके वचन तो कभी निरर्थक नहीं होते । जाने कब यह हमें उन उपसर्गोंसे पार करेगा, जाने कब यह अपने चिर दिनके बिछोही माता-पिताको मिलायेगा ? वह भविष्य न तो वह मुनिसे पूछ पाई, और न मुनि ही उसका कुछ संकेत कर गये हैं—जाने क्यों ?

××× दोपहर ढल रही थी कि अचानक आकाशकी ओर वसंतकी निगाह खिची ।—प्रभाके पुंज-सा एक बिमान, विपुल गंभीर स्वरसे पर्वत-प्रदेशको भरता हुआ, नीचेकी ओर आ रहा है । बसंत अनेक

भय और आशंकाओंसे भर उठी। भीतर आकर उसने अंजनाको यह सूचना दी तो उसे भी रोमांच हो आया। अनजाने ही उसने बालकको और भी प्रगाढ़तासे छातीसे दाब-दाब लिया।

मनमें उसके फूटा—"आह, कौन जाने कोई पूर्व भवका वैरी है या आत्मीय? पर आत्मीय—? नहीं आयेगा वह—हरगिज नहीं आयेगा मुझ अभागिनीके पास—इस अरण्य-खंडकी भयानक विजनतामें..?"

ऊपर विमानके आरोही विद्याधरके मनमें भी यही प्रश्न था—'—असाधारण योगायोग है—वैरी या आत्मीय?' इसीसे उसका विमान अटका है और वह नीचे उतरनेको बाध्य हुआ है।

थोड़ी ही देरमें रत्नों से जग-मग करता हुआ विमान नीचे उतरा। अतिशय रूपवान एक विद्याधर और विद्याधरी अचानक गुफ़ाके द्वारपर दिखाई पड़े। बड़े ही आदर-संभ्रम और मर्यादापूर्वक उन्होंने अंजना और वसंतका अभिवादन किया। उनके प्रति प्रतिनमस्कार कर दोनों बहनोंने उनका स्वागत किया। विद्याधर-युगलने सामने ही, अंजनाके अंकमें नक्षत्र-सा ज्योतिष्मान वह बालक देखा। साथ ही अप्सराओं-सी सुंदर, कृश-गात, वल्कल पहने इन तापसियोंको देख वे आश्चर्यसे स्तंभित रह गये। हो न हो, हैं तो कोई तापसियां ही—पर तापसियोंके बालक कैसा? शायद कोई गंधर्व-कन्यायें स्वर्गके सुखसे ऊबकर भूमिपर चली आई हैं, और किसी योगीका योग भंगकर यह ज्योतिर्मय बालक पा गई हैं। इस जनहीन अरण्यमें ऐसी सुंदरी मानवियोंके होनेकी तो उन्हें कल्पना ही नहीं हो सकी।

विद्याधरने सहज कुशल पूछी, और तब विनय-पूर्वक उनका परिचय जाननेकी उत्सुकता प्रकट की। आगतोंके आविर्भावके साथ ही कुछ ऐसा अंतरंगका सामीप्य उन दोनों बहनोंने अनुभव किया कि अपने बावजूद कोई संदेह उनके बारेमें उनके मनमें नहीं रहा। अनायास वसंतने सारा वृत्तांत संक्षेपमें कह सुनाया। विद्याधर-युगल ज्यों-ज्यों सुनते जाते थे,

उनकी आंखोंसे आंसुओंकी झड़ी लग रही थी। ज्योंही वृत्तांत समाप्त हुआ कि विद्याधर अपनेको सम्हाल न सका—

"हाय, बेटी अंजन...तेरे ऐसे भाग्य..? यह क्या अनर्थ घट गया..?"

कहते हुए वह आगे बढ़ आया और उसने अंजनाको शिशु-सहित छातीमें भर लिया और कंठ भर-भरकर पागलकी तरह वह उसे भेंटने लगा। रुदन उसकी छातीमें थम नहीं रहा था।—अंजना विस्मित थी, पर अंतरमें उसके भी वात्सल्य ही वात्सल्य उभरा रहा था। किंचित् मात्र भी कोई शंका मनमें नहीं जागी। थोड़ी देर बाद कुछ स्वस्थ होनेपर विद्याधरने अपना परिचय दिया। उसने बताया कि वह राजा चित्र-भानु और रानी सुंद-मालिनीका पुत्र प्रतिसूर्य है। हनुरूहद्वीपका वह राजा है, और अंजना उसकी भानजी होती है। अंजना शैशवमें केवल एक बार मामाके घर हनुरूहद्वीप गई थी। उसके बाद फिर प्रतिसूर्यने उसे कभी नहीं देखा, इसीसे वे उसे पहचान न सके। सुना तो अंजनाका हृदय भी जैसे विदीर्ण होने लगा। रक्तमें कौटुंबिक स्नेह और वात्सल्यका उफान आये विना न रहा, जो भी चारों ओरसे बिल्कुल निर्मम और निरपेक्ष होकर उसने यह निर्जनकी राह पकड़ी थी।—उसे याद हो आये वे प्रसंग जब कई बार मां हनुरूहद्वीपके संस्मरण सुनाया करती थी। अपनी अबोध अवस्थामें हनुरूहद्वीप जानेकी एक धुंधली-सी स्मृति भी उसे है—समुद्रका वह महानील प्रसार, और उस समुद्र-यात्रामें मांके द्वारा दिखाये गये वे मगर-मच्छ !—अंजना अपने आंसू न थाम सकी। उसने मुंह दूसरी ओर फेर लिया और बेसुध-सी हो रही। मामीने गोदमें लेकर अंजनाका शीतोपचारकर उसे स्वस्थ किया, फिर अपने दुकूलके आंचलमें उसे ढांपकर उसका लिलार चूम लिया।

वसंतने बहुत ही सकुचाते हुए कमलके पत्तोंपर अतिथियोंके संमुख फलाहार रखा। सुख और दुखके खट्टे-मीठे आंसू भरते, मामा और

मामीने फलाहारकर अपनेको धन्य माना। इसके अनंतर अंजनाने वसंतका परिचय दिया। उसके अप्रतिम सर्वस्व-त्यागकी कथा सुनकर विद्याधर युगलकी आंखें फिर सजल हो आईं। बार-बार बलायें लेकर, उन्होंने नतशिर होकर उस निष्काम संगिनीके त्यागका अभिनंदन किया।

थोड़ी ही देरके इस संयोग और पारस्परिक बातचीतमें, मामाने मन ही मन समझ लिया था, कि इस अंजनाके मनपर काबू पा जाना सहज नहीं है। वसंतके मुंहसे इस लड़कीकी दुर्धर्ष लीलाएं सुनकर, विद्याधरकी सारी विद्या और पौरुषकी तहें कांप उठी थीं। फिर भी डरते-डरते विनतीके स्वरमें प्रतिसूर्यने अंजनासे कहा—

"बेटी अंजन, जानता हूं, कि समस्त लोक तेरे प्रति अपराधी है। उसी लोकके बंधनों में बँधा मैं भी एक अज्ञानी मानव हूं। आज तुझे उसी लोकमें लौटनेको कहते, यह छाती फटी पड़ती है। संसारने जो अन्याय तेरे साथ किया, उसका प्रायश्चित्त नहीं हो सकता। लेकिन फिर भी यदि तू अपने इस दुखी और निःसंतान मामापर दया कर सके, तो उसका हनुरूहद्वीप तुझे पाकर धन्य होगा—और धन्य होगा उसका जीवन. . . ."

बोलते-बोलते कंठ भर आया। कुछ देर रहकर फिर प्रतिसूर्य बोले—

"प्रतिसूर्यका जीवन वैसे ही सूना और निरर्थक है—और आज यदि तू नहीं चलेगी मेरे साथ—तो संसारमें यही सब कुछ देखनेके लिये अब और जीवित नहीं रह सकूंगा—तुझे विवश करनेका पाप कर रहा हूं, पर स्वयं विवश हो गया हूं. ."

कहकर मामाने फिर एक बार अंजनाके हाथ जोड़ लिये। अंजनाने हृदयके आवेगपर संयम किया और धीर गंभीर स्वरमें कहा—

". . .अपराध लोकका और किसीका भी नहीं है, मामा, अपने ही पूर्वमें किये कर्मोंका वह फल है। अपने ही उस अर्जित पापको लोकके

माथे थोपकर, फिर नया पाप मैं नहीं बांधूंगी ।--प्रभु मुझे बल दें कि सपनेमें भी, अपने दुखके लिये परको दोष देनेका भाव मुझमें न आये । दुख है मनमें तो इसी बातका कि लोकके जो अनंत उपकार मुझपर हैं, उनकी ओर से पीठ फेरकर मैं कृतघ्ना अपने बचावके लिये, इस निर्जनमें मुंह छिपाती फिर रही हूं !--तुम्हारे प्रेमको न पहचान सकूं इतनी हृदय-हीन भी नहीं हो गई हूं, मामा ! पर सोचती हूं मैं बहुत अयोग्य हूं--तुम्हारे साथ चलकर कहीं तुम्हें भी विपदमें न डाल दूं ?-- क्योंकि विपदाओंमें चलनेके लिये ही अंजनाने इस लोकमें जन्म लिया है ! ..आगेकी बात तुम्हीं जानो, मामा.."

कहते-कहते अंजना फिर भर आई और छल-छलाई आंखोंसे पास सोये शिशुको ताकती रह गई ।

× × × अंजना, वसंत और शिशुको साथ लेकर प्रतिसूर्यका विमान तीरके वेगसे खाईको पार कर रहा था । हवामें मोतियोंकी झालरें उलझ रही थीं, और मणियोंकी घंटिकाएं बज रही थीं । ज्यों-ज्यों विमान-का वेग बढ़ता जा रहा था, अंजनासे अपनी गोदका शिशु सम्हाले न सम्हल रहा था ।..कि पलक मारते में हाथसे उछलकर बालक खाईमें जा गिरा । नीचे गिरते बालककी ओर देख अंजनाके मुंहसे चीत्कार निकल पड़ी--

"आह..तू भी..छोड़ चला..मुझे.."

कहकर अंजना मूर्छित होकर धमाकसे पायदानमें गिर पड़ी । विमान विलाप और रुदनकी पुकारोंसे गूंज उठा ।

बालकके गिरनेके ठीक स्थलपर दृष्ट लगाये, द्रुतवेगसे प्रतिसूर्य विमानको तलमें लाये । ठीक वहीं आकर विमान उतरा जहां बालक गिरा था । पर्वतकी एक वज्र-सी चट्टानपर बालक फूल-सा मुस्कराता हुआ क्रीड़ा कर रहा था । नीचे उसके शिलाके सौ-सौ टुकड़े हो गये थे ! अपार सुख और आश्चर्यसे पुलकित सभी देखते रह गये । चेतमें लाये

जानेपर अंजनाने जो उठकर बालक को देखा. .तो उसकी आंखें झुक गई, और मुख उसका अपूर्व लज्जा और रोमांचसे लाल हो गया !

प्रतिसूर्यने बालकको गोदमें उठाकर उस अमृत-पुत्रकी वह तेजस्वी लिलार चूम ली और अनुभव किया कि उनका मानव -जन्म कृतार्थ हो गया है। बालकको अंजनाकी गोदमें देते हुए बोले—

"इसे जन्म देकर तेरी कोख धन्य हुई है, अंजनी !—निश्चय ही समचतुरस्र-संस्थान और वज्र-वृषभ-नाराच संहननका धारी है यह बालक। इसके बल-वीर्यसे पहाड़ खंड-खंड हो गया है, पर इसका घात नहीं हो सका। निश्चय ही यह कोई चरम-शरीरी और तद्भव मोक्ष-गामी है—!'

तब वसंतने प्रसंग-वश मुनिकी भविष्य-वाणी कह सुनाई। सुनकर सबकी आंखोंमें हर्षके आंसू आ गये।

× × × हनूरुह-द्वीपमें ग्यारह दिन तक अंजनाके पुत्रका जन्मोत्सव देवोपम समारोहसे मनाया गया। चारों ओरके सागर-प्रांतमें मानो इंद्रलोककी रचना ही उतर आई थी। हनूरुह-द्वीपमें जन्मोत्सव होनेके उपलक्ष्यमें बालकका नाम रक्खा गया—हनूमान !

द्वीपके चारों ओरकी समुद्र-लहरोंके गर्जनमें गूंज-गूंज उठता—

"काम-कुमार हनूमानकी जय, अजित-वीर्य हनूमानकी जय. . !"

[२८]

रत्न-कूट प्रासादसे उड़कर पवनंजयका यान कैलाशकी ओर वेगसे बढ़ रहा है। आकाशके तटोंमें चारों ओर दिनका नवीन उजाला उमड़ रहा है। नीचे धुंध और बादलोंमें होकर, शस्य-श्यामला पृथ्वीका चित्रमय गोलार्ध तैरता-सा दीख रहा है। पवनंजयके दोनों हाथ यानके चक्रपर थमे हैं। पीछे उड़ता हुआ श्वेत उत्तरीय, मानो पीछेसे कोई खींच रहा है। ज्यों-ज्यों वह अदृश्य हाथ उस उत्तरीयको अधिक खींचता है, पवनंजयके

हाथका चक्र उतने ही अधिक वेगसे घूमता है। यानकी गति जैसे समयकी गतिसे होड़ ले रही है।

सामने कैलाशकी हिमोज्ज्वल चूड़ाएं दीख रही हैं। उनपर स्वर्ण-मंदिरोंकी उड़ती हुई ध्वजाओंमें, आज मुक्तिके आंचलका आवाहन है।—कुमारका हाथ चक्रपर थमा रह गया: यान हवाकी मर्जीपर छूट गया। पवनंजयको प्रतीत हुआ कि आज की गतिका सुख अपूर्व है; इसमें निरर्थक उद्वेग नहीं है, प्राप्तिका आनंद है। कितनी ही बार इससे कहीं बहुत ऊंची और खतरनाक ऊंचाइयोंमें वह यानपर उड़ा है। दुर्दम्य था उन उड़ानोंका वेग! पर उनमें सुख नहीं था, प्राप्ति नहीं थी, लक्ष्य नहीं था। थी एक विघातक छलना। चारों ओर शून्य ही शून्य था, आमंत्रणहीन और निर्वाक्।

पर आज तो दिशाएं अवगुंठन खोले मुग्धा-सी खड़ी हैं। उनकी भुजाओंमें एक उन्मुक्त आलिंगन खेल रहा है। और उसके संमुख पवनंजयका माथा नीचे झुक गया है। उन गर्वीली भृकुटियोंका मान पानी बनकर आंखोंसे ढलक पड़ा है।—नहीं है साहस कि इस आलिंगनको वे झेल लें। नहीं है बल कि उसे अपनी भुजाओंमें बांध लें, या आप उसमें बंध जायें। अपनी असामर्थ्यकी लज्जामें वे डूबे जा रहे हैं। इन दिशाओंको जीतनेका उनका एक दिनका अरमान आज अपनी ही खिल्ली उड़ा रहा है।—पवनंजयको प्रतीत हुआ कि बाहरकी ओर जो वह गतिकी चंचल वासना, दिन-रात मनको उद्वेलित किये थी, वह थी केवल गतिकी भ्रांति। वह थी गतिकी भटकन—अवरोध—उसी मरीचिकाको समझ रहा था वह—प्रगति?—भीतरकी धुरीमें जहां नित्य और सम परिणमन है, उसी केंद्रमें पवनंजय आज मानो लौट रहे हैं।

कानोंमें गूंज रहे हैं विदा-बेलाके अंजनाके वे शब्द—'..मेरी शपथ लेकर जाओ कि अनीति और अन्यायके पक्षमें, मद और मानके

पक्षमें तुम्हारा शस्त्र नहीं उठेगा। क्षत्रियका रक्षा-व्रत विजयके गौरव और राज-सिंहासनसे बड़ी चीज है। तुम्हारा ही पक्ष यदि अन्यायका है तो उसीके विरुद्ध तुम्हें लड़ना होगा..'

नहीं चाहिये आज उसे वीरत्वकी कीर्ति। जंबु-द्वीपके नरेन्द्र-मंडल-पर अपने पराक्रमकी छाप डालनेकी इच्छा, आज मानो अनायास लुप्त हो गई है। राज्यकी आकांक्षा तो किसी भी दिन उसमें नहीं थी। और विजयके शिखर वह सारे गूंध आया है, वहां हैं केवल निष्प्राण शिलाएं, जो शून्यमें कसककर दम तोड़ रही हैं, और हवाएं रुदनकी तरह वहां भटक रही हैं। वहांसे गिरकर तो वह धरतीके पादमूलमें आ पड़ा है। चारों ओरसे हारकर आज जब वह सर्व-हारा हो गया है, तो विश्व-की सारी विजयों और महिमाओंके मूल्य उसे फीके लग रहे हैं।——मानो पैरोंके पास टूटी हुई जय-मालाओंके फूल कुम्हलाए हुए पड़े हैं! पवनंजयका सारा मन आज उस शांत समुद्रकी तरह पड़ा है, जो अपनी धरिणी पृथ्वीकी गर्भ-सेजमें आत्मस्थ होकर सो गया है।

मानसरोवरपर यान उतरा। सेनाओंको आज्ञा दी गई कि प्रस्थानकी तैयारी करें। रण-सज्जामें सजे हुए पवनंजय गंभीर चिंतामें मग्न हैं। पास ही एक चौकीपर प्रहस्त चुप-चाप बैठे हैं। एकाएक पवनंजयने मौन तोड़ा——

"बंधु प्रहस्त, अब युद्ध संमुख है। यह भी जान रहा हूं कि वह अनिवार्य है, और मेरी इच्छाका प्रश्न उसमें नहीं है। वह कर्त्तव्यकी अटल और कठोर मांग है। पर यह भी निश्चय अनुभव करता हूं कि शायद यही मेरे जीवनका पहला और अंतिम युद्ध होगा।——क्योंकि नहीं समझ पा रहा हूं कि बाहर किसके विरुद्ध मुझे लड़ना है?....मुझे तो साफ़ दीख रहा है, प्रहस्त, कि शत्रु बाहर कहीं नहीं है——वह अपने ही भीतर है। वही शत्रु सबसे बड़ा है और अबतक उसीसे पद-दलित होता रहा हूं! उसे ही अपना सारा अपनत्व सौंप बैठा

था, और निरंतर छातीमें पदाघात सहकर भी उसीके पैरोंसे लिपटा रहा। आज उसे पहचान सका हूं, और उसीसे आज खुलकर मेरा युद्ध होगा। उसे जीते बिना, बाहरकी इन सारी विजयोंके अभिमान मिथ्या हैं—वह निरी आत्म प्रवंचना है। पर उसे जीत पाना क्या सहज संभव है?—कुछ हो प्रहस्त, उस शत्रुको अधीन किये बिना, पवनंजयको इस युद्धसे लौटना नहीं है....!"

सुनकर प्रहस्तकी खुशीका ठिकाना नहीं था। उसके मनका सबसे बड़ा बोझ जैसे आज उतर गया। उसे निष्कृति मिली, वह कृतार्थ हुआ। उसका दिया दर्शन आज मस्तिष्कसे उतरकर हृदयकी मर्मवाणी बोल रहा है। प्रहस्त सुनकर पुलकित हो रहे। फिर सहज बातको सहारा भर दे दिया—

"हां पवन, समझ रहा हूं। चाहे जितना दूर तुमने मुझे ठेला, पर क्या तुमसे क्षण भर भी दूर मैं अपनेको रख सका?—हां, तो सुनूं पवन, क्या है तुम्हारी योजना?"

पवनंजय खिल-खिलाकर हँस पड़े—

'हूं..योजना?—अचंभा हो रहा है, प्रहस्त, और अपने ही ऊपर हँसी भी आ रही है। इतना बड़ा विशाल सैन्य लेकर आखिर किसपर युद्ध करने चढ़ा हूं मैं—? ज़रा बात मुझे साफ़-साफ़ समझा दो न, प्रहस्त।"

प्रहस्तने साफ़ और सीधी व्यवहारकी बात पकड़ी, बोले—

"पाताल-द्वीपके महामंडलेश्वर राजा रावणके मांडलीक हैं आदित्य-पुरके महाराज प्रह्लाद। जंबु-द्वीपके अनेक विद्याधर और भूमि-गोचर राजा उन्हें अपना राज-राजेश्वर मानते हैं।—वरुण-द्वीपके राजा वरुणने, रावणका आधिपत्य स्वीकार करनेसे इनकार किया है। वह कहता है कि—यदि रावणको अपने देवाधिष्ठित रत्नोंका अभिमान है, तो मुझे अपने आत्म-स्वातंत्र्य और अपने भुज-बलका। इसपर रावणने

अपने देवाधिष्ठित रत्न उतार फेंके हैं, और स्वयं अपना भुज-बल दिखाने राजा वरुणपर जा चढ़े हैं। युद्ध बहुत भीषण हो गया है, संहारकी सीमा नहीं है।——रावणके हम मांडलीक हैं, सो निश्चय ही हमें रावणके पक्षपर लड़ना है, इसमें दुविधा कहां हो सकती है, पवन ?"

पवनंजय चुप रहकर कुछ देर सोचते रहे। फिर ज़रा मुंह मलकाकर गंभीर स्वरमें बोले——

"रावणके मांडलीक हैं आदित्यपुरके महाराज प्रह्लाद, मैं नहीं। और इस समय इस सैन्यका सेनापति मैं हूं, महाराज प्रह्लाद नहीं !——और शायद तुम्हें याद हो प्रहस्त, इसी मानसरोवरके तटपर, मैंने तुमसे कहा था कि आदित्यपुरका राज-सिंहासन मेरे भाग्यका निर्णायक नहीं हो सकता।——उस दिन चाहे वह क्षणका आवेग ही रहा हो, पर अनायास मेरे भीतरका सत्य ही उसमें बोला था। तब युद्धमें पक्ष चुननेका निर्णय मेरे हाथ है, आदित्यपुरके सिंहासनसे वह बाध्य नहीं. . . !"

कहते-कहते पवनंजय हंस आये। बोलते समय जो भी उनका स्वर गुरु-गंभीर था, पर उनकी भौहोंमें वह सदाका तनाव नहीं था। आवाज़में उतावलापन और उत्तेजना नहीं थी। थी एक धीरता और निश्चलता।

"आदित्यपुरका सिंहासन यदि इतना नगण्य है, तो तुम लड़ने किसके लिये जा रहे हो, पवन, यही नहीं समझ पाया हूं ?"

"कर्तव्यके लिये लड़ने चला हूं, प्रहस्त !——अगोचरसे धर्मकी पुकार सुनाई पड़ी है। पर किस व्यक्तिके विरुद्ध लड़ना है, यह सचमुच मुझे नहीं मालूम। मेरा युद्ध व्यक्तिके विरुद्ध कहीं नहीं है, वह अन्याय और अधर्म के विरुद्ध है।——और मेरा युद्ध सिंहासनके लिये नहीं, अपनी और सर्वकी आत्म-रक्षाके लिये है। अपने ही को यदि नहीं रख सका, तो सिंहासनका क्या होगा ? और जो सिंहासन अपनेको रखनेके लिये अन्यायके संमुख झुक जाये, वह मेरा नहीं हो

सकता। आदित्यपुरका राज-सिंहासन यदि रावणकी रक्षाका भिखारी बनकर क़ायम है, तो उसका मिट जाना ही अच्छा है।—हो सका तो उसे अपने बलपर ही रक्खूंगा, और नहीं तो रावण ही उसे रख लें, मुझे आपत्ति नहीं होगी!"

प्रहस्तने पाया कि यह केवल मस्तिष्कका तर्क नहीं है, अंतरका निवेदन है, जो सहज आत्म-ज्ञानसे प्रबुद्ध है। उसके आगे कोई प्रतिवाद मानो नहीं ठहरता। प्रहस्तका मन अश्रु-भारसे नम्र होकर झुक आया। पर वह कठोर होनेको बाध्य है। उसके सामने राज्य-कर्तव्य है; राज्यके कुछ निश्चित हितोंकी रक्षाका दायित्व उसपर है। पर इस पवनंजयकी दृष्टिमें राज्य तो शून्य है। यह कैसे बनेगा—? सब कुछ समझते हुए भी यंत्रवत् प्रहस्तने आपत्ति उठाई—

"—चूक रहे हो पवन, तुम इस समय आदित्यपुरके सेनापति हो, आदित्यपुरके राजा नहीं। सिंहासन और राज्यको रखने न रखनेका निर्णय राजाके आधीन है; तुम केवल राजाज्ञाके वाहक हो!"

पवनंजय फिर खिल-खिलाकर हँस आये। कुछ देर चुप रहे, फिर ज़रा सलज्ज भावसे सिर नीचाकर बोले—

"....पर तुमसे क्या छुपा है, प्रहस्त?—तुम सिंहासन और राज्यकी कह रहे हो? पर स्वयं राज-लक्ष्मीको जो पा गया हूं! सिंहासन तो उसीके हृदयपर बिछा है न?—कल रात लक्ष्मीने उसपर मेरा अभिषेक कर दिया है—और तुम्हीं थे उसके पुरोहित! तब राजा कौन है और अधिकार किसका है, इस विवादमें नहीं पड़ूंगा। राजत्व व्यक्तिमें नहीं है। धर्मका शासन जो वहन करे वही राजा है, वह किसी भी क्षण बदल सकता है। मैं तो इतना ही जानता हूं कि राज्य, सिंहासन, राजा, मैं—सब उसीके रक्खे रहेंगे। स्वयं लक्ष्मीकी आज्ञा हुई है—मैं तो उसीका भेजा आया हूं। आदेशका पालन भर करने चला हूं। पथकी स्वामिनी वही है। तुम, मैं, राजा और यह विशाल

सैन्य, सब उसीके इंगितपर संचालित हैं।——इसके ऊपर होकर मेरा कुछ भी सोचना नहीं है।"

प्रहस्त अपनी हँसी न रोक सके। आंखें पुलक आईं। उन्हें लगा कि पवनंजय नव-जन्म पा गया है। इतने वर्षोंका वह चट्टान-सा कठोर हो गया पवनंजय, सरल नव-जात शिशु-सा होकर सामने बैठा है। जीमें आता है कि दुलारसे बाहमें भरकर इस मुंहको चूम लें, जो यह नई बोली बोल रहा है।——पर भावना इस क्षण वर्जित है, ठोस वास्तवकी मांग इस समय सामने है। हँसते हुए ही प्रहस्त बोले——

"लक्ष्मीकी आज्ञा तो सारे छत्रोंके ऊपर है, पवन, उसे टालनेकी सामर्थ्य किसकी है? वह तो शक्तिदात्री भगवती है, लोककी और अपनी रक्षाके लिये, वह हमें शक्ति और तेजका दान करती है। अपने वक्षपर धर्मकी जोत जलाकर वह हमारा पथ उजाल रही है! उस बारेमें मत-भेदको अवकाश कहां है?——पर व्यवहारकी राज-नीतिमें हमें पग-पगपर ठोस सचाईका सामना करना है। वह जीवनका गणित है; यथार्थ जीवनको व्यवहारके उसी हिसाब-किताबसे चलाना होगा, नहीं तो बड़ी उलझन हो जायगी।"

कहकर प्रहस्तने ओंठ काटकर हँसी दबा दी। जान रहा है कि वह आप द्वैतके शिकंजेमें फँसा है और पवनंजयको भी उसीमें खींच रहा है। क्योंकि वह तो इस समय उस प्रत्यक्ष राज-कर्तव्यका प्रतिनिधि है और उसके प्रति उत्तरदायी होनेको वह बाध्य है। पर पवनंजयका मन निर्द्वंद्व और स्वच्छ है, तुरंत प्रहस्तको उन्होंने भुजापर थाम लिया और ईषत् मुस्कराते हुए बोले——

"भैय्या प्रहस्त, वयमें कुछ ही तुम मुझसे बड़े हो; पर बचपनसे तुम्हें गुरुजनकी तरह मन ही मन श्रद्धाकी दृष्टिसे देखा है। राज-नीतिके सूत्र यदि कभी तुमसे सीखे थे, तो अध्यात्म और दर्शनका मूल संस्कार भी तुम्हींने मुझे दिया था। पर मुझे लग रहा है, प्रहस्त, उलझन

बाहर कहीं नहीं है, वह तुम्हारे मनमें ही है। भगवतीके वक्षमें जल रही धर्मकी जोत यदि हमारा पथ उजाल रही है, तो फिर कौनसी राज-नीति है, जो उससे ऊपर होकर हमारा पथ बदल सकती है ? धर्म और राज-नीतिको अलग-अलग करके देखना, जीवनको अपने मूलसे तोड़कर देखना है ! तब जीवनकी परिभाषा होगी मात्र संघर्ष—स्वार्थोंके लिये संघर्ष, मान और तृष्णाके लिये संघर्ष, संघर्षके लिये संघर्ष । उसमें अभीष्ट सर्वका और अपना आत्म-कल्याण नहीं है। उसमें उद्दिष्ट है केवल अपने तुच्छ, पार्थिव स्वार्थों और अहंकारोंकी तुष्टि।—गणितका काम तो खंड-खंड करना है, वह अंशों और भिन्नोंमें जीवनको बांटकर हमारे चैतन्यको ह्रस्व कर देता है। इसीसे वह केवल निर्जीव वस्तुओंकी माप-जोखके लिये है। पर जीवनका अनुरोध है, अखंडकी ओर बढ़ना। उसका गति-निर्देश गणित और हिसाबी राज-नीतिसे नहीं हो सकेगा। जीवनका देवता है धर्म, जो हमारे अंतरके देव-कक्षमें शाश्वत विराजमान है। जीवनका सूत्र-संचालन वहींसे हो रहा है। ज़रा भीतर झांककर देखें, हमारे हृदयके स्पंदनमें उसका वेदन सतत जागृत है। हृदय जड़ीभूत हो गया था, इसीसे राह खो गई थी ! धर्मकी अधिष्ठात्रीने आज स्वयं, हृदयको मुक्त कर दिया है, इसीसे राह अब साफ़ दीख रही है। वास्तवकी यह ठोस और अंतिम दीखनेवाली सचाई, यथार्थमें जड़ता है, वह मिथ्या है, उससे नहीं जूझना है। जड़तासे टकरा रहे हैं, इसीसे गणित और राज-नीति सूझ रही है ! जीवन प्रवाही है, सो उसका सत्य भी प्रवाही है। धर्म उसी प्रवाहकी अखंडताके अनुभवका नाम है। अपने प्राणकी हानिसे बचना ही हमारी पल-पलकी चेतना है : दूसरेका प्राण-घातकर अपना प्राण सदा अरक्षित ही रहेगा। इसी निरंतर अरक्षाकी स्थितिसे ऊपर उठनेके लिये, हमें अपने ही प्राणके अनुरोधके अनुसार, निखिलके प्राणको अभय देना है। राजा और राज्य इसीलिये हैं, शासन और व्यवस्था इसीलिये

है। इसी रक्षा-व्रतका पालन करनेके लिये पृथ्वीपर क्षत्रियका जन्म है।—सिंहासनपर बैठे हैं धर्म-राज, लोकमें शासन उन्हींका है। हम हैं केवल उस कल्याण-विधानके आज्ञाकारी अनुचर! उससे टूटकर राजा और राज्यके अधिकारका क्या मूल्य रह जाता है?—और हमारी राजनीति भी तब क्या उस धर्मके अनुशासनसे अलग होकर चल सकती है..?"

प्रहस्तने देखा कि जिस प्राणकी अतल गहराईसे, प्रवाही जीवनके सत्यकी यह बात कही जा रही है, उसपर तर्क नहीं ठहर सकेगा। नहीं—अब वह और अपनेको धोखा नहीं देगा। होनहार क्या है, सो अंतर्यामी जानें। अपना मत उसने समेट लिया—मात्र पवनंजयसे अनुशासन भर वह चाहता है—बोला—

'अच्छा पवन, तब तुम्हारा धर्म-शासन इस प्रस्तुत युद्धके संमुख हमें क्या करनेको कहता है? अपना अंतिम निर्णय दो, वही आज्ञारूपमें सैन्यको सुनाकर, यहांसे तुरंत प्रस्थान करना है।"

मेरु-अचल निश्चयके स्वरमें पवनंजय बोले—

"रावण महामंडलेश्वर बने हैं अपने देवाधिष्ठित रत्नोंके बलपर। साम्राज्यका स्वामित्व भोगनेकी अहं-तृष्णा ही इसके पीछे है। सभी राज-पुरुष अपनी-अपनी राज्य-तृष्णाओंके वश रावणको अधीश्वर माननेको बाध्य हैं। यह धर्मका शासन नहीं है, आतंकका शासन है, स्वार्थों और अहंकारोंका संगठन है!—लोक-हित और लोक-रक्षाकी प्रेरणा इस युद्धके पीछे नहीं है। यह है केवल आपा-धापी और छीना-झपटीका पाशव-युद्ध। न्याय-अन्याय, नीति-अनीतिका भेद यहां लोप हो गया है; प्रजाका जीवन, मात्र राजाकी वैयक्तिक मान-तृष्णाकी तृप्तिके लिये शोषणका साधन भर गया है। राजा वरुणने देवाधिष्ठित रत्नोंके अभिमानको ललकारा है, आतंकको उसने चुनौती दी है। निर्बल और शोषित होकर जीनेसे उसने इनकार किया है। एक ओर जंबु-द्वीपका इतना बड़ा नरेंद्र-मंडल है, और दूसरी ओर है अकेला वरुण। जानता है कि उसने

मौतको न्योता है, पर अहंकार,-आतंक और स्वार्थी शोषणके चक्रोंके तोड़नेके लिये उसने सिंहासन तो क्या प्राणतक की बाजी लगा दी है। तब मानना ही चाहिये कि मात्र सिंहासनके लोभसे वह ग्रस्त नहीं, अपनी हार-जीतका मोह त्याग, सत्यके लिये लड़नेको वह उद्यत हुआ है। तब पवनंजय इस युद्धमें वरुणके पक्षपर ही लड़ सकता है, अन्यथा इस युद्धमें उसका कोई प्रयोजन नहीं हो सकता। और उसमें भी पक्ष या विरोध व्यक्तिका नहीं है, वह धर्म और अधर्मका है। तब वरुण भी किसी दिन छूट सकता है। रास्तेके मोर्चोंपर मेरी सेना नहीं ठहरेगी। उस प्रधान रणांगणके बीचों-बीच जाकर हम विराम करेंगे, जहां वरुण और रावण आमने-सामने हैं। मुझे उनके बीच खड़े होना है। मेरा निवेदन शस्त्रसे नहीं है, मैं पहले मनुष्योंसे बात किया चाहता हूं। शस्त्र तो मात्र अंतिम अनिवार्यता हो सकती है।——सखे प्रहस्त, उठो, निश्चयानुसार सैन्यको प्रस्थानकी आज्ञा सुना दो....।"

××× प्रयाणका तूर्य-नाद दिशांतों तक गूंज उठा। विशाल सैन्यका प्रवाह हिम-गिरिकी घाटियोंमें उमड़ पड़ा। 'देव-पवनंजय' की जय-जय-कारोंसे पर्वत-पाटियां हिल उठीं।——और इसी बीच अपने सत-खंडे रथके सर्वोच्च खंडपर खड़े होकर पवनंजयने प्रणत हो कैलाशको तीन बार प्रणाम किया। फिर दोनों हाथ आकाशमें उठाकर पुकारा——

"कर्म-योगीश्वर भगवान् वृषभ-देवकी जय, राज-योगीश्वर भगवान्-भरतकी जय..."

चौगुने उल्लास और उन्मेषसे सैन्यके प्रवाहमें यह जय-जयकार गूंजती ही चली गई।

[२९]

अनेक देशांतरों, नदियों और पर्वतोंको लांघकर, कई दिनों बाद, पवनंजयका सैन्य जल-वीचि पर्वतपर आया। पर्वतकी सिंधु-तरंग नामा

चूड़ापर खड़े होकर पवनंजयने देखा---दूरपर समुद्रमें घुसता हुआ अंतरीप दीख रहा है।---भरत-क्षेत्रके दक्षिण समुद्र-तटपर वैताढ्य और विजयार्धके विद्याधरोंकी सेनाओंका स्कंधावार दिखाई पड़ा। पवनंजयके सैन्यका रण-वाद्य सुनकर, स्कंधावारमें हल-चल मच गई। जो भी यह मित्र राजवियोंका मोर्चा है और नवागत सैन्य भी उनका मित्र ही है, फिर भी राजा-राजाके बीच जो अहंकारोंके अंतर-विग्रह हैं, आपसके वैर, मात्सर्य और ईर्ष्याएं हैं, वे भीतर-भीतर कसमसा उठीं। और फिर जैसी कि पूर्व सूचना मिली थी, इस सैन्यके सेनापति हैं देव पवनंजय---जंबु-द्वीपके ये निराले और बदनाम राजपुत्र, जिनको लेकर विचित्र कथाएं राज-घरोंमें प्रचलित हैं।---स्कंधावारमें दबी ज़बानसे व्यंग-विनोद होने लगे। अबतकके मनोंमें छुपे हुए दाव-घात, अकारण मुंहपर आने लगे। स्वागतमें यहां भी सारे सैन्यका एकत्र रण-वाद्य बजने लगा और जयकारें होने लगीं। दोनों ओरके रण-वादित्रों और जयकारोंमें एक अलक्ष्य स्पर्धाकी जोशभरी टक्कर होने लगी।

कुछ दूर और जानेपर, अपने रथके सर्वोच्च गवाक्षपर चढ़कर पवनं-जयने फिर एक बार सिंहावलोकन किया।---सैन्य-शिविरोंकी रंग-बिरंगी ध्वजाओं, पालों, तोरणों और तंबुओंसे अंतरीप पटा है। उससे परेकी बेलामें तुंग-काय युद्ध-पोतोंके मस्तूल और ध्वजाएं फहराती दीख पड़ीं।---दूर समुद्रमें रक्त-पताकाओं और रत्न-शिखरोंसे मंडित सोनेकी लंकापुरी जग-मगा रही है। उसीकी सीधमें बहुत दूरपर दीख रहा है छोटा-सा वरुण-द्वीप।---समुद्रकी विशालता ही उसकी लघु सत्ताका बल है। देखकर पवनंजयका चेहरा आनंद और संतोषसे चमक उठा। मन ही मन बोले---अपने स्वर्ण-वैभवके उद्योतसे गर्विता है यह लंकापुरी. . . .आकाशमें सिर उठाये इंद्रों और माहेंद्रोंके ऐश्वर्यको यह चुनौती दे रही है---माना! पर उसी महासमुद्रकी चिर चंचलताके बीच, अपनी लघुतामें निछावर होता हुआ, सोया है वह वरुण-द्वीप।---और किसका घमंड है जो महा-

सागरकी इन निर्बंध लहरोंपर शासन कर सके ?——पानीके बुद्‌बुद्, इसी पानीकी इच्छासे उत्पन्न होकर, इसकी महासत्तापर अपना शासन स्थापित करेंगे ?——और अपनी विद्याओंसे समुद्रके देवताओं, दैत्यों और जल-चरोंको यदि रावणने वश किया है, तो उन विद्याओंके बलको भी देख लूंगा——! धर्मके ऊपर होकर कौनसी विद्याएं और कौनसे देवता चल सकेंगे ? रावणने जल-देवोंको बांधा है, समुद्रको तो नहीं बांधा है ? . . . . यही समुद्रकी राशि-कृत लहरें होंगी वरुणका परिकर. . . . !

अंतरीपके स्कंधावारमें घुसकर जब पवनंजयके सैन्यने आगे बढ़ना चाहा, तो अन्य विद्याधरोंके सैन्योंने उनकी राह रोक ली। पवनंजयने आकर, संमुख आये राजाओं और सेनापतियोंका सविनय अभिवादन किया, और अनुरोधके स्वरमें अपना मंतव्य संक्षेपमें जता दिया।——उन्होंने बताया कि उनका प्रयोजन यहां नहीं है। उस सामुद्रिक मोर्चेपर, जहाँ रावण और वरुणके बीच युद्ध चल रहा है, वहीं जाकर वे अपना स्कंधावार बांधेंगे।——संहार बहुत हो चुका है, अब युद्ध को बढ़ाना इष्ट नहीं है, हो सके तो जल्दी से जल्दी उसे समेट लेना है। महामंडलेश्वर रावणका और अन्य सारे राज-पुरुषोंका कल्याण इसीमें है। प्रस्तुत युद्धके कारणों और पक्षोंकी विषमतापर विचार करते हुए लग रहा है, कि यदि इस विग्रहको बढने दिया गया तो लोकमें क्षात्र-धर्मकी मर्यादा लुप्त हो जायगी ! चारों ओर आतताइयों और दस्युओंका साम्राज्य हो जायगा। धर्मकी लीक मिट जानेसे अराजकता फैलेगी।——जन-जन स्वेच्छाचारी हो जायगा। लोकका जीवन अरक्षित होकर त्राहि-त्राहि कर उठेगा। आत्म-हित और सर्व-हितके बीच अविनाभावी संबंध है। कल्याणका वही मंगल-सूत्र छिन्न हो गया है, हो सके तो उसे फिरसे जोड़ देना है। उसीमें हमारे क्षात्रत्व और राजत्वकी सार्थकता है। और यही प्रयोजन लेकर वे सीधे दोनों पक्षोंके स्वामियोंसे मिला चाहते हैं।——इसीलिये मित्र-राजन्योंसे उनका कर-बद्ध अनुरोध है कि वे उन्हें

अपने निर्दिष्ट लक्ष्यपर जानेका अवसर दें और प्रेमके इस अनुष्ठानमें सहयोगी होकर उनका हाथ बटावे —?

पर राजाओंके संमुख क्षात्र-धर्म, प्रेम और कल्याणका प्रश्न नहीं है। उनका प्रधान लक्ष्य है, महामंडलेश्वर रावणकी सहाय्यमें सबसे आगे दीखकर अपना पराक्रम और प्रताप दिखाना।—और जब वे पहले आकर जमे हैं, तो क्यों वे पवनंजयको, आगे दीखकर युद्धके नेतृत्वका श्रेय लेने देंगे।—एक-स्वरमें सारा राज-मंडल मुकर गया—'नहीं, यह नहीं हो सकता, यह हर्गिज नहीं हो सकता, यह अनधिकार चेष्टा है, यह समस्त राज-चक्रकी अवमानना है, इसमें स्वामी-द्रोह और दुरभि-संधिकी गंध आ रही है। यह सरासर अन्याय-विचार है—लौट जाओ, अपने स्थानपर लौट जाओ—पीछेसे आये हो तो पीछे आकर जुड़ जाओ। सामुद्रिक मोर्चोंपर अभी पर्याप्त सैन्य उपस्थित है।—और वहांसे मांग आये भी तो जो आगे हैं वे पहले जाएंगे।....' आदि आदि। देखते-देखते चारों ओर भृकुटियां तन गईं। बातकी बातमें आक्रोश और उत्तेजन फुंफकार उठा। पवनंजयकी नम्र और धीर विनतियोंपर ताने और व्यंग बरसने लगे।

पर पवनंजय ज़रा विचलित न हुए। निर्विकार और निश्चल, ठीक इसी समुद्रके तटकी तरह गंभीर होकर अपनी मर्यादा पर वे थमे रहे। दोनों हाथोंसे शांति और समाधानका संकेत करते हुए, पवनंजयने समस्त नरेंद्र मंडलके प्रति माथा झुका दिया और अपने रथकी वल्गा मोड़ दी!—उनकी इस हारपर पीछे हो-होकारका तुमुल कोलाहल हुआ।—पर मन ही मन पवनंजय खूब जानते हैं कि उन्होंने जो मार्ग पकड़ा है उसपर गमन सहज नहीं है। हारों और बाधाओंसे वह राह पटी हुई है। ये बाधायें तो बहुत तुच्छ हैं। उस राहपर तो पग-पगपर प्राण बिछाकर ही चलना होगा। उनका मन आज अपूर्व रूपसे शांत और संतुलित है।

यथास्थान लौटनेपर पवनंजयने सेनाओंको डेरे डालने और पूर्ण विश्राम लेनेकी आज्ञायें सुना दीं। बातकी बातमें शिविर निर्माण हो गया। कुमार स्वयं भी युद्ध-सज्जामें ही तल्पपर अधलेटे हो गये कि जरा पथकी श्रांति मिटा लें। पर भीतर संकल्प अश्रांत भावसे चल रहा है। उसमें अरुक गति है, विराम नहीं है।—आत्मस्थ होकर पवनंजयने सुदूर शून्यमें लक्ष्य बांधा। उपरिचेतनमें आसीन हो जानेपर, तत्कालीन बहिर्जगत विस्मृत हो गया। ऊपर जैसे एक हलका-सा तंद्राका आवरण पड़ गया। बिदा-क्षणकी अंजनाकी वह सानुरोध दृष्टि और फिर एक गंभीर भारसे आनत वह कल्प-लता, अपने संपूर्ण मार्दवसे एकबारगी ही अंतरमें झलक गई।—और अगले ही क्षण उसमेंसे समुद्रकी प्रशांत सतह सामने खुल पड़ी। थोड़ी देरमें पाया कि आप जलके उस अपार विस्तारपर दीर्घ डग भरते हुए चल रहे हैं। पैरों तले लहरें स्थिर हो गई हैं या चंचल हैं, इसका पता नहीं चल रहा है। पर अस्खलित गतिसे वे उनपर बढ़ते जा रहे हैं। अचानक सामने आकाशसे उतरता हुआ एक अपरूप सुंदर युवा दीखा।—देखते-देखते उसके शरीरकी कांतिसे तेजकी ज्वालाएं निकलने लगीं।....युवा सरल कौतुकसे नाचता हुआ स्वर्ण-लंकाके शिखरोंपर छलांगें भर रहा है।....और निमिष मात्रमें उसके पैरोंसे निकलती हुई शिखाओंसे सोनेकी लंका धू-धू सुलग उठी। अमित स्वर्णकी राशि गल-गलकर समुद्रकी लहरोंमें तदाकार हो रही हैं।....और ऊपर अपनी मुस्कानसे शीतल कांतिकी किरणें बरसाता हुआ वह अपरूप सुंदर युवा फिर आकाशमें अंतर्लीन हो गया। ....और अंतमें फिर दिखाई पड़ा महाकाशके वक्षमें पड़ा वही स्निग्ध और प्रशांत सागरका तल....!

आंख खुलते ही पवनंजयने पाया कि पायतानेकी ओर चौकीपर प्रहस्त बैठे हैं।—स्वर्गकी उपपाद शय्यापर जैसे अपने जन्मके समय देव जागकर उठ बैठते हैं, वैसे ही एक सर्वथा नवीन जन्ममें

जागनेकी अंगड़ाई भरते हुए कुमार पवनंजय उठ बैठे।---तुरंत बोले---

"सखे प्रहस्त, महामंडलेश्वर रावणसे जाकर अभी-अभी मिलना होगा।---पहले ही कह चुका हूं, आवाहन धर्म और कल्याणका है। मैं विजय लेने नहीं आया, मैं तो रहा-सहा स्वत्वका जो अभिमान है उसे ही हारने आया हूं। अपने ही भीतर जो शत्रु चोर-सा घुसा बैठा है, उसे ही तो पकड़कर बांध लाना है। कठिनसे कठिन कसौटीकी धारपर ही वह नग्न होकर सामने आयेगा। शस्त्र और सैन्य उसे जीतनेमें विफल होंगे। उससे भीतरका वह दुर्जेय शत्रु टूटेगा नहीं, उसका बल उल्टे बढ़ता ही जायगा। और विजय यदि पानी है तो अपने ही ऊपर, तब सैन्यको साथ ले जाकर क्या होगा?---सेनाओंको धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनेकी आज्ञा दे दो, जबतक हम लौटकर न आयें। अंतरीपके सैन्य-शिविरोंमें यदि कोई अशांति अथवा कोलाहल हो, शस्त्र भी उठ जायें, तब भी हमारे सैन्य निश्चेष्ट और शांत रहें। उन्हें क्षुब्ध और चंचल जरा नहीं होना है। आवेश और चुनौती कहीं नहीं झलकाना है। बाहरकी चिरौरी, छेड़-छाड़ अथवा कटुताकी अवज्ञाकर उसके संमुख सर्वथा मौन रहना है।---जबतक हमारी नई आज्ञा न हो, यही हो सैन्यका अनुशासन!---उपसेनापतियोंको आज्ञाएं सुनाकर यानपर आओ, हम इसी क्षण उड़कर लंका चलेंगे---।"

××× लंकामें पहुंचकर पवनंजयको पता लगा कि रावण स्वयं वरुण-द्वीपकी समुद्र-मेखलामें जा उतरे हैं। द्वीपके प्रमुख द्वारकी वेदीपर वे स्वयं वरुणके संमुख जूझ रहे हैं। सहयोगी मित्र और मांडलीकके नाते लंकापुरीके राज-परिकरमें पवनंजयका यथेष्ट स्वागत-सम्मान हुआ। जिस प्रासादमें ठहराये गये थे, उसीके एक शिखरपर चढ़कर पवनंजयने युद्ध-स्थितिका सिंहावलोकन किया। उन्होंने देखा, वरुण-द्वीपके आस-पासके जल-प्रदेशमें बहुत दूर-दूरतक विद्याधरों और भूमि-

गोचरोंके सैन्य विशाल जहाजी बेड़े डालकर द्वीपपर निरंतर आक्रमण कर रहे हैं। विद्युत् और अग्नि-शस्त्रोंकी विस्फोटक मारोंसे जल और आकाश मलिन और क्षुब्ध हो गया है। या तो दानवोंकी भैरव ललकारें सुन पड़ती हैं, या फिर कटते और मरते मानवोंकी आर्त्त चीत्कारोंसे दिग्-दिगंत त्रस्त हो रहा है। चारों ओरके समुद्रका जल मानवके रक्तसे गहरा लाल और काला हो गया है—।

....पवनंजयके वक्षमें एक तीव्र उद्वेलन और गहरी व्यथा-सी होने लगी। 'ओह, क्या यह भी हो सकता है मनुष्यका रूप?—क्यों मनुष्य इतना अज्ञानी और विवश हो गया है कि ऐसी निर्दयता-पूर्वक दिन-रात अपनी ही आत्म-हत्या कर रहा है।—इस निरर्थक संहारका कहां अंत है, और क्या है इसका प्रयोजन? इससे मिलनेवाली विजयका क्या मूल्य है? कुछ सबलोंकी महत्वाकांक्षाओं और मान-तृष्णाकी तृप्तिके लिये लक्ष-लक्ष अबलोंका ऐसा निर्मम प्रपीड़न और संघात क्यों?—नहीं, वह नहीं होने देगा यह सब—इतनी असाध्य नहीं है यह विवशता।

....राशिकृत धूम्रका यह पर्वताकार दानव कहांसे जन्मा है? क्या यही है मनुष्यके पुरुषार्थका श्रेष्ठ परिचय?—आकाश और समुद्रकी सनातन शुचिताको नाश, विस्फोट, त्रास और मरणसे कलंकितकर, क्या मनुष्य उनपर अपना स्वामित्व घोषित किया चाहता है? अपने ही स्वजन मनुष्यके रक्तसे अपने भालपर जयका टीका लगाकर, क्या वह अपना विजयोत्सव मना रहा है—? क्या यही है उसकी दिग्विजयका चूड़ांत विंदु? क्या इसी बलको लेकर मनुष्य अखंड प्रकृतिपर अपना निर्बाध स्वामित्व स्थापित करनेका दावा कर रहा है?—पर यह विजेताका वरण नहीं है, यह तो बलात्कारीका व्यभिचार है। तब निखिलका अमृत और सौंदर्य उसे नहीं मिलेगा, मिलेंगे केवल एक विकलांग शवके टुकड़े!—उसी निर्जीव मांसको हृदयसे चिपटाकर, मनुष्य अपने आपको धन्य मान रहा है....!

....मनुष्यके पुण्य-ऐश्वर्य, बल-शौर्य, विद्या-विज्ञान, उसके पुरुषार्थ और उसकी साधनाका क्या यही है चरम रूप---? सहस्रों वर्षोतक इसी रावणने कितनी ही तपस्याएं की हैं; जाने कितनी विद्याओं, विभूतियों और सिद्धियोंका वह स्वामी है। नियोगसे ही तीन खंड पृथ्वीका वह अधीश्वर है। अपने नीति-शास्त्रके पांडित्यके लिये वह लोकमें प्रसिद्ध है। पर इस सारी महिमा और ऐश्वर्यके भीतर वही अहंकारकी विद्रूप प्रेतिनी हँस रही है; जन्म-जन्मकी तृष्णाका रक्त उसके ओठोंपर लगा है---और उसकी प्यासका अंत नहीं है। अपनी उपलब्धियोंके इस विराट परिच्छदके भीतर, इसका स्वामी कहा जानेवाला मनुष्य स्वयं ही इसका बंदी बन गया है---! कितना दीन-हीन, अवश और दयनीय है वह? जिन भौतिक शक्तियों और विभूतियोंपर अपना प्रभुत्व स्थापित करनेका उसे गर्व है, वह नहीं जानता है कि वह स्वयं उन जड़ शक्तियोंका दास हो गया है।---अपने ही आत्म-नाशको वह अपना आत्म-प्रकाश समझनेकी भ्रांतिमें पड़ा है....।

....मनुष्यके पुरुषार्थ और उसकी लब्धियोंकी ऐसी दुःखांत पराजय देखकर, पवनंजयका समस्त हृदय हाय-हाय कर उठा। फिर एक मर्मांतिक वेदनासे वे आकंठ भर आये।---उन्हें लगा कि यह रावणकी और इन प्रमत्त नरेंद्रोंकी ही पराजय नहीं है; यह तो उसकी अपनी पराजय है!---समस्त मानव-भाग्यका यह चरम अपराध है। उसे देखकर उस मानव-पुत्रकी आंखोंमें लज्जा, करुणा, ग्लानि और आत्म-संतापके आंसू भर आये।

....इस अपराधका उन्मूलन करना होगा।---उसके बिना उसके मानवत्व और अस्तित्वका त्राण नहीं है।....उसे प्रतीति हो रही है कि उसके जीवनका आयतन जो यह लोक है, उसके मूलाधार हिल उठे हैं। इस महासत्ताको धारण करनेवाले ध्रुव धर्मके केंद्रसे, लोक च्युत हो गया है।---हमारी धात्री पृथ्वी और हमारा

रक्षक आकाश किस क्षण हमारे भक्षक बनकर हमें लील जायेंगे; इसका कुछ भी निश्चय नहीं है।——कौनसी शक्ति लेकर इस महामृत्युके संमुख वह खड़ा हो सकेगा....?

....क्या मानवके उसी पुरुषार्थ, शौर्य-वीर्य, विद्या-बुद्धि और बलके सहारे वह इस मौतका प्रतिकार कर सकेगा, जिससे प्रमत्त होकर मनुष्यने स्वयं इस मौतको आमंत्रित किया है——? नहीं, उस जड़ शक्तिसे टकराकर तो यह पुंजीभूत जड़त्व और भी चौगुना होकर उभरेगा। उन सारी शक्तियोंसे इनकार करके ही आगे बढ़ना होगा।——नितांत बलहारा, सर्वहारा और अकिंचन होकर ही शक्तिके उस विपुल आयोजनके संमुख, अच्युत और अनिरुद्ध खड़े रहना होगा।——जीवनके अमरत्वमें श्रद्धा रखकर, चैतन्यकी नग्न और मुक्त धाराको ही उसके संमुख बिछा देना होगा, कि मौत भी चाहे तो उसमें होकर निकल जाये, उसे रोक नहीं है।——तब वे शक्तियां और वह मौत अपने आप ही उसमें विसर्जित हो जायेंगे, उसे पार करके जानेमें उसकी सार्थकता ही क्या है?——मौतके संमुख हमारा चैतन्य कुंठित हो जाता है, इसीसे तो मौत हमारा घात कर पाती है। पर चैतन्य यदि अव्याबाध रूपसे खुला है, तो उसमें आकर मौत आप ही मर जायेगी।——पवनंजयको लग रहा है कि अन्यथा जीवनको अवस्थान और कहीं नहीं है। वह अस्तित्वके उस चरम सीमांतपर खड़ा है, जहां एक ओर मरण है और दूसरी ओर जीवन। दोनोंके बीच उसे चुन लेना है। तीसरी राह उसके लिये खुली नहीं है——। यदि वह सचमुच जीना चाहता है तो मौतसे बचकर या उससे भय-भीत होकर जीना संभव नहीं है। तब जीवनको यदि चुनना है तो मौतके संमुख उसे खुला छोड़ देना होगा, मौत आप ही मिट जायेगी।——जीवनकी रक्षाके लिये यदि उस मौतसे लड़ने और अवरोध देने जाओगे, तो आप ही उसके ग्रास हो जाओगे। इसलिये जीवन यदि पाना है तो, उसे दे देना होगा।

एक मात्र इसी मूल्यसे उससे पाया जा सकेगा।——और पवनंजय जीना चाहता है——!

....उसके भीतरकी सारी वेदनाके स्तरोंमेंसे, सत्यका यही एक सुर सबसे ऊपर होकर बोल रहा है। उसके समूचे प्राणमें इस क्षण एक अनिर्वार व्यथा है, कि यह बाहरका विश्व क्यों उससे विच्छिन्न होकर, उसका पराया हो गया है? उसके साथ फिर निरवच्छिन्न होकर उसे जुड़ जाना है।——उस बाहरके विश्वमें यह जो नाशका चक्र चल रहा है, इसमें अपने ही आत्म-घातकी वेदना उसे अनुभव हो रही है। इसीसे अपनी समस्त चेतनाको बाहर फेंककर, उसके पूरे जोरसे वह उस बहिर्गत विश्वको अपने भीतर समेट लाना चाहता है, कि वह उसकी रक्षा कर सके। और इस संवेदन के भीतर छिपा है उसकी अपनी ही आत्म-रक्षाका अनुरोध! तब बाहरके प्रति अपनेको देनेमें किसी कर्तव्यका अनुरोध नहीं है, वह तो अपनी ही आत्म-वेदनासे निस्तार पाना है।

मन ही मन अपना भावी कार्यक्रम गूंथकर, रात हीको पवनंजयने रावणके गृह-सचिवसे अनुरोध किया कि सवेरे वे स्वयं जाकर महा-मंडलेश्वरसे मिला चाहते हैं। उन्होंने बताया कि उनका प्रयोजन बहुत गंभीर और गोपनीय है। स्वप्नमें प्रकट होकर उनकी कुल-देवीने उन्हें एक गोपन-अस्त्र दिया है, वही हाथों-हाथ वे रावणको अर्पित किया चाहते हैं; उस आयुधमें यह शक्ति है कि बिना किसी संहारके क्षण मात्रमें वह शत्रुको निर्मूल कर देता है। गृह-मंत्री जानते थे कि वरुण-द्वीपके दुर्गकी प्रकृत चट्टानी दीवारोंपर विद्याधरोंकी सारी विद्याएं और अस्त्रास्त्र विफल सिद्ध हुए हैं। तब अवश्य ही कोई असाधारण योगायोग है कि आदित्यपुरका राज-पुत्र एकाएक यह गोपन-अस्त्र लेकर आ पहुंचा है। मंत्रीके आश्चर्य और हर्षका पार नहीं था। तुरंत उन्होंने पोत-प्रधानको बुलाकर आज्ञा दी कि अगले दिन तड़के ही, महाराजके अपने निजी बेड़ेकी एक जल-वाहिनी, परिकरके कुछ खास व्यक्तियोंको

लेकर चक्रीके 'सीमंधर' नामा महा-पोतपर जायेंगी। उन व्यक्तियोंको पोतके ठीक उस द्वारपर उतारा जाये, जहांसे वे सीधे चक्रेश्वरके पास पहुंच सकें। यथा-समय समुद्र-तोरणपर यान प्रस्तुत रहना चाहिये—आदि।

××× समुद्रके क्षितिजपर बाल-सूर्यका उदय हो रहा है।—रावणके कुछ विश्वस्त गुप्तचरोंके संरक्षण में पवनंजय और प्रहस्तको लेकर जल-वाहिनी सीमंधर-पोतके निज-द्वारपर आ पहुंची। चरके नियत संकेतपर पोतके निश्चिह्न तलमें एकाएक एक द्वार खुल पड़ा। आगंतुकोंको भीतर लेकर फिर द्वार वैसा ही बेमालूम बंद हो गया। आगे-आगे गुप्त-चर अपनी आतंककी गरिमामें अभिभूत होकर बेखबर चल रहे थे और पीछे-पीछे पवनंजय प्रहस्तके कंधेपर हाथ रखकर उनका अनुसरण कर रहे थे। रास्तेमें ही पवनंजयने चरोंको बता दिया था कि महाराजके संमुख जानेके पहले, वे पोतकी आयुध-शालामें जाकर युद्ध-सज्जा धारण करेंगे, अतएव पहले उन्हें वे आयुधागारमें ही पहुंचा दें। उक्त निश्चयके अनुसार पवनंजय और प्रहस्तको आयुधागारमें पहुंचाकर, वे चर युद्ध-स्थिति देखनेकी उत्सुकतासे पोतकी खुली कटनीमें चले गये। चरोंके आदेशानुसार पवनंजयको आयुधागारमें प्रवेश करा देनेके बाद, प्रहरी उस ओरसे निश्चिन्त हो गया था।

××× सूर्य अपनी संपूर्ण किरणोंसे उद्भासित होकर मंगलके पूर्ण-कलश-सा उदय हो गया।....चक्रीके 'सीमंधर' महा-पोतकी खुली अटाके छोरपर खड़े हो, उदीयमान सूर्यकी ओर उद्ग्रीव होकर, पवनंजयने तीन बार समुद्रकी लहरोंपर शांतिका शंख-नाद किया....! अश्रांत चल रहे निबिड़ युद्धमें धीरे-धीरे एक सन्नाटा-सा व्याप गया। रणके उन्मादमें बेभान जूझ रहे सैनिकोंके हाथमें शस्त्र स्तंभित होकर तने रह गये—। रावणको किसी गंभीर दुरभिसंधिकी आशंका हुई। चक्रीके धनुषपर चढ़ा हुआ वज्र-बाण, प्रत्यंचासे छूटकर उंगलियोंमें ढलक पड़ा।

क्रोधसे उनकी भृकुटियां तन गईं। आग्नेय दृष्टिसे मुड़कर पीछे देखा——मानो भृकुटिसे ही ललकारा हो कि——कौन है इस पृथ्वीपर जो त्रिखंडाधिपति रावणका अनुशासन भंग करनेकी स्पर्धा कर सकता है——? मैं उसे देखा चाहता हूं....। ठीक उसी क्षण हँसते हुए पवनंजय संमुख आ उपस्थित हुए।

"आदित्यपुरका युवराज पवनंजय महामंडलेश्वरको सादर अभिवादन करता है!"

कहकर पवनंजय सहज विनयसे नत हो गये। भृकुटियोंके बल उतरनेके पहले ही, रावणके वे कई दिनोंके मुद्रित ओंठ आज बरबस मुस्करा आये। कुमारके माथेपर हाथ रखकर उन्होंने आशीर्वाद दिया और कुशल पूछी। फिर चकित-विस्मित वे उस दु:साहसिक राज-पुत्र-के तेजो-दीप्त चेहरेको देखते रह गये, जिसकी संमोहिनी भौंहोंके बीच अवहेलित अलकोंकी एक घुंघराली लट स्वाभाविक-सी पड़ी थी! रावण कुछ इतने मुग्ध और बेसुध हो रहे कि क्षण भरको अपने प्रचंड प्रताप और महिमाका भान उन्हें भूल गया। प्रश्न अंतर्मनमें निस्तब्ध होकर खो गया——कि कैसे उस उद्दंड युवाने बिना पूर्व-सूचनाके ठीक महामंडलेश्वरके संमुख आनेका दु:साहस किया है? चक्रीके उस प्रखर आतंकशाली मुखको यों दिग्मूढ़-सा पाकर पवनंजय मुस्करा आये। सहज ही समाधान करते हुए मृदु मंद स्वरमें बोले——

"महामंडलेश्वर! औद्धत्य क्षमा हो।——आपके मनकी चिंताको समझ रहा हूं। पर निश्चित रहें——अनायास अभी शांतिका शंख-संधान करनेकी धृष्टता मुझीसे हुई है। यदि शासन-भंग का अपराध मुझसे हुआ हो तो उचित दंड दें——यह माथा संमुख है। पर इस क्षण वह अनिवार्य जान पड़ा, इसीसे आपदकालमें वह नियमोल्लंघन मुझसे हुआ है। कृपया, मेरा निवेदन सुन लें, फिर जो इष्ट दीखे वही निर्णय दें। तीन खंड पृथ्वीके राज-राजेश्वर रावण, अपने अधीन इतने

विशाल राज-चक्रके रहते, इस छोटेसे भूखंडपर अधिकार करनेके लिये स्वयं शस्त्र उठायें और दिन-रात युद्ध-रत रहें, यह मुझे असह्य और अशोभन प्रतीत हुआ। समुद्र-पर्यंत पृथ्वीपर जिसकी नीतिमत्ताकी कीर्ति गूंज रही है, जिसकी तपश्चर्यासे ब्रह्मर्षियोंके मस्तक डोल उठे और इंद्रोंके आसन हिल उठे, उस रावणकी महानता और गौरवके योग्य बात यह नहीं है। ....यदि आप-से वीरेंद्र और ज्ञानी ऐसा करेंगे, तो लोकमें ब्रह्म-तेज और क्षात्र-तेजकी मर्यादा लुप्त हो जायगी। राजा तो अबल और अनाथ-का रक्षक होता है, और आप तो रक्षकोंके भी चूड़ामणि हैं। लंकापुरीके बालक-सा यह वरुण-द्वीप आपके प्रहारकी नहीं प्यारकी चीज होनी थी! जिस चक्रीके एक शंखनाद और तीरपर दिशाओंके स्वामी उसका प्रभुत्व स्वीकार कर लेते हैं, वह एक छोटेसे राजवी और उसकी छोटी-सी धरतीको जीतनेके लिये अपना सारा बल लगा दे, यह व्यंग क्यों जन्मा है....? सहस्रों नरेंद्र जिसके तेज और प्रतापको सहज ही सिर झुकाते हैं, ऐसे विजेताका शस्त्र हो सकती है, केवल क्षमा! क्षमा न कर इस छोटे-से राजाको इतने सैन्यके साथ आक्रांत किया गया है: तब लगता है कि दुर्दांत विजय-लालसा पराकाष्ठापर पहुंचकर, स्वयं एक बहुत बड़ी और विषम पराजय बन गई है। अपनी वही सबसे बड़ी और अंतिम हार, आंखोंके सामने खड़ी होकर, दिन-रात आपकी आत्माको त्रस्त किये है। आप-से विजेताकी इतनी बड़ी हारने मेरे मनको बहुत संतप्त कर दिया है। इसीसे एक लोक-पुत्रके नाते, सीधे लोक-पिताके पास अपनी पुकार लेकर चला आया हूं। निवेदनके शेषमें इतना ही कहना चाहता हूं, कि मेरी मानें तो राजा वरुणको अभय दें, आप स्वयं होकर उसे रक्षाका वचन दें, उसके वीरत्वका अभिनंदन करें और लंकापुरी लौट जायें। यही आप-से वीर-शिरोमणिके योग्य बात है। लोक-पिताके उस वात्सल्यके संमुख, वरुण आप ही झुक जायगा, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। युद्धका ही अंग होकर शायद मैं इस भीषण युद्धको न थाम पाता, इसीसे अपने स्वायत्त

धर्म-शासनको सर्वोपरि मानकर मैंने यह शांतिकी पुकार उठाई है। आशा करता हूं, महामंडलेश्वर मेरे मंतव्यको समझ रहे हैं।

देव और दानव जिस महत्ताके अधीन सिर झुकाये खड़े हैं, पृथ्वीका वही मूर्तिमान अहंकार खंड-खंड होकर पवनंजयके पैरोंमें आ गिरा। मूक और स्तब्ध रावण सिरसे पैरतक उस अद्भुत युवाको देखते रह गये....। यह कैसी अंतर्भेदी चोट है, कि प्रहारकके प्रति हृदय प्यारसे उमड़ आया है। पर प्यार प्रकट करनेका साहस नहीं हो रहा है, और क्रोध इस क्षण असंभव हो गया है। कैसे इस विडंबनासे निस्तार हो, रावण बड़े सोचमें पड़ गये। इस स्थितिके संमुख खड़े रहना उन्हें दूभर हो गया। कौशल-पूर्वक टाल देनेके सिवा और कोई रास्ता नहीं सूझा। किसी तरह अपनेको सम्हाला। गौरवकी एक घायल और कृत्रिम हँसी हँसते हुए रावण बोले--

"हूँ....वाचाल युवा! जान पड़ता है साथी सखाओंमें खेलना छोड़कर अर्ध-चक्री रावणको उपदेश देने चले आये हो! इस बालक-से सलौने मुखड़ेसे ज्ञान और विवेककी ये गुरु-गंभीर बातें सुनकर सचमुच बड़ी हँसी आ रही है। तुम्हारी यह नादानी मेरे निकट क्रोधकी नहीं प्यारकी वस्तु है। पर तुम्हारा यह दुःसाहस खतरेसे ख़ाली नहीं है।--उद्दंड युवा, सावधान! आदित्यपुरके युवराजको मैंने धर्म और राजनीतिकी शिक्षा लेने नहीं बुलाया, उसे इस युद्धमें लड़नेको न्योता गया है। विजय और वीरत्वकी ये लंबी-चौड़ी भावुक व्याख्याएं छोटे मुंह बड़ी बातकी जल्पना मात्र है।--पहली ही बार शायद युद्ध देखा है, इसीसे भयभीत होकर बौखला गये हो, क्यों न? महासेनापति, इस युवाको बंदी करो। जो भी इसका अपराध क्षमा करने योग्य नहीं, फिर भी इसके अज्ञानपर दयाकर, और अपने ही राज-परिकरका बालक समझकर मैं इसे क्षमा करता हूं। मेरे निज महलके शिखर-कक्षमें इसे बंदी बनाकर रक्खा जाये और युद्धकी शिक्षा दी जाये।--ध्यान रहे यह कौतुकी युवा

यदि निर्बंध रक्खा गया, तो निकट आई हुई विजय हाथसे निकल जायगी।——वरुण-द्वीपके टूटनेमें अब देर नहीं है। उसके पिछले द्वारमें सेंध लगाकर उसे तोड़ा जा रहा है।. . . ."

आंखें नीची किये पवनंजय चुप-चाप सुन रहे थे। बड़ी कठिनाईसे अपनी हँसीपर वे संयम कर रहे थे। चलती बेर दृष्टि उठाकर, आंखोंमें ही मर्मकी एक हँसी हँसकर पवनंजयने रावणकी ओर देखा और सहज मुस्करा दिया। प्रत्युत्तरमें रावण भी अपनी हँसी न रोक सके। महा-सेनापतिके इंगितपर जब कुमार चलनेको उद्यत हुए, तो पाया कि चारों ओर वे चार नग्न खड्गोंवाले सैनिकोंसे घिरे हैं। ज़रा आगे बढ़नेपर प्रहस्त भी उनके अनुगामी हुए।

योगवशात् रावणके जिस महलके शिखर-कक्षमें पवनंजय और प्रहस्त बंदी बनाकर रक्खे गये थे, वहींके एक गुंबदकी ओट पवनंजय अपना यान छोड़ आये थे। आतंकके उस बंदी-गृहके प्रहरी भी, दिन-रात आतं-कित रहकर मृतवत हो गये थे। जीवनमें पहली ही बार पवनंजयका वह लीला-रमण स्वरूप देखकर, वे बर्बर प्रहरी उस आतंकसे मुक्ति पा गये। मुग्ध और विभोर आंखोंसे वे एक-टक पवनंजयकी निराली चेष्टाएं देखते रह गये। रावणका भयानक प्रभुत्व एक-बारगी ही वे भूल गये। यंत्रकी तरह जड़ और कठोर हो गये वे मानवके पुत्र, फिर एक बार सहज मनुष्य होकर जी उठे। उन्हें पास बुलाकर पवनंजयने उनका परिचय प्राप्त किया, अपना परिचय दिया और सहज ही अपने भ्रमणके अद्‌भुत और रंजनकारी वृत्तांत सुनाने लगे। आनंद और कौतूहलमें अवश होकर प्रहरी बह चले। आठों पहर उनके हाथमें अडिग तने रहनेवाले वे नग्न खड्ग एक ओर उपेक्षितसे पड़े रह गये। बातों ही बातोंमें कब शाम हो गई और कब दिन डूबकर रात पड़ गई, सो प्रहरियोंको शान नहीं है। एकके बाद एक ऐसे रसभरे आख्यान कुमार सुना रहे हैं, कि आस-पासके वे निरीह प्राणी उस रस-धाराकी लहरें बनकर उठ रहे हैं और मिट रहे

हैं। कुमारसे बाहर उनका अपना कर्तृत्व या अस्तित्व शेष नहीं रह गया है....

....कहानियां सुनते-सुनते जाने कब वे सब प्रहरी अबोध बालकोंसे सो गये—। इसी बीच प्रहस्तकी भी आंख लग गई। अकेले पवनंजय जाग रहे हैं। आंखें मूंदकर कुमार एक तल्पपर लेट गये। संकल्प पूर्ण वेगसे सजग होकर अपना काम करने लगा।—रावणके आदेशमें अपने प्रयोजनकी एक बात उन्होंने पकड़ ली थी: द्वीपके पिछले द्वारमें सेंध लगाकर उसे तोड़ा जा रहा है। यदि द्वार टूट गया, तो इसके बाद द्वीपपर नाशका जो नृत्य होगा, हिंसाका वह दृश्य बड़ा ही रौद्र और लोम-हर्षी होगा। जितना ही रक्त रावणको अबतक इस युद्धमें बहाना पड़ा है, उसका चौगुना रक्त बहाकर वह इसका प्रतिशोध लेगा। रावणसे बातकर उन्हें यह निश्चय हो गया था कि त्रिखंड पृथ्वीका अधीश्वर अपना ही अधीश्वर नहीं है। वह तो अपने ही से हारा हुआ है। उसे हरानेकी समस्या उनके सामने नहीं है। हराना है उस जड़त्वकी शक्तिको जिसके वशीभूत होकर, रावण-सा महा-मानव इतना दयनीय और दुर्बल हो गया है। वह तो स्वयं त्राण और रक्षाका पात्र हो गया है, उसे हरानेकी क्या कल्पना हो सकती है। वरुण जो भी सत्य और आत्म-स्वातंत्र्यके लिये लड़ रहा है, पर वह भी उसी जड़-शक्तिका सहारा लेकर संमुख आई दूसरी जड़-शक्तिका प्रतिकार कर रहा है, जिसने रावणको रावण बनाया है। यह प्रतिकार निष्फल होगा और इसमें वरुण और उसका वरुण-द्वीप भले ही मिट जायें, पर शत्रुका उच्छेद नहीं हो सकेगा—। यह सब होते हुए भी वरुण निर्दोष है, उसीकी ओरसे सत्यकी पुकार सुनाई पड़ रही है। बिना एक क्षणकी देर किये पवनंजयको वहां चले जाना है, नहीं तो सवेरे बहुत देर हो जायगी।—एक ही रास्ता उसके लिये खुला है: जहां संपूर्ण पशु-बल केंद्रीभूत होकर द्वीपका पिछला द्वार तोड़नेमें लगा है—उसके संमुख जाकर उसे खड़े हो जाना है, अकाम और अनवरुद्ध,

कि उस शक्तिको अवसर है कि उसमें होकर अपना रास्ता बना ले। वक्षमें अकंप जल रही उस लौके सिवा और बाहरके किसी भी बलपर उसका विश्वास नहीं रहा है। उसके अतिरिक्त औरोंसे वह अपनेको बहुत ही निर्बल, अवश और निःशस्त्र अनुभव कर रहा है। उस अनिवार आत्म-वेदनाके सिवा उसके पास और कुछ नहीं है।

....रात आधीसे अधिक चली गई है। पवनंजयने बाहर आकर देखा, आक्रमण अविश्रांत चल रहा है। समुद्रकी लहरोंमें प्रलयंकरका डमरू भयंकर घोष करता हुआ बज रहा है। उत्तरोत्तर बढ़ती हुई चीत्कारों और हुंकारोंके बीच, विध्वंसका देवता, सहस्रों ज्वालाओंके भंग तोड़कर तांडव-नृत्य कर रहा है। ब्रह्मांड कँपा देनेवाले विस्फोटों और आघातोंसे दिगंत बहरा हो गया है।

भीतर आकर पवनंजयने प्रहस्तको जगाया और संक्षेपमें अपना मन्तव्य उन्हें जता दिया।---प्रहस्त सुनकर सन्नाटेमें आ गये---। बिना एक शब्द बोले वे पवनंजयके उस चेहरेको ताकते रह गये।

"दीर्घ विचार और दूर-दर्शिताका यह अवसर नहीं है, प्रहस्त, तुम और मैं इस क्षण अन्यथा सोचनेको स्वाधीन नहीं है। हमसे परे कोई शक्ति है जो इस मुहूर्तमें हमारे भीतर काम कर रही है; उसीकी पुकारपर चल पड़ना है। उसे इनकार कर सकना हमारे बसका नहीं है। रुकना इस क्षण मौत है, जीना है कि चल पड़ना होगा। यह मुहूर्त महान् है, प्रहस्त, इसके हाथों अपनेको सौंपकर हम निश्चित हो जायें, प्रभु स्वयं इसके रक्षक हैं।---तैयार होकर यानपर आओ, जरा भी देर हो गई तो अनर्थ घट जायगा।...."

××× बहुत ऊंचेपर ले जाकर पवनंजयने यानको एक सम गति पर छोड़ दिया। वरुण-द्वीपके चारों ओर एक लंबा चक्कर देकर ऊपरसे रण-लीलाका विहंगावलोकन किया। तदनंतर बहुत ही सावधानीसे कुमारने यानको वरुण-द्वीपमें ला उतारा। यान नीरवगामी था। नीचे

जलती हुई सहस्रों मशालों और कोलाहलोंके बीच टूटकर आई हुई उल्काकी रेखा-सा यान उतरा। कोलाहल और भी भयंकर हो उठा। हिंसाके मदमें पागल मानवोंकी बेतहाशा भीड़ चारों ओरसे आ टूटी। पवनंजय यानसे उतरकर हँसते हुए बाहर आये। चारों ओर घिर आई मेदनीके हाथ जोड़कर बार-बार उनके प्रति माथा झुकाते हुए प्रणाम किया। निःशस्त्र और अरक्षित शरीरपर केवल एक-एक केशरिया उत्तरीय ओढ़े देव-कुमारोंसे इन सुंदर और तेजोमान युवाओंको देख जनता स्तब्ध रह गई। चारों ओर एक सन्नाटा-सा व्याप गया। पवनंजयने सार्वजनिक रूपसे मैत्री और अभयकी घोषणा की। कहा कि वे उसी मानव-मेदनीके एक अंश हैं, विदेशी होकर भी वे उन्हींके एक अभिन्न बांधव और आत्मीय हैं। उनकी सेवामें अपनेको देकर कृतार्थ होने वे आये हैं---और उनका सब कुछ उनके प्रेमके अधीन है।---अंतमें उन्होंने अनुरोध किया कि तुरंत उन्हें राजा वरुणके पास पहुंचाया जाये....।

राजा वरुण द्वीपके समुद्र-तोरणपर स्वयं रावणके संमुख युद्धमें संलग्न थे। जब उनके पास संवाद पहुंचा कि अभी-अभी अचानक दो विदेशी युवा, यानसे द्वीपमें उतरे हैं, सुंदर, शांत और निःशस्त्र हैं और उनकी सेवा किया चाहते हैं, तो सुनकर राजा बहुत अचरजमें पड़ गये। अवश्य ही या तो कोई महान सुयोग है, अथवा असाधारण दुर्योग---! जो भी हो, शत्रु भी यदि अतिथि बनकर घर आया है, तो वह संमान और प्रेमका ही पात्र है।---अपने मंत्रणा-कक्षमें आकर राजा अतिथिकी प्रतीक्षा करने लगे....।

कि इतने हीमें कई मशालची सैनिकोंसे घिरे पवनंजय और प्रहस्त सामने आते दीख पड़े। राजाको पहचानकर कुमार सहज विनयसे नत हो गये। उन्हें देखकर ही वरुण एक अप्रत्याशित आत्मीय-भावसे गद्-गद् हो गये। बिना किसी हिचकके मौन ही मौन राजाने दोनों अतिथियोंको गले लगा लिया। सैनिकोंको जानेका इंगित कर दिया---।

परस्पर कुशल-वार्तालाप हो जानेपर सहज ही पवनंजयने मैत्री और धर्म-वात्सल्यका आश्वासन दिया। राजाने भी पवनंजयके दोनों जुड़े हाथोंपर अपना सिर रख दिया—और उनके बंधुत्वको ससंमान अंगीकार किया। इसके बाद कुमारने वरुणके वीरत्वका अभिनंदन किया, अपना वास्तविक परिचय दिया और कहा कि जिस सत्यके लिये वरुण इस धर्म-युद्धमें अपने सर्वस्वकी आहुति दे रहे हैं, आदित्यपुरका युवराज उसी धर्म-युद्धका एक छोटा-सा सैनिक बनकर अपने मानवत्वको सार्थक करने आया है। क्या राजा वरुण उसकी सेवा स्वीकार करेंगे? वरुणके ओंठ खुले रह गये, बोल नहीं फूट पाया। अननुभूत आनंदके आंसू उस वीरकी आंखोंके किनारे चूम रहे थे। कुमारको गाढ़ स्नेहके आलिंगनमें भरकर राजाने मूक-मूक अपनी कृतज्ञता प्रकट कर दी।

पवनंजयने तुरंत प्रयोजनकी बात पकड़ी।—उन्होंने बताया कि द्वीपके पिछले द्वारमें जलके भीतरसे संध लग चुकी है। सवेरेतक द्वार टूट जानेका निश्चित अंदेशा है।—उसी द्वारकी तट-वेदीके गर्भ-कक्षमें पवनंजय उतर जाना चाहते हैं।—वही होगा उनका मोर्चा। अकेले ही वहां उन्हें लड़ना है। दूसरा कोई जन उनके साथ वहां नहीं होगा, अभिन्न सखा प्रहस्त भी नहीं! उनका प्रतिकार क्या होगा, वे स्वयं नहीं जानते, सो उस संबंधमें वे कुछ कह भी नहीं सकते। निश्चय हुआ कि उस कक्षमें अनिश्चित कालके लिये वे बंद रहेंगे। आवश्यकताकी चीजें एक खिड़कीसे पहुंचा दी जायेंगी।

योजनामें राजाकी सहमति या अनुमतिकी प्रतीक्षा किये बिना ही, कुमारने अनुरोध किया कि तुरंत उन्हें अपने निर्दिष्ट मोर्चेपर पहुंचा दिया जाय। ज़रा भी देर होनेमें अवसर हाथसे निकल जायगा!—इस रहस्यमय युवककी यह लीला राजाको अपनी बुद्धिसे परे जान पड़ी। उसके संमुख कोई वितर्क नहीं सूझता है, अनायास एक विश्वास और

श्रद्धा हीसे वे ओत-प्रोत हो उठे हैं। मात्र इसका अनुसरण करनेको वे बाध्य हैं, और कोई विकल्प मनमें नहीं है—।

राजाने तुरंत अपने एक अत्यंत विश्वस्त चरको बुलाकर पवनंजयको यथा-स्थान पहुंचानेकी पूरी हिदायतें दे दीं। चलती बेर कुमारने प्रहस्तको बिना बोले ही भुजाओंमें भरकर भेंट लिया। फिर प्रहस्तकी ओर इंगितकर, याचनाकी एक मूक दृष्टि उठाकर राजाकी ओर देखा; मानो कहा हो कि—'यह मेरा अभिन्न तुम्हारे संरक्षणमें हैं, मैं तो जा रहा हूं—जाने कब लौट आनेके लिये....!"

आगे-आगे चर और पीछे-पीछे पवनंजय चल दिये; मुड़कर उन्होंने नहीं देखा।—प्रहस्त आंसूका घूंट उतारकर पवनंजयकी वह पीठ देखते रह गये।

....वेदीका वज्र-कपाट खोलकर पवनंजय देहलीपर अटक गये।—चरने आगे बढ़कर निश्चिह्न भूमिमें गर्भ-कक्षकी शिला सरका दी। चरके हाथसे रत्न-दीप लेकर पवनंजय गर्भ-कक्षमें उतर पड़े।....भीतर करोड़ों वर्षोंका पुरातन ध्वांत घटा-टोप छाया है। चट्टानोंमें कटे हुए सैकड़ों खंभों और छतोंमें जल-पंछियोंके अनगिनती घोंसले लटके हुए हैं। चारों ओर असंख्य अविजानित जीव-जंतुओंकी भयानक सृष्टि फैली है। समुद्रजलकी विचित्र गंधसे भरे वातावरणमें, उन जंतुओंके श्वासकी ऊष्मा घुल रही है। जल-चरोंकी नाना भयावह ध्वनियोंके संगीतसे वह तिमिर-लोक गुंजित है।—सामनेकी उस भीमकाय दीवारके ऊपरकी एक पार-दर्शी शिलामेंसे, समुद्र-तलका पीला उजाला झांक रहा है।—ऊपर-नीचे, भीतर-बाहर, चारों ओर समुद्रका अविराम गर्जन और संघात चल रहा है।—गर्भ-कक्षके प्रकृत पाषाण-वातायनपर खड़े होकर पवनंजयने देखा—नीचे नाशकी अत-लांत खाई फैली पड़ी है; उसके भीतर घुसकर समुद्र दिन रात पछाड़ें खा रहा है।

....कुमारने चित्त और श्वासका निरोध कर लिया।---सातों तत्वोंपर शासन करनेवाले जिनेंद्रका स्मरणकर, कर-बद्ध हो मस्तक झुका दिया। फिर अंजुलि उठाकर, उनके संमुख संकल्प किया---

"हे परमेष्ठिन्! हे निखिल लोकालोकके आयतन! तू साक्षी है, मंत्रका बल मेरे पास नहीं है, तंत्रका बल भी नहीं है, सारी विद्याएं भूल गई हैं, शस्त्र भी मेरे पास नहीं है, अस्त्र भी नहीं है, सारी शक्तियां हार गया हूं, सारे बलोंका अभिमान टूट गया है, केवल सत्य है मुझ निर्बलका बल।---यदि मेरा सत्य उतना ही सत्य है, जितना तू सत्य है और यह समुद्र सत्य है, तो इस महा-समुद्रकी लहरें मेरे उस सत्यकी रक्षा करें, और नहीं तो इस प्रकांड जल-राशिके गर्भमें ये प्राण-विसर्जित हो जाएँ...!"

कहकर पवनंजयने निखिल सत्ताके प्रति अपने आपको उत्सर्ग कर दिया....।

××× सवेरा होते न होते एक प्रबल वात्याचक्र द्वीपके आस-पास मंडराने लगा।....देखते-देखते समुद्रमें ऐसा प्रलयंकर तूफ़ान आया जैसा द्वीपके लोगोंने न पहले कभी देखा था और न सुना ही था। अपनी दिग्विजयके समय, प्रबलसे प्रबल तूफ़ानोंके बीच रावणने समुद्रोंपर आरोहण किया है, और उनकी जगतीपर अपनी प्रभुता स्थापित की है---पर आजका तूफ़ान तो कल्पनातीत है। आत्मामें होकर वह आर-पार हो रहा है, अनुभवसे वह अतीत हो गया है। संपूर्ण ब्रह्मांड मानो एक जलतत्वमें निर्वाण पा गया है। सत्तामात्र इस जलाप्लावनकी तरंग भर रह गई है....।

....विप्लवी और तुंग लहरोंने उठ-उठकर चारों ओरसे द्वीपको ढांक लिया।....आस-पास पड़े आक्रमणकारियोंके विशाल बेड़े, बिना लंगर उठाये ही, तितर-बितर होकर, समुद्रके दूर-दूरके प्रदेशोंमें, लहरोंकी गर्जीपर फेंक दिये गये....। मनुष्यके संपूर्ण बल और कर्तृत्वका बंधन तोड़कर, तत्व अपनी स्वतंत्र लीलामें लीन हो गया....।

....और सूर्योदय होते न होते तूफ़ान शांत हो गया। आक्रमण-कारियोंका एक भी पोत नहीं डूबा। पर बिखरे हुए जहाजी बेड़ोंने पाया कि लंगर उनके उठाये नहीं उठ रहे हैं। अपने स्थानसे वे टससे मस नहीं हो पाते। धूपमें चमकते हुए चांदीसे समुद्रकी शांत सतहपर, शिशु-सा अभय वरुण-द्वीप मुस्करा रहा है....।

....दिनपर दिन बीतते चले। अपने सारे प्रयत्न और सारी शक्तियां लगा देनेपर भी रावणने पाया कि पोत नहीं डिग रहे हैं....। तब उसे निश्चय हो गया कि अवश्य ही कोई देव-विक्रिया है, केवल अपने पुरुषार्थ और विद्याओंसे यह साध्य नहीं। विवश हो चक्रीने अपने देवा-धिष्ठित रत्नोंका आश्रय लिया। एक-एककर अपने सारे रत्नों और विद्याओंकी संयुक्त शक्ति रावणने लगा दी; नाशके जो अचूक अस्त्र अंतिम आक्रमणके लिये बचाकर रक्खे गये थे, वे भी सब फेंककर चुका लिये गये—। पर न तो द्वीप ही नष्ट होता है न रावण अपनी जगहसे हिल पाते हैं। ध्वज और दीपोंके सांकेतिक संदेशे भेजकर, अंतरीपके स्कंधावारसे राजन्योंको नये बेड़े लेकर बुलाया गया; पर भयभीत होकर उन्होंने आनेसे इनकार कर दिया।—इसी प्रकार लंकापुरीसे रसद और सहायक बेड़ोंकी मांग की गई, पर वहांसे कोई उत्तर नहीं आया। दिन, सप्ताह, महीने बीत गये—। समुद्रके देवताओंने सपनेमें आकर रावणसे कहा कि—'इस शक्तिका प्रतिकार हमारे बसका नहीं है....!'

....चार महीनों बाद पवनंजय एक दिन सवेरे अनायास वेदीके वातायनपर आ खड़े हुए। चारों ओर निगड़ित और पराजित बेड़ोंमें सहस्रों मानवोंको अपनी कृपाके अधीन प्राणकी याचना करते देखा—। पवनंजयका चित्त करुणा और वात्सल्यसे आर्द्र हो गया। मन ही मन बोले—

"घातका संकल्प मेरा नहीं था, देव ! नाश मेरा लक्ष्य नहीं, निखिलके कल्याण और रक्षाके लिये है मेरा यज्ञ। प्राणियोंको इस तरह त्रास और

मरण देकर क्या शत्रुत्वका उच्छेद हो सकेगा ? द्वीपकी रक्षा इसी राह होनी थी, वह हो गई। बलात्कारीको अपने बलकी विफलताका अनुभव हो गया। पर क्या वही पर्याप्त है ? रावणका अभिमान इससे अवश्य खंडित हुआ है, पर क्या इस पराजयसे उसका हृदय घायल ही नहीं हुआ है ? क्या वैर और विरोधका यह आघात भीतर दबकर, फिर किसी दिन एक भयानक मारक विषका विस्फोट नहीं करेगा ? हार और जीतका राग जबतक बना हुआ है, तबतक वैर और विद्वेषका शोध नहीं हो सकेगा।——मुझे रावण और इन इतने राजन्योंपर शक्तिका शासन स्थापित नहीं करना है। उनपर स्वामित्व करनेकी इच्छा मेरी नहीं है, हो सके तो उनके हृदयोंको जगाकर उनके प्रेमका दास हो जाना चाहता हूं। अधीनता और आधिपत्यके भावको तो मैं निर्मूल करने आया हूं। त्रिखंडाधिपति रावणके निकट उसके विजेताके रूपमें अपनेको उपस्थित करनेकी इच्छा नहीं है; मैं तो उसकी मनुष्यताके द्वारपर उसके हृदयका याचक बनकर खड़ा हूं। वह भिक्षा जबतक नहीं मिल जाती, तबतक टलनेको नहीं हूं।——हे सर्वशक्तिमान ! जिस सत्यने इस द्वीपकी रक्षा की है, वही उन बेड़ोंके त्रस्त मानवोंको भी जीवन-दान दे, यही मेरी इच्छा है. . . . !"

निमिष मात्रमें बेड़ोंके लंगर अपने आप उठ गये। विना किसी प्रयत्नके पोत गतिमान हो गये। उनके आरोही मनुष्योंके आश्चर्यकी सीमा न थी। प्राणकी एक नई धारासे वे जीवंत हो उठे। चारों ओर मृत्युकी खामोशी टूटी और हर्षका जय-जयकार सुनाई पड़ने लगा।

. . . .अंतर्देवताका शासन अभंग चल रहा है। एक निष्काम कर्म-योगीकी भांति अविकल्प भावसे पवनंजय उसके वाहक हैं। मन, वचन और कर्म तीनों इस क्षण एकरूप होकर प्रवहमान हैं।——चुपचाप पवनंजयने एक गुप्त चरको भेजकर प्रहस्तको बुलवा लिया और दूसरे गुप्त-चरको भेजकर यान मंगवा लिया।

...यान जब उड़कर कुछ ही ऊपर गया था, कि द्वीपमें भारी हल-चल मच गई। व्यग्र जिज्ञासाकी आंखें उठाकर, द्वीप-वासी बार-बार हाथके संकेतोंसे पवनंजयको लौट आनेका आवाहन देने लगे। उत्तरमें पवनंजयने समाधानका एक स्थिर हाथ भर उठा दिया, और वह हाथ तबतक वैसा ही अचल दीखता रहा––जबतक यान द्वीप-वासियोंकी दृष्टिसे ओझल न हो गया।

एक लंबा रास्ता पारकर पवनंजय और प्रहस्त अंतरीपमें आ उतरे। पहुंचते ही सबसे पहले प्रतीक्षातुर और व्याकुल सैन्यको सांत्वना दी, उनकी कुशल जानी और उनकी अनुपस्थितिमें सैन्यने आस-पासके सारे वैर-विरोधोंके बीच जिस तरह अनुशासनको अभंग रखा है, उसके लिये गद्-गद् कंठसे उनका अभिनंदन किया। इसके बाद तुरंत कुमार झपटते हुए आयुध-शालामें गये और आह्वानका शंख उठाकर उसी वेगसे अंतरीपके समुद्र-छोरपर जा पहुंचे। तरंगोंसे विचुंबित वेलामें, पृथ्वी और समुद्रकी संधिपर खड़े हो, पवनंजयने चारों दिशाओंमें तीन-तीन बार आवाहनका शंख-संधानकर, अर्ध-चक्री रावण और उनके संपूर्ण नरेंद्र-मंडलको रणका न्योता दिया!

चक्रीका सीमंधर महापोत जब ठीक लंकापुरीके समुद्र-तोरण-पर आ पहुंचा था कि उसी क्षण, अंतरीपसे यह रणका अप्रत्याशित आमंत्रण सुनाई पड़ा। सुनकर रावण एक बारगी ही मानो वज्राहत-से हो गये। गुम-सुम और मतिहारा होकर एक बार उन्होंने अंतरीपकी ओर दृष्टि डाली; आंखोंमें मानो एक बिजली-सी कौंध गई––समुद्र, पृथ्वी, आकाश सभी कुछ एकाकार होकर जैसे चक्कर खाते दीख पड़े––। भीतर एकाएक टूट गई प्रत्यंचाकी टंकार-सा प्रश्न उठा––"क्या चक्रीका चक्रवर्तित्व भूमंडलसे उठ गया?––विश्वकी कौन-सी शक्ति है जो जन्म-जात विजेता रावणको रणका निमंत्रण दे सकती है....?" कि ठीक उसी क्षण उन्हें अपनी वरुण-द्वीपपर होनेवाली सद्य पराजयका ध्यान

आया, जिससे लौटकर अभी-अभी वे आये हैं। चक्रीका घायल अहंकार भीषण क्रोधसे फुंकार उठा। गरजकर वे महासेनापतिसे बोले——

"महाबलाधिकृत, पृथ्वीको शत्रुहीना किये बिना मैं लंकामें पैर नहीं रक्खूंगा। सैन्यको सीधे अंतरीपकी ओर प्रयाण करनेकी आज्ञा दी जाय। महामंत्रीको सूचित करो कि वे तुरंत सारे सुरक्षित भूसैन्य और जल-सैन्य-को अंतरीपमें भेजनेका प्रबंध करें।"

रास्ते भर रावणका चित्त अनेक दुःसह शंकाओंसे पीड़ित था। क्या यह भी संभव है कि द्वीपपर उसकी पराजयका दृश्य देखकर, अंतरीपस्थित उसीके मांडलीक राज-चक्रने अवसरका लाभ उठाना चाहा है। और संभवतः इसी लिये, उसकी निर्बलताके क्षणमें, उसे रणके लिये बाध्यकर उसके स्वामित्वसे मुक्त हो जानेकी बात उन्होंने सोची हो——। दोनों हाथोंसे छाती मसोसकर चक्री इन चिंताओं और शंकाओंको दफ़ना देना चाहते हैं, और मस्तिष्कमें कषायका एक अदम्य वात्या-चक्र चल रहा है।

पर चक्रीका महापोत ज्यों-ज्यों अंतरीपके निकट पहुंचने लगा, त्यों तटवर्ती शिविरोंसे तुमुल हर्षका कोलाहल और जयघोष सुनाई पड़ने लगा। रावणके चित्तका क्षोभ, देखते-देखते आह्लादमें बदल गया। ज्योंही चक्रीका महापोत अंतरीपके तोरणपर लगा कि लक्ष-लक्ष कंठोंकी जयकारोंसे आकाश हिल उठा। अतुल समारोहके बीच सहस्रों छत्र-धारियोंने नत मस्तक होकर महामंडलेश्वरको बधा लिया। स्वागतके उपलक्ष्यमें बज रहे बाजोंकी विपुल सुरावलियोंपर चढ़ रावण फिर एक बार अपने चरम अहंकारके झूलेपर पैंग भरने लगे।

यथास्थान पहुंचनेपर रावणको पता लगा कि इस युद्धका आह्वान देनेवाला दूसरा कोई नहीं, वही आदित्यपुरका युवराज पवनंजय है, जिसने आजसे तीन महीने पहले एक दिन अचानक शांतिका शंखनादकर उसके युद्धको अटका दिया था। रावण सुनकर भौंचक्केसे रह गये——! इस रहस्यमय युवाका स्मरण होते ही, क्रोध आनेके पहले, बरबस रावणको

हँसी आगई। अनायास उनके मुंहसे फूट पड़ा—'ओह—अद्भुत हैं उस उद्धत छोकरेकी लीलाएं, मेरे निज-महलके बंदीगृहसे वह भाग छूटा और अब उसकी यह स्पर्धा है कि त्रिखंडाधिपति रावणको उसने रणका निमंत्रण दिया है। हूंअ—नादान युवक—जान पड़ता है उसे जीवनसे अरुचि हो गई है और रावणके हाथों मौत पानेको वह मचल उठा है....।'

कहते-कहते रावण फिर एक गंभीर चिंतामें डूब गये। विचित्र शंकाओंसे उनका मन क्षुब्ध हो उठा।—जिस दिन उस कौतुकी युवाने युद्ध अटकाया था और उन्होंने उसे बंदी बनाकर लंका भेजा था, ठीक उसके दूसरे ही दिन सवेरे वह अकांड दुर्घटना घटी—निकट आई विजय हाथसे निकल गई—। उन्हें यह भी याद आया कि महा-सेनापतिको जब वे पवनंजयको बंदी बनानेकी आज्ञा दे रहे थे—उस समय उस युवाके सामने ही द्वीपके पिछले द्वारमें सेंध लगनेकी बात उनके मुंहसे निकली थी—लेकिन फिर वह सर्वनाशी तूफ़ान—? उसके बाद वह पोतोंका स्तंभन—? नहीं उस छोकरेके वसकी बात नहीं थी वह—वह किसी मानवका कर्तृत्व नहीं था—देवों और दानवोंसे भी अजेय थी वह शक्ति....। उस घटनाकी स्मृति मात्रसे रावणका वह महाकाय शरीर थर-थर कांपने लगा। मस्तिष्क इतने वेगसे घूमने लगा कि यदि इस विचार-चक्रको न थाम लेंगे तो वे पागल हो जायेंगे—। बहुत दृढ़तापूर्वक उन्होंने मनको उस ओरसे मोड़कर बाहरकी युद्ध-योजनाओंमें उलझा देना चाहा—। पर भीतर रह-रहकर उनके चित्तमें एक बात बड़े ज़ोरसे उठ रही थी—'क्यों न उस स्वामी-द्रोहीको फिर बंदी बनवाकर—लंकापुरीके तहखानोंमें आजन्म कारावास दे दिया जाय—?' यदि उस उपद्रवीको मुक्त रक्खा गया, तो क्या आश्चर्य, वह किसी दिन समूचे नरेंद्रचक्रमें राज-द्रोहका विष फैला दे—। पर उसने मुझे संग्रामकी खुली चुनौती दी है। उसने मेरे बाहु-बल और मेरी सारी

शक्तियोंको ललकारा है। युद्धसे मुंह मोड़कर यदि उसे बलात् बंदी बनाया जायगा, तो दिग्विजेता रावणकी विजय-गरिमा खंडित हो जायगी। लोकमें मेरे वीरत्वपर लांछन लगेगा....नहीं, यह नहीं होगा....कल सवेरे रण-क्षेत्रमें ही उसके भाग्यका निर्णय हो जायगा....

नरेंद्र-चक्रके स्कंधावारमें अविराम रण-वाद्यके प्रचंड घोषके बीच, दिन और रात युद्धका साज सजता रहा।

उधर पवनंजयके शिविरमें अखंड निस्तब्धताका साम्राज्य था। रातकी प्रकृत और गहन शांतिमें एक निर्वेद कंठका प्रच्छन्न और मृदु-मंद स्वर हवामें गूंजता हुआ निकल जाता।—मानो अगोचरसे आती हुई वह आवाज़ कह रही थी—'....अमृत-पुत्रो, प्राण लेकर नहीं, प्राण देकर तुम्हें अपने अजेय वीरत्वका परिचय देना है। अंतिम विजय मारनेवालोंकी नहीं, मरनेवालोंकी होगी। अपने ही प्राण विसर्जितकर असंख्य मानवताके जीवनका मोल हमें चुकाना होगा। प्रहारकके तने हुए शस्त्रकी धारपर अपना मस्तक अर्पितकर हमें अपने अमरत्वका परिचय देना होगा।—फिर देखें विश्वकी कौनसी शक्ति है जो हमारा घात कर सकेगी। वीरो, जीवन और मृत्यु साथ-साथ नहीं रह सकते। यदि हम सचमुच जीवित हैं और हमें अपनी जीवनी-शक्तिपर विश्वास है; तो जीवनकी उस धाराको खुली और निर्बाध छोड़ दो—फिर मौत कहीं नहीं रह जायगी। चारों ओर होगा....जीवन....जीवन....जीवन....' एक मानवके इस अस्खलित और केंद्रित नादमें सहस्रों मानवोंकी प्राण-शक्ति एकीभूत और तन्निष्ठ हो गई थी। रात्रिकी गहन-शांतिमें हवाओंके झकोरोंपर अनंत होता हुआ वह स्वर, निखिल जल-स्थल और आकाशमें परिव्याप्त हो जाता।

दूसरे दिन प्रातःकाल सूर्योदयकी बेलामें, रण-क्षेत्रमें दोनों ओरके सैन्य

सज गये । अविकल तूर्य-नाद, दुंदुभिघोष और रणवादित्रोंके उत्तरोत्तर बढ़ते स्वरोंने समस्त चराचरको आतंकित कर दिया ।

एक ओर अपने देवाधिष्ठित सप्ताश्व रथके सर्वोच्च सिंहासनपर महामंडलेश्वर महाराज रावण अपने परिकर सहित आरूढ़ हैं; और उनके पीछे जंबुद्वीपके विशाल नरेंद्र-चक्रका अपार सैन्य-बल युद्धके लिये प्रस्तुत है । चक्रीके रथके आगे उनके चक्रवर्तित्वका उद्घोषक चक्र तेजोद्भासित घूम रहा है । दूसरी ओर आदित्यपुरके युवराज पवनंजय एक अरक्षित और निश्छत्र रथपर, अकेले खड़े हैं, अपने पीछे एक छोटी-सी सेना लेकर——! रावणने पहचाना——वही आलुलायित अलकोंवाला मस्ताना तरुण सामने खड़ा है । बालोंकी वही मनमोहिनी घुंघुर ललाटपर खेल रही है । और उस कोमल-कांत परंतु जाज्वल्य मुखपर, एक हृदय-हारिणी मुस्कान सहज ही खिली है । चक्रीकी चढ़ी भृकुटियोंमें क्रोधसे अधिक विस्मय था और विस्मयसे अधिक एक अपूर्व मुग्धता ।

समुद्रके क्षितिजपर, ऊषाके अरुण चीरमेंसे उगते सूर्यकी कोर झांकी——। युवराज पवनंजयने अपने रथपर खड़े होकर दो बार युद्धारंभका शंख-नाद किया । एक भीषण लोह-घर्षणके साथ, चारों ओर शस्त्रास्त्र तन गये । आयुधोंके फलोंकी चमकसे वातावरणमें एक बिजली-सी कौंध उठी । लक्ष-लक्ष तनी हुई प्रत्यंचाओंपर कसमसाकर तीर खिंच रहे थे——।

..कि ठीक उसी क्षण उस कौतुकी युवाने, एक अनोखे भंगसे मुस्कराकर, रावणके चक्रके संमुख दोनों हाथोंसे अपना शस्त्र डाल दिया ? फिर ईषत् मुड़कर एक मधुर भ्रू-भंगके साथ अपने सैन्यको इंगित किया——। निमिष मात्रमें झन-झनाझन करते हुए हजारों शस्त्र धरतीपर ढेर हो गये । कुमारने वक्षपरसे कवच और माथेपरसे शिरस्त्राण उतारकर फेंक दिये । फिर एक प्रबल झन-झनाझनके बीच उनकी सेनाओंने उनका अनुसरण किया ।

..पुनः एक बार कुमारने पूर्ण श्वाससे युद्ध आह्वानका शंख पूरकर दिशाएं हिला दीं...

तदनंतर रावणके तने हुए दिव्यास्त्रके संमुख अपना खुला वक्ष प्रस्तुत-कर, विनम्र-वदन, मुस्कराते हुए पवनंजयने, एक अभय शिशुकी तरह आकाशमें अपनी भुजाएं पसार दीं। अनुगामी सैन्यने भी ठीक वैसा ही किया।

...सहस्रों मानवोंके अरक्षित खुले हुए वक्षोंके संमुख लाखों तने हुए तीर कीलित रह गये। चारों ओर अभेद्य निस्तब्धता छा गई—। त्रिखंडाधिपतिकी आंखकी कोरोंमें एक अतींद्रिय आनंद-वेदना-के आंसू उभर आये? दिव्यास्त्र अग्नि वरसाता हुआ उनके हाथसे खसक पड़ा। चक्र डगमगाकर विप्लवी घोष करता हुआ, चक्रीके रथ-पर आक्रमण करने लगा। सप्ताश्व-रथके दैवी घोड़े भयंकर शब्द करते हुए उल्टे पैर लौट पड़े—और रथ मानो धरतीमें धसकने लगा। तीन खंडके नाथके मस्तकपरके छत्र छिन्न-भिन्न होकर भूमिपर आ गिरे, और धूलिमें लोटने लगे...।

रावण तुरंत रथसे भूमिपर उतर आये। पवनंजयके रथके निकट जा दोनों हाथ फैलाकर उनसे नीचे आनेका मूक अनुरोध किया—। हाथ जोड़कर कुमार सहज विनयसे अवनत हो गये और हँसते हुए नीचे उतर आये। चक्रीने अपनी अतुल वल-शालिनी भुजाओंमें उन्हें भर-भर लिया, और वार-बार गले लगाकर उस कुंचित-अलका लिलारको विह्वल होकर चूमने लगे—। अशेष आनंदके मौन-मौन आंसू ही दोनोंकी आंखोंमें उमड़ रहे थे। और देखते-देखते चारों ओर प्रेमका एक पारावार-सा उमड़ पड़ा—। आत्म-संतापके आंसुओंमें विगलित लक्ष-लक्ष मानवके पुत्र एक-दूसरेको भुजाओंमें भर-भरकर गले लगा रहे थे। मानो जन्म-जन्मका शत्रुत्व विस्मरणकर पहली ही बार एक दूसरेको अपने आत्मीय के रूपमें पहचान रहे हैं..!

पांच दिन तक अंतरीपमें मर्त्य मानवोंने प्रेमका ऐसा अपूर्व उत्सव मनाया, कि अमरपुरीके देवता भी अपने विमानोंपर चढ़कर उसे देखने निकले और आकाशसे मंदार पुष्पोंकी मालाएं बरसती दीख पड़ीं।

[३०]

उत्सवके पांचवें दिन, प्रातःकाल---

अंतरीपके छोर पर, स्फटिकका एक उच्च लोकाकार स्तंभ, आकाश और समुद्रकी सुनील पीठिकापर खड़ा है। उसके चरणोंमें चिर कुमारिका पृथ्वी लहरोंका चंचल वसन बार-बार खसकाकर आत्मार्पण कर रही है। स्तंभके शीर्षपर वैडूर्यमणिकी एक भव्य अर्ध-चंद्राकार सिद्ध-शिला विराजमान है।---समुद्र, आकाश और पृथ्वी एक साथ उसमें प्रतिबिंबित हैं। सूर्यकी किरणें उसमें टूटकर ज्योतिकी तरंगें उठा रही हैं। मानो त्रिलोक और त्रिकालके सारे परिणमन उसमें एक साथ लीलायित हैं।

स्तंभके पाद-प्रांतमें, मर्कतके एक प्रकांड मगरके मुखपर, चारों समुद्रोंके गुलाबी और शुभ्र मोतियोंसे निर्मित, तीन खंडका सिंहासन शोभित है। उसकी सर्वोच्च वेदिकाके बीच चक्रीका देवोपनीत सिंहासन-रत्न है। वह राज्यासन इस समय रिक्त पड़ा है। केवल उसके दाईं ओर उपधानके सहारे वह दंड-रत्न रक्खा हुआ है। उसकी पीठिकामें पन्नों और नीलमोंका वह कल्पवृक्षाकार भामंडल है। उसके ऊपर बड़े-बड़े अंगूरी मुक्ताकी झालरोंवाले तीन छत्र दीपित हैं, जिनकी प्रभामें निरंतर लहरोंका आभास होता रहता है। इस सिंहासनकी सीढ़ियोंपर दोनों ओर चक्रीकी नाना भोग और विभूतियां देनेवाली निधियां और रत्न सजे हैं। सबसे ऊपरकी सीढ़ीपर बीचों-बीच चक्र-रत्न घूम रहा है।

सर्वोच्च वेदीकी कटनीमें एक ओर, चंदनकी एक विशद चौकीपर डाभका आसन बिछा है। उसीपर रावण अपनी दक्षिण भुजामें

वरुण-द्वीपके राजा वरुणको आवेष्ठित किये बैठे हैं। दूसरी ओर ऐसे ही डाभके आसनपर बैठे हैं कुमार पवनंजय।

सिंहासनके तले, खुले आकाशके नीचे, जंबुद्वीपके सहस्रों मुकुट-बद्ध राजा और विद्याधर अपने विपुल सैन्य-परिवारके साथ बैठे हैं। फूटनेको आतुर कलीकी तरह सभीके हृदय एक अपूर्व सुखके सौरभसे आविल हैं।

अवाक् निस्तब्धताके बीच खड़े होकर, त्रिखंडाधिपतिने अपने चक्रके समस्त राजवियोंके प्रति नम्रीभूत होकर, पहली ही वार, अपना मस्तक झुका दिया। तदुपरांत समुद्रके गंभीर गर्जनको विनिंदित करनेवाले स्वर में रावण बोले--

"लोकके हृदयेश्वर देव पवनंजय और मित्र राजन्यों, लोकके शीर्षपर सिद्ध-शिलामें विराजमान सिद्ध परमेष्ठी साक्षी हैं : त्रिखंडाधिपति रावणका गर्व, उसका सिंहासन, उसका चक्र और उसकी समस्त विभूतियां आजसे लोककी सेवामें अर्पित हैं।--इनपर स्वामित्व करनेका मेरा सामर्थ्य इस रण-क्षेत्रमें पराजित हुआ है।--मेरी आंखों आगे, मेरे ही पुण्य-फल इस चक्र-रत्नने विद्रोही होकर मेरे विजयाभिमानको विदीर्णकर दिया। मेरे हाथके दिव्यास्त्रसे निकलती हुई अग्नि मुझे ही भस्म करनेको उद्यत हो पड़ी। मेरे ही रथने मेरे ऊपर उलटकर, मेरे सिंहासनको रौंद देना चाहा। और इस महासमुद्रकी चंचल लहरोंने, जिनपर शासन करनेका मुझे एक दिन घमंड था, वज्रकी शृंखलाएं बनकर मुझे बंदी बना लिया!--उनके अधीन प्राणका भिखारी बनकर मैं थर्रा उठा।--तब कैसे कहूं कि मैं इनका स्वामी हूं, और अपनी इन उप-लब्धियोंके बलपर मैं लोककी जीवित सत्तापर शासन कर सकूंगा..? जड़ भौतिक विभूतियोंको अपने अधीन पाकर, निखिल चराचरपर अपना साम्राज्य स्थापित करनेका मुझे उन्माद हो गया था। तब चेतनकी उस केंद्रीय महाप्राण सत्ताने, अपने ऊपर छा गये जड़त्वके स्तूपको उखाड़

फेंकनेके लिये विद्रोह किया है ।--उसी चेतनका मुक्ति-दूत बनकर आया है, यह आदित्यपुरका विद्रोही राजकुमार पवनंजय ! टूटते हुए वरुण-द्वीपकी वेदीमें खड़े होकर, उसने अपने आत्मबलसे तत्वोंकी सृष्टिपर शासन स्थापित किया । देवताओं और दैत्योंने उस शक्तिसे हार मानी । परोक्ष आत्म-सत्ताके उस आविर्भावने मेरे अभिमानको तोड़ा अवश्य, पर भीतर हृदयका राग और ममत्व पराजयकी एक दाहक पीड़ा जगा रहा था ।--तब इस रण-भूमिमें प्रत्यक्ष संमुख खड़े होकर पवनंजयने मेरी जड़ बल-सत्ताको चुनौती दी । मेरे सारे तने हुए प्रतापकी धारपर उसने शस्त्र-समर्पण कर दिया । और तब हृदयपर अखंड प्रेमकी जोत जलाकर उसने मेरे प्रहारको आमंत्रित किया । अगले ही क्षण सहस्रों जलती हुई प्राण-शिखाएं एक-साथ निछावर हो उठीं । देखती आंखों आत्माकी उस अमर ज्योतिमें, मेरे प्रताप, वैभव और विभूतिका वज्र गलित हो गया....।

"....इस रण-क्षेत्रमें इस अद्भुत युवाने धर्मका शासन उतारा है । मुझे प्रतीति हो रही है कि आजसे आतंक और शक्तिका जड़ शासन भंग हो गया । धर्मका स्वयंभु शासन ही लोकके हृदयपर राज्य कर सकेगा । चक्रीका यह सिंहासन आजसे धर्म-राजका सिंहासन हो । लोकके कल्याणके लिये प्रस्तुत हों ये सारी विभूतियां । चक्री मात्र इनका रक्षक होकर, नम्रतापूर्वक इस धर्म-शासनका सूत्रसंचालन करेगा । वह होगा लोकका एक अकिंचन सेवक---दासानुदास !

"....पृथ्वीपतियों ! धर्म-राजके इस सिंहासनके नामपर तुम सबोंसे मेरा एक ही अनुरोध है : लोककी जड़ सत्ताके बलात्कारी अधिपति बनकर नहीं, जीवंत लोकके विनम्र सेवक बनकर उसके हृदयपर अपना आधिपत्य स्थापित करो; और यों अपने राजत्व और क्षात्रत्वको कृतार्थ करो । ससागरा पृथ्वीके तीन खंडोंको जीतकर भी, इस छोटे-से वरुण-द्वीपपर आकर, मेरा समस्त बल-वीर्य, और शक्तियां पराजित हो गईं ।

पर इस युवराज पवनंजयने हमारे हृदयोंपर शासन स्थापितकर, तत्वकी चेतन सत्ताको जीता है। इसीसे कहता हूं आज से वही होगा हमारा हृदयेश्वर ! लोक-हृदयके सिंहासनपर आज नरेंद्रोंकी यह सभा इस धर्म-पुत्रका अभिषेक करे, यही मेरी कामना है।"

कहकर रावण पवनंजयकी ओर बढ़नेको उद्यत हुए कि स्वयं पवनंजय अपने आसनसे उठकर आगे बढ़ आये, और सहज विनयसे नम्रीभूत हो गये। रावणने अमित वात्सल्यसे उभरते हृदयसे बार-बार उन्हें आलिंगन किया। समस्त नरेंद्र-मंडल गद्‌गद् कंठसे पुकार उठा--

"लोकहृदयेश्वर देव पवनंजयकी जय !

धर्म-चक्री महाराज रावणकी जय !"

चारों ओरसे जय-मालाओं और पुष्पोंकी वर्षा होने लगी। रावण और पवनंजय उसमें ढक गये। दोनों राज-पुरुषोंने बार-बार माथा नवां कर राज-चक्रके इस मुक्त हृदयार्पणको बधा लिया।

फिर एक बार रावणके इंगितपर सभा शांत हो गई। तब चक्रीने वरुणको गले लगाकर, उन्हें आजसे सामुद्रिक साम्राज्यका प्रतिनिधि घोषित कर दिया। तदुपरांत समुद्रके शासन-देवों द्वारा प्राप्त अपने अनेक दिव्यास्त्र और रत्न उन्होंने वरुणको समर्पित किये। फिर उनके गलेमें जयमाला पहनाकर घोषित किया--

"वरुण-राजने अपने आत्म-देवताकी संमान-रक्षाके लिये, कालके विरुद्ध खड़े होकर धर्म-युद्ध लड़ा है। उन्होंने त्रिखंडाधिपति रावणके आतंककी अवहेलनाकर सर्वकी जन्म-जात स्वाधीन सत्ताकी स्थापनाका श्रेय लिया है। उनके इस अप्रतिम साहस और वीरत्वका मैं अभिनंदन करता हूं। प्रेम, अभयदान, साम्य और स्वाधीनता, यही होंगे आजसे हमारे राजत्वके चक्र-रत्न, और इन्हीं पायोंपर आसीन है धर्म-राजका यह सिंहासन...!"

फिर एक बार "लोक-हृदयेश्वर देव पवनंजयकी जय, धर्म-राजेश्वर

महाराज रावणकी जय, वीर-कुल-तिलक वरुण-राजकी जय !"--समुद्रके क्षितिजतक गूंज उठी। तदनंतर मंगल-वादित्रोंकी धीमी और मधुर ध्वनियोंके बीच सभा विसर्जित हो गई।

[३१]

शरद ऋतुकी संध्या गिरिमालाओंमें नम रही है। समुद्र-पर्यंत पृथ्वीपर जिसके यशोगान गूँज रहे हैं, ऐसी जय-श्री लेकर पवनंजय आज आदित्यपुर लौट रहे हैं। पार्वत्य-घाटियां सैन्यके अविराम जय-नादों और मंगल-शंखोंसे गूंज रही हैं। अपने अंबर-गोचर नामा हाथीपर, सोनेकी अंबाड़ीके रेलिंगपर झुककर पवनंजयने दूरतक दृष्टि डाली। विजयार्धके ऊंचे कूटोंपर दूर-दूरतक रंग-बिरंगे मणि-गोलकोंके प्रदीप लगे हैं। एकाएक उनकी दृष्टि अपने प्रियतम और सर्वोच्च कूट अजितंजयपर जा ठहरी। इतना ऊँचा है वह कूट कि वहां दीप नहीं लगाया जा सका है। वहां तो केवल वनस्पतियोंके अंतरालमें स्वर्ण-जुही-सी गोरी संध्या अभिसार कर रही है। उसकी लिलारमें शुक्र-ताराकी बिंदिया सजी है। ऊपर घिरती प्रदोषकी गाढ़ नीलिमामें, रात उसके मुक्त केशों-सी अंतहीन होकर फैल रही है। फुट-पुट तारोंके उजले फूल उसमें फूट रहे हैं।--और पवनंजयकी जय-श्री वहां जाकर, उस अभिसारिकाके पैरोंमें नीरव नूपुर बनकर मुखरित हो उठी। उस झंकारपर दिगंगनाओंने अपने आंचल खसकाकर, अनंत रूप-राशियां निछावर कर दीं।

....पवनंजयकी आंखोंके सामने रत्न-कूट प्रासादकी वह स्फटिककी अटारी खिल उठी। जिस वातायनमें वे उस रात बैठे थे, उसीमें बैठी अंजना अकेली अपने हाथोंसे सिंगार-प्रसाधन कर रही है।.... शत-शत वसंतोंके सौंदर्यने आज उसे न्हिलाया है। कल्प-सरोवरकी कुमुदनियोंने उसके तनु अंगोंमें लावण्य और यौवन भरा है। केशरिया

स्वर्ण-तारोंके दुकूलमें वह कपूर-सी उज्ज्वल देह चांदनी छिटका रही है। दूजकी विधु-लेखा-सी जिस विरहिणी तापसीको उस रात वह अपनी बाहुओंमें न भर सका था, वह आज राकाके पूर्ण-चंद्र-सी अपनी सोलहों कलाओंसे भर उठी है!——सामने उसके पड़ा है वह रत्नोंका दर्पण। पास ही पड़े स्वर्णिल धूपायनके छिद्रोंसे कस्तूरी और अगुरुके धूपकी धूम्र-लहरें निकल रही हैं। अतिशय मार्दवसे देहमें एक भंग डालकर, अपने दोनों लीलायित हाथोंमें विपुल कुंतलोंको उभारती हुई अंजना, गंध-धूम्रसे उनका संस्कार कर रही है। पैरोंके पास खुले पड़े रत्न-करंडोंमें नाना शृंगारोंकी सामग्रियां फैली हैं——।

....कल्प-काननके सारे फूलोंका मधु लेकर, काम और रतिने सुहागकी शय्या रच दी है। जिस महासमुद्रकी लहरोंको पवनंजयने बांधा था, वही मानो चँदोवा बनकर उस शय्यापर तन गया है। उसी शय्यापर बैठी है वह अक्षय-सुहागिनी अंजना, अजितंजय कूटपर प्रतीक्षाकी आतुर आंखें बिछाये।——उसीके वक्षमें विसर्जित होकर विजेता आज अपनी शेष कामनाकी मुक्ति पायेगा....!

अतुल हर्षके कोलाहल और जय-ध्वनियोंके बीच पवनंजयकी तंद्रा टूटी। जहां तक दृष्टि जाती है, विजयोत्सवमें पागल नागरिकोंका प्रवाह उमड़ता दीख रहा है। राज-मार्गके दोनों ओर दूरतक दीप-स्तंभोंकी पंक्तियां चली गई हैं। विपुल गीत-वादित्रोंकी ध्वनियोंसे दिशाएं आकुल हैं। विजयार्धके प्रकृत सिंह-तोरणमेंसे निकलते ही कुमारने देखा——सामने हस्ति-दंतका विशाल जय-तोरण रचा गया है। मुक्ताकी झालरों और फूलोंकी बंदनवारोंसे वह सजा है। उसके शीर्षपर चार खंडोंके अलिंदों और गवाक्षोंमेंसे अप्सरओं-सी रूपसियां पुष्पों और गंध-चूर्णोंकी राशियां बिखेर रही हैं। शत-शत मृणाल बाहुओंपर आरतियोंके स्तवक झूल रहे हैं। कुमारने पाया कि उन्हींके हृदयके माधुर्यमेंसे उठ रही हैं, ये सौंदर्यकी शिखाएं! उनकी आंखोंमें आत्म-दर्शनके

आंसू उभर आये। झुकी आंखों और जुड़े हाथोंसे बार-बार उन्होंने उन कुमारिकाओंका वंदन किया।——आज सौंदर्य अप्राप्त वासनाका विष बनकर हृदयको नहीं डस रहा है, वह अंतरका अमृत बनकर नितर रहा है।

द्वारमेंसे निकलकर जब कुमारका अंबर-गोचर हाथी आगे बढ़ा तो दूरपर आदित्यपुरके भवन और प्रासाद-मालाएं सहस्रों दीपोंकी सघन पंक्तियोंसे उद्भासित दिखाई पड़े। उन झल-मलाती वातियोंमें, भवांतरोंकी जाने कितनी ही अविज्ञात इच्छाएं, एक साथ ज्वलित होकर आंखोंमें नृत्य करने लगीं। उन दीप-मालाओंके बीच-बीचमें विभिन्न प्रासाद-शिखरोंके अनेक-रंगी रत्न-दीपोंका एक हार-सा दीख रहा है। और तभी कुमारको ध्यान आया उस हारके कौस्तुभ-मणिका!——रत्न-कूट प्रासादके शिखरपर नीली और हरी कांति बिखेरते उस शीतल रत्न-दीपको उन्होंने चीन्हना चाहा।——आंखें फाड़-फाड़कर बार-बार देखा, पर नहीं दिखाई पड़ रही है वह हारकी कौस्तुभ-मणि——! ....देखते-देखते कुमारकी आंखोंमें वे दीपावलियां करोड़ों उल्कापातों-सी वेगसे चक्कर काटने लगीं।——एक विभ्राट अग्निकांडमें सब कुछ भभक उठा।——उनकी छातीमें एक वज्रविस्फोटका धमाका सुनाई पड़ा....। और अगले ही निमिष वह सारा दीपोत्सव बुझ गया....। निःसीम अंधकारका शून्य आंखोंके सामने फैल गया।——कुमारने दोनों हाथोंसे आंखें मूंद लीं। भीतर पुकारा——'कल्याणी, तुम्हें मिलनेका अमित सुख मुझे पागल बनाये दे रहा है——मेरी चेतना खोई जा रही है, और तुम कहां भागी जा रही हो?....मुझसे घोरतर अपराध हो गया है।....क्या मैं तुम्हें भूल गया था...सर्वथा भूल गया था....? क्या इन बारह महीनोंमें तुम्हारी सुध मुझे कभी नहीं आई...? ओह, मैं विजयके मदमें पागल हो गया था!....कौनसा मुंह लेकर तुम्हारे निकट आ सकूंगा? इसीसे विजयकी दीप-मालाएं एकाएक बुझ गई हैं..।....स्वागतकी वह आरती तुमने समेट ली है....। पर ओ करुणामयी, ओ क्षमा,

ओ मेरी धरणी, क्या तुम भी मुझसे मुंह मोड़ लोगी ? एक बार अपने निकट आ जाने दो, फिर जो चाहो दंड दे लेना ।' कुमारके हृदयको फिर भीतरसे एक ऊष्म स्पर्शने थाम लिया । ससंज्ञ होकर उन्होंने अपनेको स्वस्थ पाया । दीपोत्सव वैसा ही चल रहा था, पर कुमारकी आंखें नहीं उठ रही हैं उस ओर ।

राजांगनमें प्रवेश करते ही कुमारने महावतको कुछ संकेत कर दिया । आस-पासके उत्सव, बधाइयां, जयकारें और गीत-वादित्रोंके स्वर पवनंजयके पास नहीं पहुंच पा रहे हैं । उनका समस्त मन-प्राण अंतरके एक अथाह शून्यमें गोते लगा रहा है ।

××× रत्न-कूट प्रासादके द्वारपर आकर पवनंजयका अंबर गोचर गज-राज बैठ गया । शुंड उठाकर हाथीने स्वामीको प्रणाम किया । अंबाड़ीपर नसैनी लगा दी गई । ऊपर निगाह डालकर कुमारने देखा : महलके छज्जोंपर दीपावलियां वैसी ही शोभित हैं, पर उसके गवाक्षोंके कपाट रुद्ध हैं, उनसे नहीं बरस रही हैं फूलोंकी राशियां, नहीं बह रहीं हैं संगीतकी सुरावलियां, नहीं उठ रही हैं सुगंधित धूम्र-लहरें । उस महलका अलिंद शून्य पड़ा है ।...झपटते हुए कुमार सौधकी सीढ़ियां चढ़ द्वारके पास पहुंच गये....। विशाल द्वारके कांसेके कपाट रुद्ध हैं, उनकी बड़ी-बड़ी अर्गलाओंमें ताले पड़े हुए हैं !....द्वार-पक्षमें चिपकी, मंगलका पूर्ण-कलश लिये खड़ी वह तन्वंगी, विश्वकी संपूर्ण करुणा और विषादको आंखोंमें भरकर फिर मुस्करा उठी !——पवनंजयके मस्तिष्कमें लाख-लाख बिजलियां तड़-तड़ाकर टूट पड़ीं । चारों ओर उमड़ता उल्लसित जन-समूह, अपार दुःख, आश्चर्य और भयसे स्तंभित होकर, पत्थर-सा थमा रह गया । क्षण मात्रमें हर्षका सारा कोलाहल निस्तब्ध हो गया । भीतर-भीतर त्रासकी सिसकारियां फूट उठीं, पर उससे भी अधिक अचरजसे सबकी आंखें फटी रह गईं ।

....कुमारने लौटकर देखा : दोनों ओर खामोश खड़ी—प्रतिहारियोंकी आंखोंमें आंसू झलक रहे थे। कुमारकी आंखोंके मूक प्रश्नके उत्तरमें, वे कुहनियोंतक दीर्घ हाथ जोड़कर नत हो गईं। भालेके फल-सा एक तीक्ष्ण प्रश्न कुमारकी छातीमें चमक उठा। एक गहरी शंका हृदयको बींधने लगी। ओंठ खुले रह गये—पर प्रश्न शब्दोंमें न फूट सका। अनजाने ही विजेताका वह किरीट-बद्ध ललाट, द्वारके कपाटोंसे जा टकराया....। प्रतिहारियां और जन-समूह हाय-हाय कर उठा। कुमारकी आंखोंमें प्रलयंकर अंधकारकी बढ़िया उमड़ पड़ी। सारे अंतःपुरमें संवाद बिजलीकी तरह फैल गया!

उन्मत्तकी तरह झपटते हुए कुमार माताके महलकी ओर पैदल ही चल पड़े। ललाटसे रक्त चू रहा है और तीरके वेगसे वे चले जा रहे हैं। उलटे पैरों पीछे धसककर जन-समूहने राह छोड़ दी। किसकी सामर्थ्य है जो उस कुमारको थाम लें। प्रतिहारियां उसके पथमें पांवड़े बिछानेकी सुध भूल गईं, और आंचलमें मुंह ढांककर सिसकने लगीं।

महारानी केतुमती शृंगार-आभरणोंमें सजी, अपने प्रासादके अलिंद-तोरणमें खड़ी हैं। स्वर्णके थालमें अक्षत-कुंकुम और मंगलका कलश सजाये, उत्सुक आंखोंसे वे बाट जोह रही हैं, कि अपूर्व विजयका लाभ लेकर आये पुत्रके भालपर वे अभी-अभी जयका टीका लगायेंगी।—उनकी गोद फड़क रही है, कि वर्षोंके रूठे पुत्रको आज वे एकांत रूपसे पा जायेंगी। अभी-अभी उनके कानतक भी वह उपरोक्त संवाद अस्पष्ट रूपसे पहुंच चुका था। सुनकर वे सिरसे पैरतक थर्रा उठी हैं, पर विश्वास नहीं हो रहा है।

कि इतने हीमें झंझाके झोंकेकी तरह पवनंजय सामने आकर खड़े हो गये। पसीनेमें सारा चेहरा लथ-पथ है—और भालपर यह बहते कुंकुमका जय-तिलक मांसे पहले किसने लगा दिया....?—

और अगले ही क्षण दीखा, बहता हुआ रक्त....? अभी-अभी जो सुना था और सुनकर भी जिसकी अवज्ञा की थी, वह झूठ नहीं था!——रानीके हाथसे मंगलका थाल गिर पड़ा। कलश ढुलक गया, अक्षय दीवट बुझ गई!....पवनंजय आगे न बढ़ सके....। अवाक् और निस्तब्ध वे मांके चेहरेकी ओर ताकते रह गये....। रानीके पीछे खड़ी मंगल-गीत गा रही अंतःपुरकी रमणियां हाय-हाय कर उठीं। अपराधिनीकी तरह ढुलकी-सी खड़ी महादेवी थर-थर कांप रही हैं——आंखें उनकी धरतीमें गड़ी हैं। पुत्रकी ओर दृष्टि उठाकर देखनेका साहस उन्हें नहीं है। अपने बावजूद पवनंजयके मुंहसे अनायास प्रश्न फूट पड़ा——

"मां....लक्ष्मी कहां है? उसके महलका द्वार रुद्ध है——और तुम्हारे पीछे भी वह नहीं खड़ी है!....नहीं लगायेगी वह मुझे जय-तिलक....? नहीं पहनायेगी वह मुझे जय-माला....? बोलो मां....जल्दी बोलो।....शायद तुमने सोचा होगा कि अपशकुन हो जायगा (ईषत् हँसकर)....इसीसे, जान पड़ता है, उसे कहीं छुपा दिया है।....पर मां तुम नहीं जानती....उसीके लिये लाया हूँ यह जय-श्री——! उसके चरणोंमें इसे चढ़ाकर अपना जन्मोंका ऋण मुझे चुकाना है! पहले उसे जल्दी बुलाओ मां——मैं विनोद नहीं कर रहा हूं।....मैं समझ रहा हूं तुम घबड़ा रही हो——पर मैं तुम्हें अभी सब बातें बता दूंगा। लज्जावश शायद वह तुमसे न कह सकी हो। पर पहले लक्ष्मीको बुलाओ मां....देर न करो....मुहूर्त टल रहा है...."

रानी बेसुध-सी हो पुत्रकी ओर बढ़ी और उसे अपनी दोनों बाहोंसे छातीमें भरकर रो उठी——। पवनंजय मांके आलिंगनमें मूर्छित हो गये। चारों ओर हाहाकार व्याप्त हो गया। उत्सवका आह्लाद क्रन्दनमें परिणत हो गया। एक स्तब्ध विषादकी नीरवता चारों ओर फैल गई।

[३७]

महादेवीके कक्षकी एक शय्यापर पवनंजय मांकी गोदमें लेटे हैं---। सिरहानेकी ओर राजा, मसनदके सहारे सिर लटकाये निश्चेष्टसे बैठे हैं। पायतानेके पास प्रहस्त एक चौकीपर मानो जड़ीभूत हो गये हैं; उनका एक हाथ पवनंजयकी पगतलीपर सहज ही पड़ा है। उनकी आंख-की कोरोंमें पानीकी लकीरें थमी हैं। शय्याके उस ओर खड़ी दो प्रति-हारियां मयूर-पंखके दो विपुल पंखोंसे विजन कर रही हैं।---सारे उपचार समाप्त हो गये हैं, पर पवनंजयको अभी चेत नहीं आया।

हृदयपर पहाड़ रखकर प्रहस्तने उस अपराधिनी पुण्य-रात्रीका वृत्त सुना दिया। सुनकर राजा क्षणभरको स्तंभित-से रह गये---। फिर दोनों हाथोंसे कपाल पीट लिया और मुकुट-कुंडल उतारकर धरतीपर दे मारे। भूषण-अलंकार छिन्न-विच्छिन्नकर फेंक दिये। पृथ्वीपति---। पृथ्वीपर गिरकर उसकी गोदमें समा जानेको छटपटाने लगे। पर माता पृथ्वी भी सुनकर मानो निस्पंद और निष्प्राण हो गई है; निर्मम होकर वह राजाके टूक-टूक होते हृदयको कठिन अवरोधसे ठेल रही है। ---लगता है कि बुक्का फाड़कर वे रो उठें और यों अपने इस पापी जीवनका वे अंत कर लें---। पर नहीं, इस क्षण वह इष्ट नहीं है---। मरणांतक कष्ट पुत्रके हृदयको जकड़े हुए है। राजाकी प्रत्येक श्वासमें पुत्रका दुख शूलों-सा चुभ रहा है। जीवनमें, मरणमें, लोकमें, परलोकमें कहीं मानो राजाको स्थान नहीं है।

रानी सुनकर वज्राहत-सी बैठी रह गई।---देखते-देखते वह प्रेतिनी-सी विवर्ण और भयानक हो उठी है। उसकी आंखें फटकर मानो अभी-अभी कोटरोंसे निकल पड़ेंगी। उन पुतलियोंका प्रकाश जैसे बुझ गया है। अचानक दोनों हाथोंके मुक्कोंसे रानीने छाती पीट ली, माथा पलंगकी पटरियोंपर दे मारा। आकाश-भेदी रुदन गलेमें

आकर घुट रहा है। कुछ वस न चला, तो अपने केशों और अंगोंको उसने नोच-नोच लिया। प्रतिहारियोंने रानीको सम्हाला, और प्रहस्तने राजाको उठाकर तल्पके उपधानपर लिटा दिया। धीमे और व्याकुल स्वरमें इतना ही कहा--"शांत राजन्, शांत--कष्टकी यह घड़ी बहुत ही गंभीर है--अधीर होनेसे बहुत बड़ा अमंगल घट जायगा !" राजा और रानी कलेजा थामकर अपने भीतर क्षार-क्षार हो रहे हैं।

कि इतने हीमें हलकी-सी कराहके साथ पवनंजयने आंख खोलीं--। माथेके नीचेकी गोदीका परस अनुभवकर बोले--

"....आह तुम....तुम आ गईं रानी....वल्लभे....प्राणदे....तुम....?" और पुतलियां ऊपरकी ओर चढ़ाकर देखा "ओ....मां....तुम ?....और कहां है वह....लक्ष्मी....?" एकाएक पवनंजय उठ बैठे और आंसुओंसे धुलते मांके उस क्षत-विक्षत चेहरेको क्षणभर स्तब्धसे ताकते रह गये--। फिर दोनों हाथोंसे उस विह्वल मुखको झकझोरकर उद्विग्न कंठसे फूट पड़े--

"ओह मां....यह क्या हो गया है तुम्हें ?....और वह कहां है मां..बोलो, जल्दी बोलो....लक्ष्मी कहां है ? यदि पुत्रका कल्याण चाहती हो तो उसे मुझसे न छुपाओ--उसीने मुझे प्राण-दान दिया है कि आज मैं जी रहा हूं। उसीने मुझे शक्ति दी है कि मैं त्रिलोककी विजय-लक्ष्मीका वरण कर लाया हूं--केवल उसके चरणोंकी दासी बना देनेके लिये....! तुम नहीं जानती हो मां--उस सौभाग्य-रात्रीकी वार्ता--वह सब मैं तुम्हें अभी कहूंगा।....पर पहले उसे बुलाओ मां....तुम नहीं, वही इन प्राणोंको रख सकेगी !....उसे जल्दी बुलाओ मां....नहीं तो देर हो जायगी....!"

पुत्रके कंधेपर माथा डालकर रानी छाती तोड़कर रो उठी। कुछ देर रहकर पवनंजयके उस पगले मुखको अपने वक्षमें दोनों हाथोंसे दबा लिया, फिर कठोर आत्म-विडंबनके ढीठ स्वरमें बोली--

"....सुन चुकी हूं बेटा, सब सुनकर भी जीवित हूं मैं हत्यारी--। अनर्थ घट गया है मेरे लाल....घोर अमंगल हो गया है....। छातीमें लात मारकर मैंने लक्ष्मीको ठेल दिया है। मैंने सतीपर कलंक लगाकर उसे इस घरसे निर्वासित कर दिया है....। वसंतके कहेपर मैंने विश्वास नहीं किया--तेरे वलय और मुद्रिका उठाकर फेंक दिये। अपने भीतरका सारा विष उड़ेलकर मैंने सतीकी अवमानना की है। आह....उसके गर्भमें आये अपने कुलधरका ही मैंने घात किया है। वंशकी परंपराको ही मैंने तोड़ दिया है--कुल-लक्ष्मीको धक्का देकर मैंने राज-लक्ष्मीका आसन उच्छेद्र कर दिया है।--एक साथ मैंने सतीघात, कुल-घात, राज्य-घात, पति-घात और पुत्र-घातका अपराध किया है, बेटा....! मैं तुम्हारी मां नहीं--मैं तो राक्षसी हूं। मुझे क्षमा मत करो बेटा--मुझपर दया करके मुझे अपने पैरों तले कुचल डालो--तो सुगति पा जाऊंगी--और नहीं तो सातवें नरकमें भी मुझ पापिनको स्थान नहीं मिलेगा...."

कहती-कहती रानी धमाकसे पुत्रके पैरोंमें गिर पड़ी। पवनंजय पहले तो अचल पाषाणकी तरह सब कुछ सुन गये, मानो आत्मा ही लुप्त हो गया हो। पर ज्योंही मां पैरोंमें गिरी कि झुंझलाकर पैर हटा लिये और छिटककर दूर खड़े हो गये। एक क्षुब्ध सन्नाटा कक्षमें व्याप गया। दोनों हाथोंमें मुंह ढांपकर कुमार बड़ी देरतक निस्पंद और अकंप होकर अपने भीतर डूब रहे....। फिर एकाएक घुमड़ते मेघ-से गंभीर स्वरमें गरज उठे--

"....धिक्कार है यह पुरुषत्व और वीरत्व--धिक्कार है मेरी यह विजय-गरिमा, धिक्कार है यह राज्य, यह सिंहासन, यह प्रमत्त वैभव और ऐश्वर्य--धिक्कार है यह कौलीन्य, यह सतीत्व, यह शील और यह लोक-मर्यादा। सत्यपर नहीं, हमारे अहंकारों और स्वार्थोंपर टिका है यह सदाचारोंका पृथुल विधान....!--आह रे दंभी पुरुष,

देवत्व, ईश्वरत्व और मुक्तिके तेरे ये दावे धिक्कार हैं! निपीड़क, नृशंस, बर्बर! युग-युगसे तूने अपने पशु-बलके विषाक्त नखोंसे कोमला नारीका वक्ष चीरकर उसका रक्त पिया है....!—उस वक्षका जिसने अपने रक्त-मांसमेंसे तुझे पिंड-दान किया—और जन्म देकर अपने दूधसे तुझे जीवन-दान किया। और उसीपर सदा तूने अपने वीरत्वका मद उतारना चाहा है! उस विधात्री और शक्ति-दात्रीसे शक्ति पाकर, आप स्वयं उसका विधाता और नियंता बननेका गौरव लिये बैठा है?—धूर्त, पाखंडी, कापुरुष....!....मेरे उसी पुरुषत्वका यह जन्म-जन्मका निदारुण अपराध है कि ऐसा अमंगल घटा है। यह एक पुरुष या एक स्त्रीका दुर्दैव नहीं है, प्रहस्त, यह हमारी परंपराके मर्मका व्रण फूटकर सामने आ गया है—?—जियो मां—जियो, तुम्हारा दोष नहीं है। सतीकी अवमानना तुमसे पहले मैंने की है, उसीका दंड मैं भोग रहा हूं।—इसमें तुम्हारा और किसीका क्या अपराध....?"

क्षणभर चुप रहकर कुमारने पिताकी ओर निहारा।—मुकुट धरतीमें लोट रहा है! राज्यत्व और क्षात्रत्व अपने पराभव-से भूलुंठित और विध्वस्त होकर धूलमें मिल रहे हैं। पवनंजयके हृदयमें फिर एक ज़ोरका आघात हुआ। अंतर्भेदी स्वरमें कुमार पुकार उठे—

"उठो, प्रहस्त, उठो—देर हुई तो ब्रह्मांड विदीर्ण हो जायगा। लोक-कल्याणकी तेज-शिखा बुझ गई है। आनंदका यज्ञ भंग हो गया है, और मंगलका कलश फूट गया है। जीवनकी अधिष्ठात्री हमें छोड़कर चली गई है....। जल्दी करो प्रहस्त, नहीं तो लोककी प्राण-धारा छिन्न हो जायगी। मेरी आंखोंमें कल्पांतकालका प्रलयंकर रुद्र तांडव-नृत्य कर रहा है—। नाशकी झंझा-रात्रि चारों ओर फैल रही है, प्रहस्त, सृष्टिमें विप्लवके हिलोरे दौड़ रहे हैं। इस ध्वंस-लीलाके बीच, जल्दीसे जल्दी उस अमृतमयी, प्राणदाको खोज लाकर, उसे विधातृके आसनपर प्रतिष्ठित करना है।—वही होगी नवीन सृष्टिकी अधी-

श्वरी ! उसीके धर्म-शासनका भार वहनकर हमारा पुरुषत्व और वीरत्व कृतार्थ हो सकेगा !---प्रस्तुत होओ, मेरे आत्म-सखा....!"

फिर मांकी ओर लक्ष्यकर बोले---

"रोओ मत मां, मेरे पापका प्रायश्चित्त मुझे ही करने दो---। जल्दी बताओ, निर्वासितकर तुमने उसे कहां भेजा है....?"

रानीने धरतीमें मुंह डुबाये ही उत्तर दिया---

"महेंद्रपुर....उसके पिताके घर।"

"उठो प्रहस्त, अश्व-शालामें चलकर तुरंत वाहन प्रस्तुत करो, चिंताका समय नहीं है।"

प्रहस्त उठकर चले गये। कुछ देर द्रुत-पगसे कुमार, कक्षमें इधरसे उधर टहलते रहे---फिर तुरंत झपटते हुए कक्षसे बाहर हो गये। मां और पिता बेक़ाबू होकर रो उठे और जाकर पुत्रके चरण पकड़ लिये।---झटकेके साथ पैर छुड़ाकर पवनंजय द्वारके बाद द्वार पार करते चले गये। राहमें प्रतिहारियों और राज-कुलकी महिलाओंने अपने वक्ष बिछाकर उनकी राह रोकनी चाही, कि उसपर पैर धरकर ही वे जा सकते हैं। पवनंजय एक झटका-सा खाकर रुक गये, पीछे लौटकर देखा, और दूसरे ही क्षण रेलिंग फांदकर अलिंदके छज्जेपर जा उतरे और अपलक नीचे कूद गये....। महलमें हृदय-विदारक रुदन और विलापका कोहराम मच गया। चारों ओरसे प्रतिहार और सेवक दौड़ पड़े, पर राजांगनमें कहीं भी कुमारका पता न चला !

[३३]

रातकी असूझ तमसाको चीरते हुए दो अश्वारोही, प्रभंजनके वेगसे महेंद्रपुरकी ओर बढ़ रहे हैं। आगे-आगे दीर्घ मशाल लेकर एक मार्ग-दर्शक सैनिकका घोड़ा दौड़ रहा है। शीतकालकी हड्डी कँपा देनेवाली

हवायें विरहिणीके रुदन-सी दिगंतमें भटक रही हैं। घोड़ोंकी टापोंके अविराम आघात ही उस गुंजान शून्यको विदीर्ण कर रहे हैं। दूर-दूरसे शृगालों और वन-पशुओंके समन्वित रुदनकी पुकारें रह-रहकर सुनाई पड़ती हैं। कहीं किसी खेतकी मेढ़पर कोई कुत्ता ढीठ स्वरमें भूंक उठता है। सुदूर अंधकारमें किसी ग्रामके घरका एकाकी दीप झलक जाता है। प्रियाके बाहु-पाशका ऊष्म आश्वासन हृदयको गुद-गुदा देता है। तभी कहीं राहके किसी पुरातन वृक्षकी कोटरमें उल्लू बोल उठता है।—अश्वारोहियोंके माथेपरसे कोई नीड़हारा एकाकी पंछी श्लथ पंखोंसे उड़ता हुआ निकल जाता है। दूर जाकर सुनाई पड़ती है उसकी आर्त और विकल पुकार।

दोनों अश्वारोहियोंके मनोंके बीच एक अथक शक्तिका स्रोत बह रहा है। उनके सारे संकल्प-विकल्प खोकर, उसी मौन प्रवाहके अंश बन गये हैं।—पर इस संक्रमणमें पवनंजय नितांत अकेले पड़ गये हैं। धरती उलटकर उनके माथेपर घूम रही है, और तारोंभरे आकाशका अथाह शून्य उनके अश्वकी चापों तले फैल गया है। ग्रह-नक्षत्रोंके संघर्षोंमें उनकी राह रुंध जाती है।—प्राणका अस्त्र फेंककर वे घोड़ेको एड़ देते हैं। एक नक्षत्रको पीछे ठेलकर वे दूसरेपर जा चढ़ते हैं।—देखेगा, वह कौन शक्ति है जो आज उसकी राह रोकेगी!

× × × सवेरे काफ़ी धूप चढ़नेपर महेंद्रपुरके सीमस्तंभके पास आकर वे दोनों अश्वारोही उतर पड़े। मार्गसे परे हटकर, एक एकांत वृक्षके नीचे जाकर उन्होंने विराम लिया।—दूरपर महेंद्रपुरके प्रासाद-शिखरोंकी उड़ती पताकाएं दीख रही हैं। एक साधभरी वेदनाकी उत्सुक और विधुर दृष्टिसे पवनंजय उस ओर देखते रह गये। फिर एक दीर्घ निश्वास ओठोंमें दबाकर बोले—

"जाओ भाई प्रहस्त, मेरे पाप-पुण्योंके एकमेव संगी, तुम्हीं जाओ।—जाकर देवीसे कहना, कि अपराधी इस बार फिर चरम

अपराध लेकर आया है—प्राणका भिखारी बनकर वह उसके द्वारपर खड़ा है। यह भी कहना कि अब इस अपराधकी आवृत्ति नहीं होगी—उसके मूलोच्छेदका संकल्प लेकर ही पवनंजय इस बार आया है! मुझे विश्वास है, वह नटेगी नहीं, रोष भी नहीं करेगी। इनकार तो वह जानती ही नहीं है, वह तो देना ही जानती है। जाओ भैय्या—जल्दीसे जल्दी मेरा जीतव्य लेकर लौटो. . . ."

कहकर पवनंजय वृक्षके तनेके सहारे जा बैठे।

प्रहस्तने फिर घोड़ेपर छलांग भरी और नगरकी राह पकड़ी। सैनिकने पासके वृक्षोंके मूलमें दोनों घोड़े बांध दिये और स्वामीकी आज्ञामें आ बैठा।

नगर-तोरणके बाहरकी एक पांथ-शालामें जाकर प्रहस्त घोड़ेसे उतर पड़े। घुड़सालमें घोड़ा बांधकर, एक भृत्यके द्वारा पांथ-शालाके रक्षकको बुला भेजा। रक्षकके आनेपर, उसे एक ओर ले जाकर उन्होंने उसे कुछ स्वर्ण-मुद्राएं भेंट कीं और कहा कि वह साथ चलकर उन्हें राज-अंतःपुरके द्वारपालसे मिलादे। उन्होंने उससे यह भी कह दिया कि राज-मार्गसे न जाकर वे नगर-परकोटके रास्तेसे ही वहां तक पहुंचना चाहेंगे। रक्षकने यथादेश प्रहस्तको अंतःपुरके सिंह-तोरणपर पहुंचा दिया, और उनके निर्देशके अनुसार द्वार-पालको जाकर सूचित किया कि कोई विदेशी राज-दूत किसी गोपनीय कामको लेकर उनसे मिला चाहता है। द्वारपालने तुरंत प्रहस्तको बुला भेजा। यथेष्ट लोकाचारके उपरांत, प्रहस्तने एकांतमें चलकर कुछ गुप्त वार्ता-लाप करनेकी इच्छा प्रकट की। द्वारपाल पहिले तो संदिग्ध होकर, कुछ देर उनकी अवज्ञा करता रहा, पर प्रहस्तके व्यक्तित्वको देखकर उनका अनुरोध टालनेकी उसकी हिम्मत न हुई।—एकांतमें जाकर प्रहस्तने अपना मंतव्य प्रकट किया। बताया कि वे आदित्यपुरके राजा प्रह्लादके गुप्त-चर हैं, और महाराजका एक अत्यंत निजी और गुप्त संदेश वे युवराज्ञी अंजनाके लिये लाये हैं, वे स्वयं

ही उनसे मिलकर अपना संदेश निवेदन किया चाहते हैं, अतएव बड़ा अनुग्रह होगा यदि वे तुरंत उन्हें युवराज्ञीके पास पहुंचा सकें—। कहकर अपने गलेसे एक मुक्ताकी एकावली उतारकर उन्होंने भेंटस्वरूप द्वारपालके संमुख प्रस्तुत की।

द्वारपाल सुनकर सन्नाटेमें आ गया....। उसने अपने दोनों कान मींच लिये। एक गहरी भीति और आश्चर्यकी दृष्टिसे पहले वह सिरसे पैरतक प्रहस्तको देखता रहा। फिर शंकित और आतंकित दबे स्वरमें बोला—

"....विदेशी युवक, तुम मुझे धोखा नहीं दे सकते।—साफ़ है कि तुम झूठ बोल रहे हो; तुम आदित्यपुरके दूत कदापि नहीं हो सकते। मूर्ख, तुम्हें यह भी नहीं मालूम कि कलंकिनी अंजना श्वसुर-गृह और पितृ-गृह दोनों ही से तज दी गई है—! उस बातको भी कई महीने बीत गये। सावधान विदेशी, अपने प्राण प्यारे हों तो इस नगरकी सीमा छोड़कर इसी क्षण यहांसे चले जाओ। इस राज्यमें यह आज्ञा घोषित हो चुकी है कि कोई भी नागरिक यदि पुंश्चली अंजनाको शरण देगा या उसकी चर्चा करता पाया जायगा, तो उसे प्राण-दंडकी शिक्षा होगी।—चुपचाप यहांसे चले जाओ, फिर भूलकर भी किसीके सामने अंजनाका नाम न लेना...."

उल्टे पैर प्रहस्त लौट पड़े। उनका मस्तक चकरीकी तरह घूम रहा था। राहमें रक्षकके कंधेपर हाथ रख वे अंधाधुंध चल रहे थे। लगता था कि पैर शून्यमें पड़ रहे हैं। चेतना चुक जाना चाहती है। यह निष्ठुर वार्ता भी अपनी इसी जबानसे पवनंजयको जाकर सुनानी होगी—? हायरे दुर्दैव, पराकाष्ठा हो गई।—नहीं, इस शरीरमें अब यह भीषण कृत्य कर सकनेकी शक्ति नहीं रह गई है। यह संवाद लेकर पवनंजयके सामने जानेकी अपेक्षा, वे राहकी किसी वापीमें डूब मरना चाहेंगे। पर अगले ही क्षण लगा कि वे कायर हो रहे हैं। दुखसे भयभीत और कातर

होकर, इस प्राणांतक आघातके संमुख मित्रको अकेला छोड़कर भागनेका अपराध उनसे हो रहा है।

पांथशालामें पहुंचकर प्रहस्तने बिना विलंब किये अश्व कसा। अंजनाके संबंधमें और भी जो कुछ वे रक्षकसे जान सकते थे—वह जान लिया। फिर नियति-दूतकी तरह कठोर होकर घोड़ेपर सवार हो गये और नगर-सीमकी राह पकड़ी।

प्रहस्तको दूरपर आते देख, अधीर पवनंजय उठकर आगे बढ़ आये। मित्रका उदास और फक् चेहरा देखकर पवनंजयके हृदयमें खटका हुआ।—अपनी जगहपर ही वे ठिठक रहे।

घोड़ेसे उतरकर प्रहस्त दूरपर ही गड़ेसे खड़े रह गये। माथा छातीमें धँसा जा रहा है। वक्षपर दोनों हाथ बँधे हैं। और टप्-टप् आंसू टपककर भूमिपर पड़ रहे हैं।

व्यग्र और कंपित स्वरमें पवनंजयने पूछा—

"प्रहस्त.....यह....क्या....?"

और ओंठ खुले रह गये। सिर उठाकर भर्रा आते कंठको कठिनकर तीव्र स्वरमें प्रहस्त बोले—

"कहूंगा भाई....कहूंगा....हृदयोंको बींधनेके लिये ही विधाताने मुझे अपना दूत बनाकर धरतीपर भेजा है!....अपनी भाग्यलिपिका अंतिम संदेश सुनो, पवन।—त्यक्ता और कलंकिनी अंजनाके लिये पितृ-गृहका द्वार भी नहीं खुल सका। आजसे पांच महीने पहले एक संध्यामें वह यहां आई थीं। पिताने मुंह देखनेसे इनकार कर दिया। पितृ-द्वारसे ठुकराई जाकर वह जाने कहां चली गई है, सो कुछ ठीक नहीं है। पितासे छुपाकर, मांके अनुरोधसे उसके सारे भाई गुप्त रूपसे दूर-दूर जाकर उसे खोज आये, पर कहीं भी उसका पता न चला।—महेंद्रपुरके राज्यमें अंजनाका नाम लेनेपर प्राण-दंडकी आज्ञा घोषित कर दी गई है, पवन....!"

प्रलयकालके हिल्लोलित समुद्रके बीच अचल मंदराचलकी तरह स्तब्ध पवनंजय खड़े रह गये---! प्रहस्त आंखें उठाकर उन्हें देखनेका साहस न कर सके। जाने कितनी देर बाद एक दीर्घ निःश्वास सुनाई पड़ा। गंभीर वेदनाके स्वरमें पवनंजय बोले---

"सच ही कह रहे हो, सखे! ....मुझ पामरकी यह स्पर्धा---कि अपने इंगितपर मैं उसे पाना चाहता हूं?---उसे देवी कहकर अपनी चरण-दासी बनाये रखनेका मेरा वंचक अभिमान अभी गला नहीं है। अक्षम्य है मेरा अपराध, प्रहस्त,---उसे पानेकी बात दूर, मैं उसकी छाया छूनेके योग्य भी नहीं हूं। इसीसे वह चली गई है मर्त्यके इस माया-लोकसे दूर....बहुत दूर...."

कुछ देर चुप रहकर कुमार फिर बोले---

"....अच्छा प्रहस्त, जाओ---अब तुम्हें कष्ट नहीं दूंगा। जिस लोकमें सतीके सत्यको स्थान नहीं मिल सका, उसमें लौटकर अब मैं जी नहीं सकूंगा।---इन प्राणोंको धारण करनेवाली धरित्री जहां गई है, वहीं जाकर इन्हें अवस्थिति मिल सकेगी। उसे छोड़कर सारी सृष्टिमें पवनंजयका जीना कहीं भी संभव नहीं है।....जाओ भैय्या....मैं चला...."

कहकर पवनंजय लौट पड़े और सैनिकको अश्व प्रस्तुत करनेकी आज्ञा दी। झपटकर प्रहस्तने पवनंजयको बांहमें भर लिया और उनके कंधेपर माथा डाल बिलख-बिलखकर रोने लगे....

"..नहीं पवन....नहीं, यह नहीं होने दूंगा....। बचपन मत करो मेरे भैय्या....। उदयागत अशुभको झेलकर ही छुटकारा है। तीर्थंकरों और शलाका पुरुषोंको भी कर्मने नहीं छोड़ा है---तो हमारी क्या बिसात। भव-भवके प्रबल अंतरायने तुम्हें यह आजन्म विच्छेद दिया है।---भाग्यसे होड़ बदनेकी बाल-हठ तुम्हें नहीं शोभती, पवन....!"

"ओह, प्रहस्त---तुम्हीं बोल रहे हो---या लोककी मायाका प्रेत तुममेंसे बोल रहा है ? भाग्यसे पराजित होकर---उसके विधानको छातीपर धारणकर---उसकी दयाके अधीन मुझे जीनेको कह रहे हो,---प्रहस्त ? . . . . और तीर्थंकरों और शलाका पुरुषोंने क्या उस कर्मके चक्रको लात मारकर नहीं तोड़ दिया । क्या उन्होंने सिर झुका-कर उसे सह लिया ? दैवपर पुरुषार्थकी विजय-लीला दिखानेके लिये ही वे पुरुष-पुंगव इस धरतीपर अवतरित हुए थे । इसीसे आजतक मुक्ति-मार्गकी लीक अमिट बनी है । वही हमारी आत्माकी पल-पलकी पुकार है ।---उसे दबाकर अकर्मण्य होनेकी बात तुम कह रहे हो. . . . ?

"---मोह मत करो, प्रहस्त, कर सको तो मुझे प्यार करो, भैय्या । हँसते-हँसते मुझे जानेकी आज्ञा दो---और आशीर्वाद दो कि लक्ष्मीको पाकर ही मैं फिर तुम्हारे पास लौटूं । किसी प्रबलसे प्रबल बाधाके संमुख भी मैं हार न मानूं ।---मानवी पृथ्वीके अंतिम छोरोंतक मैं अंजनाको खोजूंगा---। यदि कुलाचल भी मेरे मार्गकी बाधा बनकर संमुख आयेंगे, तो उनका भी उच्छेद करूंगा ! ग्रह-नक्षत्रोंको भले ही अपनी चालें उलटनी पड़ें, पर पवनंजयका मार्ग नहीं रुंधेगा । एक नहीं, सौ जन्मोंमें सही, पर पवनंजयको उसे पाकर ही विराम है. . . . !

". . एक जन्मके भाग्य-बंधनको तोड़कर जो पुरुषार्थ अपनी प्रियाको नहीं पा सकता, निखिल कर्म-सत्ताको जीतकर वह मुक्ति-रमणी-के वरणकी बात कैसे कर सकता है---? यह मेरे अस्तित्वका अनुरोध है, प्रहस्त, इसे दबाकर तुम मुझे जिलानेकी सोच रहे हो. . . ?"

एक अनोखी आनंद-वेदना से विह्वल हो प्रहस्तने बार-बार पवनंजयका लिलार चूम लिया---और हारकर दूर खड़े हो गये । आंसू उनकी आंखोंसे उफनते ही आ रहे हैं; एकटक वे पवनंजयका उस क्षणका अपूर्व तेजस्वी रूप देख रहे थे---। रण-क्षेत्रमें शस्त्रार्पणके उपरांत जो

प्रखर तेज विजेता पवनंजयके मुखपर प्रकट हुआ था, वह भी इस मुखकी कोमल-करुण दीप्तिके संमुख प्रहस्तको फीका लगने लगा।

"अच्छा भैय्या, आज्ञा दो, चलूं---! पहली ही बार तुमसे अनिश्चित कालके लिये बिदा हो रहा हूं। बिदाके मुहूर्तमें दुर्बल मोह न दो, भैय्या, बलवान प्रेमका पाथेय दो"

कहकर पवनंजयने नीचे झुक प्रहस्तके पैरोंकी धूल लेकर माथेपर लगा ली। प्रहस्तने तुरंत झुककर दोनों हाथोंसे कुमार को उठा लिया। सिरपर हाथ रखकर वे इतना ही कह सके---

"जाओ पवन...प्रियाके आंचलमें मुक्ति स्वयं साकार होकर तुम्हें मिले..।"

××× आंसुओंमें डूबती आंखोंसे प्रहस्त और सैनिक देखते रह गये : दूरपर घोड़ेकी चापोंसे उड़ती धूलमें, पवनंजयके मुकुटकी चूड़ा ओझल होती दिखाई पड़ी..।

[३४]

अश्वारूढ़ पवनंजय, निर्मम और उद्दंड, एक ही उड़ानमें योजनों लांघ गये।---दूर-दूरतक नजर फेंकी---दिशि-दिशांतरमें कहीं कोई आकर्षण नहीं है, कहीं कोई परिचय या प्रीतिका भाव नहीं है। लोकमें सत्यकी ज्योति कहीं भी दिखाई नहीं पड़ रही है। सारे विश्वासोंके बंधन जैसे टूट गये हैं। एक गंभीर अश्रद्धा और विरक्तिसे सारा अंतस्तल विषण्ण हो गया है।---मानवकी इस पृथ्वी और आकाशकी अवहेलना-कर, आज वह क्षितिजकी नीली-सांकल तोड़ेगा....! वहीं मिलेगी, लोकसे परे, शून्य वात्यालोकमें, आलोककी अखंड लौ-सी दीपित वह प्रियतमा। एक नया ही विश्व लिये होगी वह अपनी उठी हुई हथेलीपर। उसी विश्वमें वह नव-जन्म पायेगा....। वहीं जाकर

छुपा है उसका सत्य। आस-पासकी जगतीसे सत्यकी सत्ता ही मानो निःशेष हो गई है। उसके जीवनको आश्रय देनेकी शक्ति ही मानो इस लोकमें नहीं है।—भीतरका संवेग और संवेदन और भी तीव्र हो गया। उद्धत और दुरंत होकर फिर घोड़ेको एड़ दी।—आत्महारा और लक्ष्यहीन तरुण फिर निर्जीव शून्यमें भटक चला। पुराने दिनोंकी निःसार कलना फिर हृदयको मथने लगी। गतिके इस नायक प्रवेगमें शरीरपर भी वश नहीं रहा।

..एकाएक कुमारके हाथसे वल्गा छूट गई। घोड़ा अपने आप धीमा पड़ चला। अनायास ही आस-पासकी धरतीपर दृष्टि पड़ी। श्रीहीन और करुण-मुखी पृथ्वी, विरह-विधुरासी लेटी है—आकाशके शय्या-प्रांतमें लीन होती हुई। वृक्षोंकी शाखाओंमें एक भी पल्लव नहीं है। पत-झरकी धूल उड़ाती हवामें पीले पत्ते उड़ रहे हैं। दिशाएं धूसर, और अवसादसे मलिन हैं। दूरकी एक शैला-रेखापर अंजन छाया घनी हो गई है। ऊपर उसके दूध-पीते शिशु-सा एक बादल-खंड पड़ा है। और उससे भी परे किसी तरुके शिखरपर, सांध्य-धूपकी एक किरण ठहरी है।

...पवनंजयके मनका सारा औद्धत्य और निर्ममता, क्षण मात्रमें पिघल चले। एक निगूढ़ आत्म-वेदनाकी करुणासे मन-प्राण आविल हो गया। सामने राहके किनारे जाता एक प्रवासी कृषक दिखाई पड़ा। कांधेपर उसके हल है, श्रांत और क्लांत, पसीनेमें लथ-पथ, धूलभरे पैरोंसे वह चला आ रहा है।—कुमार उसके पास जा विनतीके स्वरमें बोले—

"हलधरबंधु! बहुत थक गये हो। मुझ विदेशीका उपकार करो। लो यह घोड़ा लो—मेरा यह मुकुट लो—इसका भार अब मुझसे नहीं ढोया जाता। अपनी पगड़ी और अंगा मुझे दे दो भाई, तुम्हारा बहुत-बहुत कृतज्ञ हूंगा!"

हल-धर चौंका। समझ गया कि कोई राज-पुरुष है, पर क्या वह पागल हो गया है? विमूढ़ हो वह ताकता रह गया। क्या बोले, कुछ समझ न आया। सोचा कि शायद आज भाग जागा है। कुमारने उसके अंगा और पगड़ी उतारकर आप पहन लिये। अपने हाथसे उस कृषकको माथेपर मुकुट बांधा, और अपने बहुमूल्य वस्त्राभरण उसे पहना दिये। घोड़ेकी बल्गा उसके हाथमें थमा दी।

"उपकृत हुआ हल-धर बंधु---!"

कहकर उसके पैर छुए और बोले---

'अच्छा बिदा दो,---कष्ट दिया है, अपना ही अतिथि जान क्षमा कर देना"

कृषक अचरजसे आंखें फाड़ देखता रह गया। विदेशी राजपुरुष चल पड़ा अपनी राहपर, और मुड़कर उसने नहीं देखा..।

राज-मार्गपर पवनंजयको असंख्य चरण-चिह्न दीख पड़े।---अनंत काल बीत गये हैं, कोटि-कोटि मानव इस पथपर होकर गये हैं। उन पद-चिन्होंमें कुमारको प्रियाके चरणोंका आभास हुआ। निश्चय ही इसी राह होकर वह गई है....। झुककर वे एक-एक चरण-चिह्नका वंदन करने लगे, चूमने लगे, बलायें भरने लगे!

प्रियाके अन्वेषणमें वातुल और विक्षिप्त राज-पुत्र देश-देशांतर घूम चला। अकिंचन और सर्वहारा वह दिवा-रात्रि चल रहा है---अश्रांत और अविराम। नाना रूप और नाना वेष धरकर, वह देश-देशमें, ग्राम-ग्राम और नगर-नगरमें, हाटमें और बाटमें, नदियोंके घाटमें, प्रियाको खोजता फिरता है। कहीं तमाशा-गीर बनकर तमाशे दिखाता, कहीं माली बनकर नगरके चौराहोंमें भांति-भांतिके पुष्पाभरण बेचता। कभी रत्न अथवा कला-शिल्पकी वस्तुएं लेकर राज-अंतःपुरोंमें पहुंच जाता। रानियां, राज-बधुएं और राजकन्याएं, इस मनमोहन और आवारा कलाधरको देखकर भौंचक रह जातीं। उसकी कला-सामग्री यों ही फैली रह जातीं,

और वे रमणियां उसके देश और उसके घरका पता पूछने लगतीं; उसके बारेमें अनेक गोपन जिज्ञासाओंसे उनका मन भर आता। निरीह और अज्ञान कलाकार बड़ी ही बेबस और दीन हँसी हँस देता। निर्दोष और विचित्र पहेलियों-भरी आंखोंसे वह उनकी ओर देखता रह जाता। वह कहता कि घर..?—घर तो उसका कहीं नहीं है—जिस झाड़के नीचे, जिस मनुष्यके द्वारपर वह रात बिता देता है—वही उसका घर है। राहके संगी ही उसके आत्मीय हैं—वे मिलते हैं और बिछुड़ भी जाते हैं। धरती और आसमानके बीच सब कहीं उसका देश है—। कहांसे आया है और कहां जायगा, सो तो वह स्वयं भी नहीं जानता है—। महलोंके सुखमें बेसुध रहनेवाली बधुएं और कन्याएं, आत्माके चिरंतन विछोहसे भर आतीं। कलाकार उनकी सहानुभूति और ममता-मायाका बंदी बनाकर राज-चित्रशालामें बंद कर दिया जाता। उससे कहा जाता कि जब और जैसी उसके जीमें आये चित्र-सारी करे और वहीं रहे; अपनी मनचाही वस्तु वह मांग ले। नाना भोजन-व्यंजन और वसन-भूषण ले, एक-एककर वे चुपके-चुपके आतीं। उसका मन और उसकी चितवन अपनी ओर खींचनेकी जाने कितनी चेष्टाएं अनजानमें कर जातीं। उसका एक बोल सुननेको घंटों तरसती खड़ी रह जातीं। पर विचित्र है यह कलाधर—जाने कहां भूला है? सारी भोग-सामग्रियां विफल पड़ी रह जाती हैं। राजांगनाओंके सारे हाव-भाव, लीला-विभ्रम निरर्थक हो जाते हैं। वह तो आंख उठाकर भी नहीं देखता है। अन्य-मनस्क और भ्रमित-सा चित्रशालाके अलिंद-वातायनमें बैठा वह क्षितिज ताका करता है—। तो कभी-कभी वहांकी विशाल दीवारोंपरके बहुमूल्य चित्रोंपर सफ़ेदा पोतकर उनपर अपनी ही विचित्र सूझके धबीले चित्र बनाया करता है। इन चित्रोंमें न कोई तारतम्य है और न कोई सुनिश्चित आकृति ही है!—फिर भी एक ऐसा प्राणका प्रकाश उनके भीतर है कि प्रत्येक मनके संवेदनोंके अनुरूप परिणत होकर ये धब्बे, जाने कितनी कथाएं कहने

लगते हैं। उनमें पृथ्वी, आकाश, नदी, पहाड़, वृक्ष, पशु-पक्षी, मनुष्य सब कल्पनाके अनुसार अपने आप तैर आते हैं।

और एक दिन पाया जाता है कि चित्रशाला शून्य पड़ी है और कलाकार चला गया है! अपने साथ वह कुछ भी नहीं ले गया है—साथ लाई वस्तुएं भी नहीं—! द्वार-कक्षमें उसकी पादुकाएं भी वैसी ही पड़ी रह गई हैं—। दीवार के उन धवीले चित्रोंके प्रसारको जब अंतःपुरकी रमणियां ध्यानसे देखने लगीं, तो उस रंग-रेखाओंके विशाल आवरणमें, प्रकृतिकी विविध रूपमयताका घूंघट ओढ़े एक अनन्यतमा सुंदरीकी भाव-भंगिमा झलक जाती है—वे रमणियां दांतों तले उंगली दाब लेतीं। एक अचिंत्य वेदनासे उनका हृदय भर आता है। अपने-अपने कक्षके दर्पणके सामने जा अपना रूप निहारती हैं—और उस सौंदर्यकी झलक अपने भीतर पानेको तरस-तरस जाती हैं!

राह चलता प्रवासी ग्रामके किसी कृषक अथवा ग्वालेके यहां नौकरी कर लेता। दोपहरीमें गाय-भेड़ चराने किसी पहाड़की हरी-भरी तलहटीमें चला जाता। उन चौपायोंकी आंखोंमें आंखें डाल उनसे मन-मानी बातें करता। उनकी निरीह मूक दृष्टिकी भाषाको वह समझ लेता। गले और भुजाओंमें भर-भरकर उनसे दुलार करता, घंटों उनके लोमोंको सहलाया करता। कभी पहाड़की चोटीपर चला जाता और वहां किसी दुर्गम ऊंचाईपर वनस्पतियोंकी सुरभित छायामें बैठकर बंशी बजाता। उस तानके दर्दसे जड़-चेतन हिल उठते। आस-पासके जंगली युवक-युवतियां पहाड़के ढालमें इधर-उधरसे निकल आते, और अपनी जगहपर चित्र-लिखे-से रह जाते। प्रवासीको अपनी अध-मुंदी आंखोंसे सजल रोओंमें दीखता—अनेक विलक्षण जीव-जंतुओंकी सृष्टि उसके पैरोंके आस-पास घिर आई है; भालू हैं तो नील-गाय भी है, कहीं व्याघ्र है तो हिरन भी है, झाड़की डालमें मयूर आ बैठा है तो पैरों तलेकी बांबीसे भुजंगम भी निकल आया है। भयंकर और सुंदर, अबल और सबल सभी

तरहके जीव अभय और विमुग्ध होकर वहां मिल बैठे हैं। और वंशी बजाते-बजाते वह स्वयं जाने कब गहरी सुषुप्तिमें अचेत हो जाता। सांझ पड़े जब नींद खुलती तो चौपायोंको लेकर घर लौट आता। दो-चार दिन टिका न टिका और किसी आधी रात उठकर फिर प्रवासी आगे बढ़ जाता।

राहके ग्राम-नगरोंके बाहर पनघट, घाट और सरोवरके तीर बैठ वह जादू-गर बनकर चमत्कार दिखाता। देश-देशकी अद्भुत वार्ताएं सुनाता विचित्र और दुर्लभ वस्तुएं दिखाता। भान भूलकर पुर बधुएं और ग्राम-रमणियां आस-पास घिर आतीं। मोहित और चकित वे देखतीं रह जातीं। आकुल और वातुल नयनोंसे प्रवासी जादूगर सबको हेरता रह जाता। उनकी लीलायित आंखोंके संमोहनमें प्रियाकी छवि तैरकर खो जाती। उसकी आंखें आंसुओंसे भरकर दूरपर थमी रह जातीं। उसे दीन, आश्रयहीन और आत्मीयहीन जान, रमणियां मन ही मन व्यथित हो जातीं। जादूगर अपनी चीज-वस्तु समेट पोटली कंधेपर टांग, अपनी राह चल पड़ता। सहानुभूतिसे भरकर वे वधुएं अपने कंठ-हार और मुद्रिकाएं उसके सामने डालकर कहतीं—'जादूगर, हमारी भेंट नहीं लोगे?'। प्रवासी मौन और भाव-शून्य पीठ फेरकर अपने पथपर बढ़ता ही जाता। आभरण धूलमें मिलते पड़े रह जाते। स्त्रियां सजल नयन ताकती रह जातीं। जलका घट उठाकर घर लौटनेका जी आज उनका नहीं है। क्या करके वे इस प्रवासीको आश्रय दे सकती हैं?

....पर निर्मम प्रवासी उनके हृदय हरकर चला ही जाता। चलते-चलते संध्या हो जाती। मलिन और पीले आलोकमें नदीकी शीर्ण रेखा दिखाई पड़ती। उसके निर्जन तीरपर जाकर, वह नदीके जलमें अपनी छाया देखता। देश-देशकी धूप-छाया, सुख-दुख और मनोवार्ता लेकर यह नदी चली आ रही है।..जाने कब किस निस्तब्ध दुपहरीमें वन-तुलसीसे छाये इस घाटमें बैठकर उसकी प्रियाने जल पिया होगा; इस नदीकी

धारामें उतरकर वह नहाई होगी——। निविड़ संमोहनसे भरकर वह नदीकी धारामें डुबकी लगा जाता। उसके बहते हुए प्रवाह को अपने भीतर समा लेनेको वह मचलता रहता। रात-रात भर वह श्वास रोककर नदीकी धारामें पड़ा रहता और तारों भरे आकाशकी ओर ताका करता। सबेरेके फूटते आलोकमें पाता कि ऊपर फैली है, अंतहीन शून्यकी वही निश्चिह्न और अथक नीलिमा! और आस-पास स्वर्ण-परियों-सी चपल लहरें, हंसती बलखाती उसका मजाक करती हुई चली जा रही हैं——? फिर झुंझलाकर प्रवासी आगे चल पड़ता।

दिन-दिन कुमारका उन्माद संज्ञासे परे होता चला। हृदयकी गोपन-व्यथा अब छुपाये न छुप सकी। लोकालयके द्वार-द्वार घूमकर, एक स्वर्ग-च्युत देवकुमार-सा मलिनवेशी युवा, अंजना नामा राज-कुमारीकी दुःख-वार्ता सुनाने लगा। पूछता कि क्या उनके घर कभी वह आई थी? क्या ऐसे रूप और ऐसे वेशमें, उस दीर्घ-केशी प्रियाको उन्होंने कहीं देखा है?——क्या उसके कंधेपर कोई शिशु था? पूछते-पूछते वह विचित्र पंथी रो देता और भाग निकलता——। लोग उसके पीछे दौड़कर उसे पकड़ना चाहते, पर देखते-देखते वह दृष्टिसे ओझल हो जाता।—— पवनंजयकी दिगंत-जयिनी कीर्ति लोकमें सूर्यकी तरह प्रकाशित हो गई थी। आदित्यपुरकी कलंकिता और निर्वासिता राज-वधूकी करुणकथा भी घर-घरमें लोग आंसू भरकर कहते-सुनते थे। भेद खुलनेमें देर न लगती——। जन-जनके मुंहपर उड़ता हुआ, देश-देश और द्वीप-द्वीपमें, अंजनाकी खोजमें भटकते पवनंजयका वृत्त फैल गया——।

समयका भान भूलकर यों निर्लक्ष्य भ्रमण करते पवनंजयको महीनों बीत गये। उसे निश्चय हो गया कि मनुष्यकी जगतीमें अंजना कहीं नहीं है। वह उसका अज्ञान था और उसकी भूल थी कि उसी लोकालयमें वह उसे खोजता रहा, जहांके नीति-नियम और व्यवस्थामें अंजनाको कोई स्थान नहीं था।....नहीं....उसने नहीं स्वीकारा होगा अब इस

देहकी काराको——। जिस देहमें जन्म लेकर परित्यक्ता, कलंकिता और निर्वासिता होकर, सारे जगतका तिरस्कार ही उसे मिला है, अवश्य ही उस देहके सीमा-बंधनोंको तोड़कर अब वह चली गई होगी अपनी ही मुक्तिके पथपर।——उस अनाथा और निःसहाय गर्भिणीने निरंतर दुखके आघातोंसे जर्जर होकर, अवश्य ही किसी विजन एकांतमें प्राण त्याग दिये होंगे——।

. . . . वह निकल पड़ा निर्जन वन-खंडोंमें। कुलाचलोंके उच्छेद करनेकी बात उसे भूल गई है। ग्रह-नक्षत्रोंकी गतियां उलटनेका दावेदार वीर्य निर्वेद और निस्तरंग होकर सो गया है। विजयोद्धत होकर कई बार उसने इस पृथ्वीको गूंधा है, लांघा है, पार किया है। पर आज उसे जीतनेका भाव उसके मनमें नहीं है। पासमें शस्त्रास्त्र नहीं हैं, यान भी नहीं है और कोई वाहन भी नहीं है।——विद्याओंका बल, भुजाओंका बल और लोकका हृदय जीतनेवाली महामहिम गरिमा——सब कुछ विस्मरण हो गया है। सब कुछ धूल और मिट्टी होकर पैरोंमें पड़ा है——। नितांत पराभूत, असहाय, निरुपाय, एक निरीह और अनाथ बालक-सा वह भटक रहा है। अपना कहनेको कुछ भी नहीं है उसके पास। सारी कांक्षाएं-कामनाएं, कल्पनाएं, संकल्प-विकल्प——सब निःशेष हो गया है। मुक्ति और बंधनका विकल्प ही जब मनमें नहीं रहा है, तो मुक्ति-रमणीके वरणका क्या प्रश्न हो सकता है. . . . ?

निपट अज्ञानी और भाव शून्य होकर वह बन-बन फेरी दे रहा है।——वृक्ष-वृक्ष, डाल-डाल और पत्ती-पत्तीसे वह प्रियाकी बात पूछता फिरता है। पृथ्वीके विवरोंमें मुंह डालकर घंटों अपनी श्वाससे उसकी गंधको पीता रहता है। जड़-जंगम, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, दीमक, सबके अंतरतममें झांक रहा है। अनायास ही सबके अपनत्वका लाभ वह पा गया है। बाहरसे वह जितना ही विरही, विसंग और एकाकी है, भीतर उतना ही सर्व-गत और सर्व-संगत होता जा रहा है। जिस विह्वलतासे वह कली और किशलय-

को चूमता है, उसी ललकसे वह तीखे कांटों और नुकीले भाटोंको भी चूम लेता है। ओठोंसे रक्त झर रहा है, आंखोंसे आंसू बह रहे हैं। अंग-अंगके क्षतोंसे फूट रहे रक्तमें प्रियाके अरुण ओठोंके चुंबन सिहर उठते हैं। सुगम और दुर्गमकी कोई सतर्कता मनमें नहीं है। सारी अगमताओं और अवरुद्धताओंमें वह अनायास पार हो रहा है। वह तो मात्र एक सतत गतिमान प्राण भर रह गया है। पहाड़की ये तपती चट्टानें जितना ही कठिन अवरोध दे रही हैं, उतना ही अधिक तरल होकर वह उनके भीतर भिद जाना चाहता है। दिन-दिनभर उन तप्त पाषाणोंसे लिपटा वह पड़ा रहता है—कि इनमें अपनेको पिघलाकर इस समूचे भूधरके सारे जड़-जंगममें जीवन-रस बनकर वह फैल जायगा। इन पार्वतीय नदियोंके तटोंमें वह अपनेको गला देना चाहता है, कि इनके प्रवाहमें मिलकर मानवीय पृथ्वीके जाने किन दूर-दूरांत छोरोंमें वह चला जायगा—। तटवर्ती प्रदेशोंके जाने कितने गिरि-वन, पशु-पक्षी और लोकालयोंको वह जीवन-दान करेगा, उसके सुख-दुखों, प्यास-तृष्णाओंका परस पाकर, अपनी चिर दिनकी विरह-वेदनाको शांत करेगा!

कभी किंचित् संज्ञा जाग उठती है तो नाना आवेदनों और निवेदनोंमें वह प्रियाको पुकार उठता है—

"..रानी—मेरे अपराधका अंत नहीं है। पर अपनेको मैंने कब रक्खा है। उसी रात तुम्हारी शरणमें मैंने अपनेको हार दिया था। तुम्हारा भेजा ही युद्धपर गया था। तुमने कहा था कि धर्मकी पुकार आई है—जाना ही होगा। पर वहां देर हो गई; क्यों हो गई सो तुम्ही जानो। अब और न तरसाओ—अब और परीक्षा न लो। तुम्हारे बिना ये प्राण न मरते हैं, न जी पाते हैं। बहुत ही दीन, अकिंचिन और दयनीय हो गया हूं। क्या अब भी तुम्हें तरस नहीं आयेगा—? पर आह, तुम्हारी अथाह कोमलताका परस जो पा चुका

हूँ—कैसे विश्वास कर सकता हूँ कि तुम इतनी निर्दय हो सकती हो। अपने ही क्षुद्र स्वार्थी हृदयसे तुम्हें तौल रहा हूं; मेरी हीनताका तो अंत ही नहीं है। तेरे दुःखोंकी कल्पना भी नहीं कर पाता हूं। उनमें झांकनेकी बात सोचते ही भय और त्राससे सहम उठता हूं। पुरुषका युग-युगका पुरुषार्थ तेरे कष्टोंके संमुख फीका पड़ गया है। किस बुद्धिसे उसकी बात मैं सोच सकूंगा ? मेरा दुर्बल हृदय टूटकर रुद्ध हो जाता है; तेरी वेदना अनुभव कर सकने जितनी चेतना मुझमें नहीं है।—पुरुषमें वह कभी भी नहीं रही है। मुझे खींच लो रानी अपनी उसी स्नेहल गोदमें, जिसमें उस दिन शरण देकर मुझे प्राणदान दिया था.... नहीं, अब नहीं सहा जाता....तुम कहां हो.... बोलो....बोलो....तुम जहां हो वहींसे बोलो.....मुझे जरूर सुनाई पड़ेगा..."

दूर-दूरके गिरि-शृंगोंसे पुकारें लौट आतीं! और एक दिन अचानक उस प्रतिध्वनिमें उसने प्रियाकी पुकारका कंठ-स्वर पहचाना। मानो वह कह रही है—"मैं यहां हूं....मैं वहां हूं....मैं तुम्हारे चारों ओर हूं...अरे मैं कहां नहीं हूं....!"

सुनकर वह पर्वतके सबसे ऊंचे शृंगपर जा पहुंचा। आकाशमें आकुल भुजाएं पसारकर उसने चारों ओर दृष्टि डाली। हवाओंके झकोरोंमें वही ममता भरा आवाहन बार-बार गूंजता सुनाई पड़ने लगा। हृदय तोड़कर उसने रो उठना चाहा कि अपने रुदनमें वह आस-पासकी इस निःस्सीम प्रकृतिको, धरती और आकाशको बहा देगा....। पर आंख खोलते ही पाया कि सुनील अंतरिक्ष शिशु-सा सरल उसकी आंखोंमें मुस्करा रहा है—और हरीतिमाका विपुल स्नेहल आंचल पसारकर धरणी उसे बुला रही है।....पा गया....वह पा गया प्रियाको....। विदेह और उन्मुक्त दसों दिशाओंमें फैली है उसीके वात्सल्यकी अपार माया !—पहली ही बार समा सका

है इन चर्म चक्षुओंमें, प्रियाका वह सांगोपांग और अविकल दर्शन !

वह मचल पड़ा—वह दौड़ पड़ा। देह विस्मरणकर वह पर्वतके शृंगसे धरतीकी गोदमें आ पड़ा। टूटनेको आकुल देहके बंध छट-पटाने लगे। हाथ-पैर पसारकर सजल शाद्वल हरियालीसे भरी पृथ्वीसे वह लिपट गया। धरणीके वक्षसे वक्ष दाबकर भूमिसात् होनेके लिये उसका रोयां-रोयां आलोड़ित हो उठा। नहीं—अब वह अपनेको नहीं रख सकेगा।..इस मृण्मयीके कण-कण और अणु-अणुमें वह अपनेको बिखेर देगा। जन्म-जन्मकी पराजित वासना, चिर दिनकी विरह-वेदना एकाग्र होकर जाग उठी।

अंध और निर्बंध होकर प्रकृतिके विशाल वक्षमें वह अपनेको अहर्निश मिटाने लगा, गलाने लगा। उसकी समूची चेतना एक निराकुल परि-रंभणके अशेष सुखसे आविल है। बाहरसे जितना ही वह अपनेको मिटा रहा है, भीतर उसके अंग-अंगमें एक नवीन रक्तका संचार हो रहा है। एक नवीन जीवनके संसरणसे उसकी शिरा-शिरा आप्लावित हो उठी है। अपूर्व रसकी माधुरीसे उसका सारा प्राण ऊर्मिल और चंचल है। उसकी मुंदी आंखें नव-नवीन परिणमन और एक सर्वथा नवीन सृष्टिके सपनोंसे भर उठी है। मनके सूक्ष्मतम आवरण-विकारोंकी झिल्लियां तोड़कर, प्रकृति और अनादि जीवनके श्रोत फूट चले हैं !

....दिनपर दिन बीतते जाते हैं। उसकी सुषुप्ति गंभीरसे गंभीरतर हो रही है। बाहरसे बिल्कुल विजड़ित होकर वह मिट्टीके घने और विपुल आवरणोंमें सो गया है। ऊपरसे बन-जूही और कच-नारके फूल निरंतर उस माटीके स्तूपपर झरते रहते हैं। उसकी बाहर झांकती अलकोंमें सौरभसे मूर्छित सांप, बेसुध उलझे पड़े रहते हैं। देश-देशके मिट्टी, जल, बन, फल-फूलका गंध लेकर पवन आता है—

कानोंमें लोकके नाना सुख-दुख, विरह-मिलनकी वार्ता निरंतर सुनाया करता है।—यों दिनपर दिन बीतते चले जाते हैं—पर पवनंजयकी योग-निद्रा नहीं टूट रही है।

×××एक बासंती प्रभातके नये आलोकमें, एक चिर-परिचित स्पर्शसे सिहरकर उसने आंखें खोलीं....देखा : राशि-राशि फूलोंका अवगुंठन हटाकर प्रियाका वही मुस्कराता मुख सामने था—बोली—'जागो ना..रात बीत गई है....।' विस्मित और विमुग्ध, गतिहारा होकर वह देखता रह गया—चारों ओर नव-नवीन पुष्पों और फलोंसे आनत, नव-नवीन सुख-सुषमा और सौरभसे मंडित अनेक सृष्टियां खिल पड़ी हैं। अनावृत और अनाविल सौंदर्यका सहस्र-दल कमल फूटा है—और मुस्कराती हुई प्रिया उसका एक-एक दल खोल रही है!

आनंदसे आंखें मींचकर फिर पवनंजयने एक गहरी अंगड़ाई भरी और उठ बैठे। सिरसे पैरतक शरीर मिट्टी, तृण और बनस्पतियोंसे लथ-पथ है। आंखें मसलकर खोलनेपर पाया कि वे वास्तविक लोकमें हैं।—दिनोंकी गहन विस्मृतिका आवरण, हठात् आंखोंसे परे हट गया।—वही परिचित बन-खंड, वही वृक्ष और दूरपर वही गिरि-शृंग हैं जहांसे लुढ़ककर वह यहां आ पड़ा था। पर बनमें वासंतिका छिटकी है। दृष्टि उठाकर उसने अपने आस-पास देखा; चार-पांच मनुष्याकृतियां खड़ी हैं। बाहरके इस आलोकसे उसकी आंखें अभी चुंधियां रही हैं। उसे कुछ-कुछ परिचित चेहरोंका आभास हुआ, पर वह ठीक-ठीक पहचान नहीं पा रहा है। अपने इन चर्म चक्षुओंपर जैसे उसे विश्वास नहीं रहा है। इतने हीमें उसे लगा कि उसे पकड़कर कोई उठा रहा है—

"पवनंजय....!"

....परिचित कंठ! विद्युत्के एक झटकेके साथ पवनंजयको

स्पष्ट दीखा, सामने पिता खड़े हैं---। उनकी बगलमें खड़े हैं राजा महेंद्र और प्रहस्त। मानसरोवरके विवाहोत्सवके बाद राजा महेंद्रको आज ही देखा है, पर पहचाननेमें देर न लगी। दूरपर दो-एक परिचित राज-सेवक खड़े हैं। उधर एक ओर दो यान पड़े हैं। फिर मुड़कर अपने उठानेवालेकी ओर देखा। उस अपरिचित सौम्य चेहरेको वे ताकते रह गये, पर पहचान न सके।

प्रतिसूर्य हंसकर स्वयं ही अश्रु-गद्गद कंठसे बोले---

"....चौंको नहीं बेटा, सचमुच तुम मुझे नहीं जानते।---मैं हूं अंजनीका मामा प्रतिसूर्य, हनुरूहद्वीपका राजा। अंजना और तुम्हारा आयुष्मान पुत्र मेरे घर सकुशल हैं! जबसे तुम्हारे गृह-त्यागका वृत्त सुना है, अंजनाने अन्न-जल त्याग दिया है। संज्ञा-हीन और विकल होकर दिन-रात वह तुम्हारे नामकी रट लगाये है। तुरंत चलो बेटा, एक क्षण भी देर हो गई तो वह जन्म-दुखियारी तुम्हारा मुंह देखे बिना ही प्राण त्याग देगी....।"

पवनंजयने सुना, और सुनकर भी मानो विश्वास न कर सके। चौकन्ने और अभिभूतसे वे खड़े रह गये। अंग-अंग उनका कांप रहा है---दूरसे आती हुई यह कैसी ध्वनि सुनाई पड़ रही है। ओंठ खुले रह गये हैं, और पागलकी नाईं जड़ित पुतलियोंसे वे प्रतिसूर्यकी ओर ताक रहे हैं। वृद्ध प्रतिसूर्यके चेहरेपर चौंसठ-धारा आंसू बह रहे हैं।

एकाएक पवनंजय चिल्ला उठे---

"अंजना....? अंजना....? अंजना मिल गई....सचमुच वह जीवित है इस लोकमें....? वह मुझ पापीके लिये रो रही है.... प्राण दे रही है---आह....!"

विह्वल हो पवनंजय, प्रतिसूर्यके गले लिपट, फूट-फूटकर रोने लगे।

"रोओ नहीं बेटा, दीर्घ कष्ट और दुखकी रात बीत गई है। आज ही सुखका मंगल-प्रात आया है तुम्हारे जीवनमें। चलो, अब एक क्षणकी

भी देर उचित नहीं है। चलकर अपनी बिछुड़ी प्रिया और अपने अनाथ पुत्रको सनाथ करो. . . . ।"

थोड़ी ही देरमें पवनजय कुछ स्वस्थ हो चले। सब आत्मीय-जन मिलकर उन्हें पासके एक सरोवरपर ले गये। प्रहस्तने अपने हाथों कुमारको स्नान कराया, हल्के और सुगंधित नवीन वस्त्राभरण धारण कराये।

चलनेको जब प्रस्तुत हुए, तो फिर एक बार कुछ दूरपर लज्जित और नमित खड़े, पिता और श्वसुरकी ओर पवनंजयकी दृष्टि पड़ी। कुमारको अनुभव हुआ कि अपनी ही आत्म-लांछना और आत्म-तिरस्कारसे वे मर मिटे हैं।––तभी दोनों राजपुरुषोंने आकर पवनंजयके पैर पकड़ लिये। मूक पत्थरसे वे आ पड़े हैं––शब्दातीत है उनका आत्म-परिताप। केवल उनके हृदयोंकी धड़कन ही जैसे कुमारको सुनाई पड़ी। पवनंजय चुपसे नीचे बैठ गये, धीरेसे पैर समेट दूर सरक गये और व्यथित कंठसे बोले––

"पितृजनों, समझ रहा हूं तुम्हारी वेदना। पर, क्या भूल नहीं सकोगे, उस बीती बातको. . . .? मैंने तुम्हें बहुत कष्ट दिये हैं, मैं तो सबके कष्टका कारण ही रहा हूं। पर मैं तुम्हारा पुत्र हूं––बहुत ही दीन, अबल और अकिंचित्कर हो गया हूं. . . .। क्या तुम भी पुत्र रूपमें मुझे लौटा नहीं सकोगे. . . .?"

दोनों राजाओंने हिये भरकर कुमारको आलिंगन किया और उनकी लिलार सूंघ ली।

शीघ्र ही यान प्रस्तुत किये गये। एक विमानमें राजा प्रतिसूर्य प्रहस्त और पवनंजय बैठे। दूसरेमें राजा प्रह्लाद, राजा महेंद्र और अन्य अनुचर लोग बैठे। थोड़ी ही देरमें मांगलिक घंटा-रव और शंखध्वनिके साथ दोनों यान उड़ चले, हनुरूहद्वीपकी ओर।

जब यान अपनी अंतिम ऊंचाईपर जाकर स्थिर गतिसे चलने लगा,

तब प्रतिसूर्य, प्रहस्तकी गोदमें सिर रखकर सुखासीन बैठे पवनंजयके पास सरक आये। उनके गलेमें बड़े ही स्नेहसे दोनों हाथ डाल दिये और गद्-गद कंठसे बोले—

"बधाई लो बेटा, कामकुमार और तद्भव मोक्षगामी पुत्रके तुम पिता हो! उसके जन्मके बहुत दिनों पहले ही वन-वासकालमें मुनिने दर्शन देकर अंजनाको यह भवितव्य प्रकट किया था। और ठीक जिस दिन अरण्यकी गुफ़ामें अंजनाके पुत्र जन्मा और मैं उसे लेकर हनुरूहद्वीप आया, उसी दिन तुम्हारी लोक-विश्रुत धर्म-विजयका संवाद सुना....। उस घड़ीकी अंजनाकी आनंद-वेदना इन्हीं आंखों देखी है, पर शब्दोंमें कह नहीं सकूंगा....!"

वृद्ध चुप हो गये और पवनंजयके मुखकी ओर क्षणैक देखते रह गये। सुनते-सुनते कुमारकी आंखें मुंद गई थीं और पक्ष्म आंसुओंसे पुलकित थे। भीतर एक गंभीर परिपूर्णताके उत्समें विश्वके सारे आह्लाद और विषादकी धाराएं एक होकर बह चली हैं।....सुखमें, दुखमें, संयोग और वियोगमें वही एक अनाहत आनंदकी बांसुरी बज रही है....!

तब संक्षिप्तमें प्रतिसूर्यने अंजनाके वनवास और उसके दीर्घ कष्टोंकी कथा भी हँसते-हँसते सुनाई। उसके बाद पार्वत्यवनपर अपने विमान अटकनेका योगायोग, और नीचे जाकर अंजनाके अनायास मिलन और पुत्र-जन्मका वृत्त कहा। उन्होंने यह भी सुनाया कि कैसे अंजनाके उस नवजात शिशुकी कांतिसे गुफ़ा प्रकाशित हो गई थी। यह भी बताया कि कैसे आकाशमार्गमें, यानसे बालक अंजनाके हाथसे छूटकर, पर्वत-शिलापर जा गिरा और शिला खंड-खंड हो गई—पर बालकको कोई आंच नहीं आई; वह वैसा ही मुस्कराता हुआ खेलता रहा।—उस क्षण उस बालकके वज्र-वृषभ-नाराचसंहननका अनायास प्रमाण मिला और तभी वसंत-मालाने मुनिकी भविष्य-वाणीका प्रसंग कह सुनाया,....।

....सुनकर पवनंजयको लगा कि मानो अपने आगामी जन्मके

किसी अपूर्व विश्वमें पहुंच गये हैं, जहांका परिचय सर्वथा नया है। विगत सब कुछ मानो विस्मरण हो गया है।

कुछ देर प्रतिसूर्य फिर चुप हो रहे।--जब पवनंजयने उन्मुख होकर फिर जिज्ञासाकी दृष्टिसे उनकी ओर देखा, तो प्रतिसूर्यने फिर अपने वृत्तांतका सूत्र पकड़ा। संक्षेपमें, पवनंजयकी खोजमें अपने भ्रमणका वृत्त भी उन्होंने कह सुनाया। बोले कि जबसे पवनंजयकी विजयका संवाद उन्होंने सुना था, तभीसे वे इस प्रतीक्षामें थे, कि कुमारके घर लौटने-की खबर पाते ही, तुरंत वे अंजनाका कुशल-संदेश लेकर आदित्यपुर जायंगे। पर दुर्दैवकी नाटच-लीलाका अंतिम दृश्य रह गया था, वह भी तो पूरा होकर ही रहना था। पवनंजयके गृहागमनका संवाद और अंजनाको घर न पाकर उसी रात उनके गृह-त्यागका संवाद साथ-साथ ही हनुरूहद्वीप पहुंचे। प्रतिसूर्यने पवनंजयके लौटनेके पहले ही आदित्यपुर जाकर उनकी प्रतीक्षा करनी चाही थी, पर अंजनाने उन्हें नहीं आने दिया! यह भी दैवका विधान ही तो था....! सोचमें पड़ गये कि कहां जायें और कैसे पवनंजयको खोजें....? तब उन्होंने अंजनाकी एक न सुनी। उसके उस समयके दारुण दुःखमें उसे छोड़, वज्र-का हृदय कर, पहले वे महेंद्रपुर गये और वहांसे फिर आदित्यपुर गये। क्रम-क्रमसे दोनों संतप्त राजकुलोंको जाकर अंजनाकी कुशल और पुत्र-जन्मका संवाद सुनाकर ढाढ़स बंधाया। फिर राजा महेंद्र, राजा प्रह्लाद, मित्र प्रहस्त आदिको लेकर वे पवनंजयकी खोजमें निकल पड़े। दूर-दूरतक पृथ्वीके अनेक देश-देशांतर, द्वीप-द्वीपांतर, विकट वन-पहाड़ोंमें वे पवनंजयको खोज आये पर कहीं कोई पता न चला। सुयोगकी बात कि अपने उसी भ्रमणमें हताश और संतप्त, आज वे इस भूतरुवर नामके वनमें विश्राम लेने उतरे थे।--चलते-चलते राहमें अचानक एक मिट्टीके स्तूपको हिलते हुए देखा....। पहले तो बड़े कौतूहलसे देखते रह गये। पर जब दीखा कि कोई मनुष्य इस मिट्टीके

ढेरमें गड़ गया है और अब निकलनेकी चेष्टा कर रहा है, तभी प्रतिसूर्यने जाकर ऊपरकी मिट्टी हटाई और पकड़कर उस मनुष्यको उठाने लगे।—एकाएक उस व्यक्तिका चेहरा दिखाई पड़ा, जो इतने दिनों मिट्टीमें दबे रहनेपर भी वैसा ही स्निग्ध और कांतिमान था; राजा प्रह्लाद देखते ही पहचान गये—चिल्ला उठे—'पवनंजय....!'

....सुनते-सुनते पवनंजयको ध्यान आया कि तभी शायद पिताका परिचित कंठ-स्वर सुनकर वे चौंक उठे थे....?

× × × समुद्र-पवनका स्पर्श पाकर, कुमारने यानकी खिड़कीसे झांका। राजा प्रतिसूर्यने उंगलीके इशारेसे बताया—समुद्रकी अपार नीलिमाके बीच उजले शंख-सा पड़ा है वह हनूरुहद्वीप। उसके आस-पास व्यवसायी जहाजोंके मस्तूल और नावोंके पाल उड़ते दीख पड़ रहे हैं। तटवर्ती हरीभरी पहाड़ीमें धीवरों और मल्लाहोंके ग्राम दीख रहे हैं, और उड़ते हुए जल-पंछी द्वीपके भवन-शिखरोंपरसे पार हो रहे हैं....

[३५]

हनुरुह-द्वीपमें—

राज-प्रासादके सर्वोच्च खंडकी छतपर अंजनाका कक्ष—। सामुद्रिक हवाके झकोरे उस प्रवाल-निर्मित, मत्स्याकार कक्षके बिल्लौरी गवाक्षों-पर खेल रहे थे। दक्षिणकी खिड़कीसे तिरछी होकर सांझकी केशरिया धूप कमरेके सीप-जटित फ़र्शपर पड़ रही थी। चारों ओर समुद्रका तट-देश उत्सवके कोमल और मधुर-मंद वाद्योंसे मुखरित हो उठा था।

प्रतिहारी कक्षके द्वारतक पवनंजयको पहुंचाकर चली गई। कुमारने एकाएक परदा हटाकर कमरेमें प्रवेश किया।—कुछ दूर बढ़ आये। गति अनायास है—और मन निर्विकल्प। सामने दृष्टि उठी : अंजनाके वक्षपर उन्होंने देखा—वह शिशु कामदेव—! पुत्रके शरीरसे सहज

स्फुरित कांतिमें, दीपित था प्रियाका वही सरल, सस्मित मुख-मंडल ।

स्तब्ध, चित्र-लिखितसे पवनंजय शिशुको देखते रह गये---उनकी सारी कामनाओंका मोक्ष-फल ?---उनके चिर दिनके सपनोंका सत्य ?

एक अलौकिक आनंदकी मुस्कराहटसे कुमारने सामने खड़ी प्रियाका अभिषेक किया । उसके प्रति नीरव-नीरव उनकी आत्मामें गूंज उठा---

'ओ मेरी मुक्तिके द्वार, मेरे वंदन स्वीकार करो ! मैं तो केवल कल्पनाओंसे ही खेलता रहा । पर तुमने मेरी कामनाओंको अपनी आत्म-वेदनामें गलाकर वह सर्व-जयी पुरुषार्थ ढाला है, जो उस मुक्तिका वरण करेगा, जिसका मैं सपना भर देख सका हूं---!'

पवनंजय आंखें नीची किये खड़े थे, जय और पराजयकी संधि-रेखापर ।

"इसे स्वीकार न करोगे....?"

प्रियाका वही वत्सल, करुण कंठ-स्वर है । पवनंजय आंखें न उठा सके । पुरुषत्वके चरम अपराधके प्रतीकसे वे सिर झुकाये खड़े थे । फिर दूसरी भूल उनसे हो गई है । बार-बार वे प्रमत्त हो उठते हैं । उन्हें अपने ऊपर विश्वास नहीं रहा है । पर अनजाने ही कुमारने हाथ फैला दिये थे । उन फैले हाथोंपर धीमेसे अंजनाने शिशुको रख दिया ।

अगले ही क्षण कुमार अनिर्वचनीय सुखसे पुलकित और चंचल हो उठे । अपनी छातीके पास लगे शिशुको देखा : आंखके आंसू थम न सके ।---यह सौंदर्य---यह तेज !---अनिवार है यह; मानो छातीमें सरसराता हुआ, अस्पर्श रूपसे पार हो जायगा ।....हां, यही है वह, यही है वह, जिसकी खोज उनके प्राणकी अनादि जिज्ञासा थी....! सुख इतना अपार हो उठा कि उसे अपना कहकर ही संतोष नहीं है !

हवा और पानी-सा सहज चंचल और गतिमय शिशु बाहोंपर ठहर नहीं पा रहा है । अनायास झुककर पवनंजयने उसकी लिलार चूम ली ।

मुंदी आंखोंकी बरौनियोंसे धीरे-धीरे उसके मुखको सहलाने लगे।—मन ही मन कहा—

'....जाओ मेरे दुर्धर्ष ममत्व—मेरे मान ! उस वक्षपर—उसी गोदमें—जिसने लोक-मोहन कामदेवका रूप देकर तुम्हें जन्म दिया है;—जाओ उसीके पास, वही तुम्हें निखिलेश भी बनायेगी....!'

प्रकटमें हाथ बढ़ाते हुए बोले—

"लो अंजन, इसे झेलनेकी सामर्थ्य मुझमें नहीं है !....चुप क्यों खड़ी रह गई—देखोगी नहीं....? हां....हां....समझ रहा हूं—मेरी अंतिम हारका आत्म-निवेदन मेरे ही मुंहसे सुना चाहती हो—! अच्छी बात है, तो लो, सुनो: मेरी भुजाओंमें वह बल नहीं है जो इसे थाम सके, मेरे वक्षमें वह सहारा नहीं है जो इसे रोककर रख सके !—वह तो तुम्हारे ही पास है !....लो, अंजन"

कहकर पवनंजयने बालकको अंजनाकी ओर फैला दिया। एक अभूतपूर्व मुग्ध लज्जासे अंजना विभोर हो गई। नीची ही दृष्टि किये उसने बालकको अपनी बाहोंपर झेल लिया और उसी क्षण पवनंजयके चरणोंमें रख दिया।

जाने कब एक समयातीत मुहूर्तमें अंजना और पवनंजय, अशेष आलिंगनमें बंध गये।

....प्रकृति पुरुषमें लीन हो गई, पुरुष नवीन प्रकृतिमें व्यक्त हो उठा !

झरोखोंकी जालियोंमें दीख रहा है: आकाशके तटोंको तोड़ती हुई समुद्रकी अनंत लहरें, लहराती ही जा रही हैं....लहराती ही जा रही हैं, अकूल और अछोर....जाने किस ओर....जाने किस ओर....?